"योग एक अध्ययन-पातंजल योगसूत्र और विज्ञान भैरव के आधार पर"

(A STUDY OF YOGA ON THE BASIS OF PATANJALA YOGA SUTRA AND VIJNANA BHAIRAVA)



जम्मू विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग की

पी-एच० डी० उपाधि के लिए प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

निर्देशक :

डॉ० जागीर सिंह

प्राध्यापक

स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग

जम्मू विश्वविद्यालय

जम्मू-तवी।

शोधकर्त्ता

रमण कुमार शर्मा

स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग

जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू।

1999

4th

Forwarded to C.E

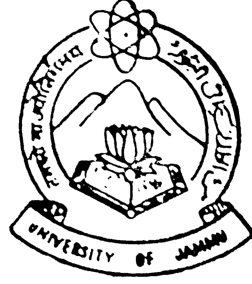
[signature]

Head
Post Graduate Department of Sanskrit
Jammu University

1/7/99

"योग एक अध्ययन-पातंजल योगसूत्र और विज्ञान भैरव के आधार पर"

(A STUDY OF YOGA ON THE BASIS OF PATANJALA YOGA SUTRA AND VIJNANA BHAIRAVA)



जम्मू विश्वविद्यालय के स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग की

पी-एच० डी० उपाधि के लिए प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

निर्देशक :

डॉ० जागीर सिंह

प्राध्यापक

स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग

जम्मू विश्वविद्यालय

जम्मू-तवी।

शोधकर्त्ता :

रमण कुमार शर्मा

स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग

जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू।

1999

CERTIFICATE

Certified that Raman Kumar Sharma, who was registered for the degree of Ph.D. in Sanskrit has completed his research work under my supervision. The exact title of his thesis is :-

'A STUDY OF YOGA ON THE BASIS OF PATANJALA YOGA SUTRA AND VIJNANA BHAIRAVA'

He has fulfilled all the statutory requirements for the submission of thesis for evaluation.

It is further certified that -

) the thesis embodies the work of the candidate himself ;

) the candidate worked under me for the period required under statutes ;

the candidate has put in required attendance and attended seminars in the Department during this period ; and

the conduct of the scholar remained quite satisfactory during the period of his research.

Jagir Singh

(Dr.Jagir Singh)
Supervisor,
Sr.Lecturer,
Department of Sanskrit,
University of Jammu,
JAMMU - 180 006

Dated: June 30, 1999.

धन्यवाद:

सकल विघ्नापहर्तारं दातारं सर्वसम्पदाम् ।
नमामि गणपतिं देवं गौरी पुत्र गजाननम् ।।

वागर्थाविवसम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये
जगत: पितरौ बन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ । - रघुवंश 1/1/2

सर्वप्रथम भगवान गौरी पुत्र गणाधिपति श्री गणेश जी वन्दना करता हूं जिनकी कृपा से आज यह कार्य निर्विघ्नतापूर्वक लिपिबद्ध हुआ है इसके पश्चात् जगत के माता-पिता पार्वती एवं महेश्वर जी को प्रणाम है और उन्हीं के समान जनक जननी (अपने माता-पिता) जी को भी नमस्कार है जिनकी कृपा से आज यह आत्मा तत्व देह धारण किये हुये । इन सबके पश्चात् आदरणीय श्रद्धेय प्रात:स्मरणीय पं० मूलराज जी शास्त्री, धौंथली बाजार वाले एवं स्वर्गीय वेदज्ञ पं० विश्वम्बर दत्त शास्त्री जी का भी आभारी हूं जिनके द्वारा दिया ज्ञान निशुल्क ज्ञान आज इस कार्य के सम्पादन में प्रयुक्त हुआ । जबकि अपने इष्ट का तो धन्यवाद तो है ही जिनकी (भगवान शालीग्राम एवं भगवति शेर वाहिनी दुर्गा की एवं कुलदेवताओं) की अपार कृपा से इस मृत बुद्धि में पुन: प्रकाश वापिस लौटकर आया और अन्नतत किञ्चिद् मात्र ज्ञान को भी प्रकाशित कर रहा है । यदि आज मैं अपने चाचाओं का धन्यवाद नहीं करता हूं तो महान कृतघ्नता होगी जिनके आश्रय को पाकर जम्मू में विश्वविद्यालय तक पहुंचकर पी०एच०डी० की उपाधि हेतु आज कार्य सम्पन्न करने जा रहा हूं । इनके साथ स्वर्गीय दादा हरिश्चन्द्र के वंश का एवं दादा पं० हरिशरण एवं उनके परिवार का भी आभारी हूं एवं रहूंगा ।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

अपने निर्देशक डॉ० जागीर सिंह जी का तो आभारी हूं ही जबकि विभागस्थ विद्यार्थियों एवं विद्वानों का भी धन्यवादी जिन्होंने सदा आगे बढ़ने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई । इनमें डॉ० महेश शर्मा, डॉ० पुरूषोत्तम शर्मा, डॉ० केदारनाथ जी एवं डॉ० रमणीका जल्लाली, डॉ० शारदा गुप्ता इत्यादि एवं शेष कार्यालयस्थ विनोद खजूरिया एवं मेडम ।

विभागीय पुस्तकालयाध्यक्ष श्री विजय बड़याल जी एवं उन्हीं के सहायक श्री भरत जी को कभी भी नहीं भुला सकता हूं इन दोनों का भरपूर सहयोग मिला है । श्री रघुनाथ मन्दिर पुस्तकालयध्यक्ष डॉ० धनीराम जी तथा श्री जीवन शर्मा, पुस्तकालयाध्यक्ष, स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय भी धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने समय-समय पर जरूरत की पुस्तकें देकर मेरा कार्य सुचारू रूप से चलाने में सहायता दी ।

इस शोध प्रबन्ध के लेखन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले लिपिक श्री रमेश गुप्ता जी का हृदय से आभारी हूं जिन्होंने अपने सम्पूर्ण कार्यों का त्याग कर इसे लिखने में अहम् भूमिका निभाई है ।

इन सबके अतिरिक्त समाज के विभिन्न वर्गों एवं समुदायों का धन्यवादी हूं जिन्होंने सदा उत्साह बनाये रखने में अहं भूमिका निभाई इनमें मुख्य – स्वर्गीय श्री कृष्ण शर्मा, अमृतसार निवासी (कूटा वाले) कठुआ के सेठ गणपति एवं उनके परिवार का भी आभारी हूं जबकि पुरानी मण्डी के महन्त श्री श्री 1008 सीता राम जी एवं अमृतसर के ही शुभ चिन्तक सपत्नी श्री हर्ष जी का धन्यवादी हूं ।

अपने सहपाठियों में श्री हेमन्त मिश्र का भी आभारी हूं । जबकि इन सबके साथ ही साथ अन्त में अपने गांव वासियों का एवं उनमें भी मास्टर प्रकाश चन्द्र शर्मा एवं उनके ज्येष्ठ पुत्र हिम्मत तथा उन्हीं के मित्र शादी लाल शर्मा एवं गोपनीय व्यक्ति श्री हिम्मत उन्हीं के विभागस्थ तिलक एवं मौसेरे भाई एवं सम्पूर्ण ननिहाल समुदाय वर्ग विशेष का भी धन्यवादी हूं । इन्हीं के साथ ही साथ कुछ वैद्य चिकित्सक से जुड़े हुये लोगों का भी धन्यवादी हूं जिनमें डा० सरदार तीर्थ सिंह , डॉ० सरदार जतिन्द्र सिंह तथा हीरानगर निवासी पैरामैडिकल विभागस्थ डा० साहिब का बहुत-बहुत धन्यवादी हूं । इन सबके अतिरिक्त सम्पूर्ण विश्व समुदाय एवं सकल जड़ चेतन वर्ग का धन्यवाद है एवं इन सबको मेरा कोटि - कोटि नमस्कार है एवं विशेष प्रारब्ध को भी नमस्कार करता हूं जिसने मार्ग में व्याप्त कठिन बाधाओं से निवृत्त किया एवं कार्य में सहायता प्रदान की । इस प्रकार से इन्हीं सब बन्धु बान्धवों की कृपा से यह कार्य सम्पादित होने जा रहा है । सबके लिए प्रार्थना है कि हे प्रभु सबको सुखी रखना ।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् ।।

।। हरि ॐ तत् सत् ब्रह्म ब्रह्मार्पणमस्तु ।।

भवदीय

(रमण कुमार शर्मा)

xxxxx

xxxxx

xxxxx

संकेत - सूची

अ०को०पृ०	–	अमर कोषः:, पृष्ठ
अ०स्मृ०श्लो०	–	अत्रि स्मृति, श्लोक
आ०स्म०अ०श्लो०	–	आपस्तम्ब स्मृति, अध्याय, श्लोक
अभि०शा० 7/22	–	अभिज्ञानशाकुन्तल, अध्याय, श्लोक
ई०प्र०का०	–	ईश्वर प्रत्यभिज्ञा कारिका
ई०प्र०वि०वि०	–	ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विवृत्ति विमर्शिनी
ई०वा०उ०मं०	–	ईशावास्योपनिषद्, अध्याय, मन्त्र
ऋ०मं०सू०मं०	–	ऋग्वेद, मण्डल, सूक्त, मन्त्र
क०च०	–	कण्ठ चरितम्
का०शै०	–	काश्मीर शैविज्म्
कि० 10/22	–	किरातार्जुनीयम्, अध्याय/श्लोक
कु०	–	कुमार सम्भव महाकाव्य सर्ग/श्लोक
कू०पु०उ०वि०अ०श्लो०	–	कूर्म पुराण उपरिविभागे, अध्याय, श्लोक
के०उ०खं०का०	–	केनोपनिषद्, खण्ड, कारिका
क०उ०अ०व०	–	कठोपनिषद्, अध्याय, वल्ली मन्त्र
कौ०अ०शा०प्र०पृ०	–	कौटिल्य अर्थशास्त्र प्रकरण पृष्ठ
ग०पु०	–	गरुड़ पुराण
गी०अ०श्लो०	–	गीता, अध्याय, श्लोक
च०सं०	–	चरक संहिता
च०सं०स्था०अ०	–	चरक संहिता, स्थान, अध्याय

छा०उ०	–	छान्दोग्योपनिषद्
[illegible]	–	[illegible] साहित्य
[illegible]	–	[illegible] अनुवाद
[illegible]	–	[illegible]
[illegible]	–	[illegible] भगवद्गीता, अध्याय, श्लोक
[illegible]	–	[illegible] निरुक्त, पृष्ठ
प्र० [illegible] पृ०	–	[illegible] हृदयं , पृष्ठ
प्र०	–	प्रस्तुत [illegible]
प्र०उ०प्र०उ०	–	प्रश्नोपनिषद्, प्रश्न, उत्तर
पा०यो०सू०पा०सू०	–	पातञ्जल योग सूत्र, पाद, सूत्र
पा०यो०सू०भो०वृ०	–	पातञ्जल योग सूत्र भोज वृत्तिः ।।
वा०रा०का०स०श्लो०	–	वाल्मीकि रामायण, काण्ड, सर्ग, श्लोक
बौ०स्मृ०अ० श्लो०	–	बौधायन स्मृति, अध्याय, श्लोक
भा०द०ब०उ०	–	भारतीय दर्शन – बलदेव उपाध्याय
ब्र०सू० 3/3/18	–	ब्रह्म सूत्र: तृतीय पाद, तृतीय अध्याय, सूत्र–18
[illegible]	–	[illegible] पाणिनीयाष्टाध्यायी
म०भा० 3/2/11	–	महाभाष्य तृतीय पाद, द्वितीय अध्याय, सूत्र –11
श्री०म०भा०म०पु०	–	श्री मद् भागवत महापुराण
[illegible]	–	[illegible]
ना०शा०	–	नाट्य शास्त्र

मु०उ०मु०मं०	–	मुण्डकोपनिषद् मुण्डक मन्त्र
मै०उ०	–	मैत्रेय उपनिषद्
मनु०	–	मनुस्मृति
या०स्मृ०अ०श्लो०	–	याज्ञवल्क्य स्मृति, अध्याय, श्लोक
यो०व०	–	योग वशिष्ठ
रघु०	–	रघुवंश महाकाव्य
रु०अ०अ०मं०	–	रुद्राष्टाध्यायी, अध्याय मन्त्र
ल०सि०कौ०अ०पु०सू०	–	लघु सिद्धान्त कौमुदीम्, अजन्त, पुल्लिंग, सूत्र
लि०पु०	–	लिंग पुराण
व्या०भा०	–	व्यास भाष्य
बृ०उ०	–	बृहदारण्यकोपनिषद्
बृ०पा०हो०शा०पृ०	–	बृहत्पाराशर होरा शास्त्र, पृष्ठ
वा०पु०अ०श्लो०	–	वायुपुराण,. अध्याय, श्लोक
वि०पु०ख०अ०	–	विष्णु पुराण, खण्ड, अध्याय
वि०भै०	–	विज्ञान भैरव
श्वे०श्व०उ०अ०मं०	–	श्वेताश्वतरोपनिषद्, अध्याय, मन्त्र
शि०पु०सं०अ०श्लो०	–	शिवपुराण, संहिता, अध्याय, श्लोक
शि०दृ०	–	शिव दृष्टि
शि०सू०	–	शिव सूत्र
शु०य०अ०मं०	–	शुक्ल यजुर्वेद, अध्याय, मन्त्र

शं०स्मृ०	–	शंख स्मृति
स०द०सं०	–	सर्वदर्शन संग्रह
सा०सं०अ०द०	–	सामवेद संहिता, अध्याय, मन्त्र
स्त०म०	–	स्मृतिचिन्तामणि
स्व० शा०प०	–	स्वच्छन्द शास्त्र पटल
हा०स्मृ० भा०श्लो०	–	हारीत स्मृति, भाग/श्लोक
हि०	–	हितोपदेश
हि०यो०व०पृ०	–	हिन्दी योग वशिष्ठ, पृष्ठ
हो०उ०	–	होरारत्न उपोदघात

विषयानुक्रमणिका

		पृष्ठ
प्राक्कथन		1-26
भूमिका		27-30
प्रथम अध्याय	योग विषयक अन्वेषण	31- 85
	1. योग का अभिप्राय	31
	2. योग का परिचय	42
	3. सामान्य अवधारणा	54
	4. विशेष उपयोग (विशिष्ट अवधारणा)	62
	5. आधुनिक युग में योग की आवश्यकता	63
	6. योग का महत्व	65
	क) योग एवं शरीर	68
	ख) योग एवं मन	68
	ग) योग और समाज	70
	घ) योग एवं शान्ति	73
	ङ.) योग एवं पर्यावरण	74
	1. शारीरिक एवं मानसिक पर्यावरण	75
	2. सामाजिक पर्यावरण	76
	3. प्राकृतिक पर्यावरण	77
	4. सामुदायिक पर्यावरण	78
	7. योग और विज्ञान	78
	1. अध्यापक एवं छात्र	79
	2. अभियन्ता	80
	3. चिकित्सक	81
	4. उद्यमी	83
	8. योग के लाभ एवं हानि	83

द्वितीय अध्याय	1.	महर्षि पतंजलि का जीवन परिचय एवं कृतियां ।	86-106
	2.	भाष्य	100
		व्यास भाष्य	100
		तत्ववैशारदी	102
		भोज वृत्ति	103
		योगवार्त्तिक एवं अन्य	105
तृतीय अध्याय		पातंजल योग के प्रमुख प्रतिपाद्य विषय	107-278
	1.	योग एवं समाधि.	107
		1. सम्प्रज्ञात एवं भेद	109
		2. असम्प्रज्ञात	117
		योग एवं मनोविज्ञान	120
		1. चित्त	120
		2. चित्त की भूमियां	131
		वृत्तियां	133
		क्लेश	140
		विघ्न	144
		1. विघ्नों का ज्योतिषीय सम्बन्ध	149
		2. विघ्न एवं विक्षेपों का पारम्परिक सम्बन्ध	153
		अष्टांग योग	158
		योगांगों की संख्या	160
		1. यम	162
		क) अहिंसा	162
		ख) सत्य	165
		ग) अस्तेय	168
		घ) ब्रह्मचर्य	170
		1. ब्रह्मचर्य एवं रोग	174

2. योग, ब्रह्मचर्य एवं समाज 175

3. ब्रह्मचर्य विशेष 176

ड.) अपरिग्रह 191

2. नियम 193

1. शौच 194

2. सन्तोष 197

3. तप 198

4. स्वाध्याय 208

5. ईश्वर प्रणिधान 217

3. आसन 220

4. प्राणायाम 223

5. प्रत्याहार 231

6. धारणा 232

7. ध्यान 237

8. समाधि 243

कैवल्य 246

9. ईश्वर, जीव एवं योग 254

ईश्वर 255

अष्टांगयोग का संक्षिप्त वर्णन 261

अहिंसा के लाभ एवं हानियां 261

सत्य परायणता के लाभ 263

अस्तेय 264

ब्रह्मचर्य 265

अपरिग्रह 266

शौच 268

सन्तोष 269

तप 270

स्वाध्याय 272

	ईश्वर प्रणिधारण	273
	आसन	274
	प्राणायाम	275
	प्रत्याहार	276
	धारणा	277
	ध्यान एवं समाधि	278
चतुर्थ अध्याय	विज्ञान भैरव	279-292
	विज्ञान भैरव का परिचय	281
	लेखक	285
	विज्ञान भैरव का काल	287
	भाष्यकार § व्याख्याकार §	290
पंचम अध्याय	विज्ञान भैरव का प्रतिपाद्य विषय - परम तत्व	293-379
	जीव	306
	जगत्	313
	बन्ध	319
	मोक्षोपाय §धारणा इत्यादि §	322
षष्ठ अध्याय	1. विज्ञान भैरव का काश्मीर शैव दर्शन में स्थान	380-386
	2. पातंजल योग सूत्र एवं विज्ञान भैरव का तुलनात्मक अध्ययन	387-410
सातवां अध्याय	उपसंहार	411-415
सन्दर्भ ग्रन्थ - सूची		416-421

प्राक्कथन

भारत और भारतीय संस्कृति की जितनी भी प्रशंसा की जाये उतनी ही कम है । इसने न जाने कितने इतिहास रचे । कितने युग बीत गये और प्रत्येक युग के अन्तर्गत कितने ही युद्ध हुये फिर भी यह वसुंधरा स्वर्ग के रूप में प्रतिष्ठित है और उपनिवेशवाद के पाश से बच निकलने के बाद आज भी इस पर विश्व की आँखें (दृष्टि) विभाजित (अशान्त य) करने पर टिकी हुई है । यह भी सत्य ही नहीं अपितु परमसत्य है कि अनेकता में एकता को लाने वाले इसमें केवल एक ही भाषा रही है एवं रहेगी, वह है, संस्कृत । यद्यपि आज के युग में इस पर अनेक सम्मेलन हो रहे हैं, अनेक विश्व विद्यापीठों का संचालन हुआ है फिर यह उस रूप में पुनः नहीं लौट पायी है, जिस रूप में यह स्वतन्त्रता से पूर्व थी । सभी में अपने मूल धर्म सनातन को हो रहे अन्धा धुंध नुकसान को समझिये या वेदाध्ययन को हो रही हानि से बचने के लिए तब हमारे पूर्वजों ने इस विद्या का अध्ययन अन्य विद्याओं से कहीं श्रेष्ठ माना था । ऐसा करना वे अपना धर्म समझते थे ।

यद्यपि भारतीय संस्कृति में अनेक धर्म पुरातन काल में भी थे और आज भी हैं, परन्तु इन सबमें अधिकतर भारत को एक सूत्र में पिरोये रखने में काम किया भगवान वेद ने एवं सम्पूर्ण विश्व में प्रतिष्ठित भगवान श्री कृष्ण द्वारा अर्जुन को उपदेश की गई गीता के सन्देश ने । सभी पाश्चात्यों एवं पौर्वात्यों की आँखों पर बंधी हुई पट्टी को इसने खोल करके रख दिया है । इसमें ईश्वर चिन्तन के साथ ही साथ "निष्काम कर्म को भी प्रधानता प्रदान की गई है ।"[1] इतना ही

---

1. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्म फल हेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ।। गी० 2/47

नहीं इसमें पर्यावरण को दर्शाने वाले मन्त्रों का भी प्रयोग हुआ है । जैसे कहा गया है कि "यज्ञ से वर्षा होती है और वर्षा से अन्न एवं अन्न से प्राण रक्षा"[2]

यद्यपि गीता में हमें कुछ वेदों से हट कर पढ़ने को नहीं मिलता, गीता में भी वही है जो वेदान्त में है, ईशावास्योपनिषद् में है उसमें भी कहा गया है कि "जो केवल ईश्वर (ज्ञान) का भजन करते हैं, उन्हें कभी मुक्ति नहीं मिलती और जो केवल कर्म प्रधान है, वह भी नरक में जाते हैं"[3]। अतः दोनों कार्य ज्ञान-योग एवं निष्काम कर्म-योग मनुष्य को साथ-साथ करते रहने का उपदेश दिया गया है । दोनों को सह-सह करने वाला अमरपद प्राप्त करता है" ।[4]

यहाँ तक पर्यावरण की बात आती है, वह भी वेदाध्ययन के अन्तर्गत आयी हुई है यहाँ कहा गया है कि पर्यावरण अर्थात् वायुमण्डल से सुगन्धित पवन की प्राप्ति के लिए एवं शुभ वृष्टि के लिए मनुष्य को अधिकाधिक गोघृतादि मिश्रित हवनीय जड़ीबूटियों, वनस्पती एवं औषधियों से युक्त हवनीय समिधाओं से युक्त को प्रज्वल्लित कर हवन करना चाहिये। जिससे सम्पूर्ण भूमण्डल एवं मेघमण्डल प्रदूषण मुक्त हो जाता है और प्राणी रोगों से मुक्त होता है । जैसे कहा गया है कि

---

2. अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः ।
   यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्म समुद्भवः ।। गी० ३/१४

3. अन्धतमः प्रविशन्तिये विद्यामुपासते ।
   ततो भूयते इवते तमो य उ विद्यायां रताः ।। ई० ९

4. विद्यां चाविद्यां च यस्तद वेदोभय रताः
   अविद्या मृत्युतीत्वा विद्ययामृतमश्नुते ।। - ई०वा०उप० मं० 9-10

"घृत सर्वश्रेष्ठ सर्वोत्तम औषधियों में औषधी है। इसे पीने से मनुष्य की बसा श्रेष्ठ हो जाती है। कमजोरी का नाश होता है। रोगों का कारण भी कमजोरी ही है। परन्तु विधि से सेवन करने का सिद्धान्त आयुर्वेद शास्त्रों ने दिखलाया है। मनुष्य के साथ ही साथ जब इसे अन्तरिक्ष पीता है तब अन्तरिक्ष के पी लेने से दिशायें प्रदिशायें, आदिशायें, विदिशायें, उद्दिशायें अर्थात् दसो दिशाओं के अवान्तर भेद 50 दिशायें सुस्वच्छ हो जाती हैं और इन दिशाओं से ऊपर छाता ताने दिखाई दे रहा अन्तरिक्ष भी बलवान होता है, जो बलवान होकर कीटनाशक, रोगनाशक वर्षा प्रदान करता है।"[5] इसलिए पंजाबी कहते हैं कि "सौ औषधी एक घ्यो, सौ चाचा इक प्यो"।[6]

यह तो आज के युग में स्पष्ट हो चुका है कि प्रदूषित धूयें से प्रदूषित वर्षा होती है। जिसका वर्णन इतिहास में तो है ही अपितु "गल्फ वार" (खाड़ी युद्ध) ने भी स्पष्ट किया है। जिसे स्वयं भी देख चुका हूं। जिसका वर्णन स्वयं लिखित पर्यावरण सम्बन्धित पुस्तक में विस्तृत व्याख्या कर चुका हूं।

यहां तक धर्म की बात आती है, तो वह भी किसी से छुपी हुई नहीं है। प्रत्येक संस्कृति का रक्षक भी धर्म है एवं प्रत्येक संस्कृति का भक्षक भी धर्म ही बनता है। प्रत्येक की पहचान धर्म है।

---

5. ॐ घृतं घृतपावानः पिबतं पिबतं पावानः पिबतान्तरिक्षस्य हवि रसि स्वाह दिशः प्रदिश आदिदश विदिदश उद्दिश दिग्भ्यः स्वाहा। — शु० य० वे० अ० ६ मं ११
तेजोऽसि शुक्रमसि अमृतमसि प्रियं देवानामनाधृष्टं देवयजनमसि ॥ —शु०यजु० अ०
6. "सौ चाचा इक प्यो सौ औषधी इक घ्यो" — पंजाबी कहावत।

जब धर्म की बात आती है तो सभी राजनीतिक, सामाजिक एवं विश्व इसे कुदृष्टि से देखने लगता है। परन्तु ऐसा केवल भारतवर्ष में ही देखा गया है और वह भी केवल हिन्दु संस्कृति ही आलोचना का शिकार हुई है। परन्तु यह भी सत्य है कि हिन्दुओं ने कभी भी किसी भी देश को न धन के लालच से और न धोखे से और न ही डरा-धमका कर औरों की तरह धर्मान्तरण करवा करके इतिहास को रचा है। यह संस्कृति इतनी भोली भाली थी, जितनी गाय। चारा डालो तब भी दूध देती है, भूखी रहे तब भी, ऐसा देखा गया है। परन्तु भैंस तब तक दूध नहीं देती जब तक भर पेट भोजन न कर ले।

धर्म की शिक्षा का यहां तक प्रश्न है वह भी हमें उन्हीं प्रतिष्ठित एवं भारत सरकार को अनमोल रत्न तथा न्यायालयों में सच्चाई संकल्प लेते हुये जिस पर हाथ रखा जाता है उसी से मिलती है। उसी में कहा गया है कि - "किसी के धर्म से अपना धर्म कितना भी निर्धन एवं छोटा क्यों न हो वही श्रेष्ठ है। अपने धर्म में मरना स्वर्ग को प्राप्त करना है और धर्मान्तरण कर मरने वाला जीते जी एवं मरने के बाद भी भयावह जीवन व्यतीत करता है।"[7] वह न तो जीते जी किसी के आगे गर्व से धर्म की व्याख्या ही कर सकता है। जिससे आजीवन पर्यन्त मरते दम तक अपनी गल्ती के कारण बहुत बार अन्दर ही अन्दर शर्मिन्दा होता है। डोगरी में कहावत है कि "सुबह का गया सांय को यदि घर वापिस आ जाये, तो उसे गुमशुदा नहीं कहते अपितु भूला हुआ मार्ग भटका हुआ कहते हैं।"[8]

---

7. विगुण: स्वधर्मः श्रेष्ठः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे मरणं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।। - इति गीता 3/35

8. "सवेरे दा गवाचा संजा घर आई जा ओ गवाचा न्हीं होन्दा" ।।
स्याने --- उसी भूले दा आखदे न ।। - डोगरी कहावत

परन्तु धर्म इससे थोड़ी जटिल समस्या है। यह वैसी ही है जैसे अपने कदमों से हटकर फिर उन्हीं कदमों पर विश्वसनीय होकर मनुष्य खड़ा नहीं हो सकता है जैसे मरने के पश्चात् मरने से पूर्व जैसा रूप प्राप्त नहीं होता है, जैसे बचपन जैसा मजा जवानी में और जवानी जैसा आनन्द बुढ़ापे में नहीं मिलता वैसे ही अचानक पशोपेश एवं बलात् धर्मान्तरण करके पुनः लौट आने में भी मजा नहीं रहता है। उसी प्रकार जैसे ठोक दीवाल (दीवार) में दरार आने पर कभी पुनः वो अपने पूर्व स्तर तक नहीं पहुंच पाती है। चाहे लाख कोशिश भी क्यों न की जाये उसे तोड़कर ही एक रूप किया जा सकता है। ऐसा नहीं है कि रोग है तो उपाय नहीं है। रोग भी है उपाय भी है। परन्तु ये सब बुद्धिजीवि वर्ग के हाथ में ही है या धनाढ्यों के पास है। इसलिए कहा है कि "बिन विचारे जो करे सो पाछे पछताये, काम बिगाड़े अपना जग में होत हंसाये।।" और जो गल्ती करते हैं, उन्हें धर्म बिल्कुल समाप्त करके रख देता है।"[9] जो धर्म पर चलते हैं वे सदा अमर रहते हैं। उनका सम्मान होता है, पहचान होती है, एक अलग समाज होता है। जैसे उद्यान की शोभा एक फूल नहीं होते अपितु भिन्न-भिन्न रंग-बिरंगे फूलों से भिन्न-भिन्न जातियों के पुष्पों से जैसे उद्यान देखने वालों को भाव विह्वल आनन्द विभोर कर देते हैं, ऐसे ही विभिन्न-विभिन्न जाति एवं धर्मों के लोगों से संस्कृति का भी अपना ही महत्व है।

---

9. धर्म एवं हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत।।

इन सब प्रकार की घटनाओं को देखकर एवं इन सबके विषय में सुनकर पढ़कर आये दिन अमुकामुक स्थान पर दंगे हुये अमुक स्थान अमुक वर्ग ने हिन्दुओं के धर्म को ठेस पहुंचाई और दंगा हुआ, अमुक मारा गया, ये सब क्यों होता है और विशेषकर हिन्दु समाज के साथ ही क्यों हो रहा है । यदि ये लोग इतनी पहुंच वाले हैं और सत्य ही इन्हें अपने प्रभु की प्राप्ति हो चुकी या ये सब वास्तविक रूप से ज्ञानी हैं तो ये ऐसी शर्मनाक लज्जाजनक समाज को ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण विश्व को हिलाकर उद्वेलित करके रख देने वाली घटनायें क्यों करते हैं ? क्यों धर्मान्तरण कराते हैं ? यह यदि मानव की सेवा ही करना चाहते हैं, तो अवश्य करें, परन्तु गीता के सन्देश की तरह निःस्वार्थ करें । परन्तु ये सब सेवा न होकर स्वार्थ साधक है। इन्हें प्रभु की प्राप्ति स्वयं नहीं होती, परन्तु अपनी चिटपुटी बातों में फंसाकर जादुई नाटक दिखाकर अपने धर्म के झूठे उपदेश से लोगों के अन्दर घर करके उन्हें साम, दाम, भेद एवं दण्ड नीति तथा धर्मोपधा कामोपधा एवं भयोपधा के माध्यम से अन्ततः अपना ओर आकर्षित करने लगते हैं । जब ऐसा होता है और चौर नहीं कचौर जब ऐसी हरकतें करते हैं, तो शेष घर वालों के हृदय में वेदना न हो ऐसा नहीं हो सकता । यही कारण होते हैं कि अन्ततः विनाशकारी ताण्डव नृत्य देखने को मिलता है और लोगों को जिन्दा जला दिया जाता है । कोई नहीं चाहता कि दो भाई आपस में मिलकर रहें । सभी को खतरा रहता है, उनके परस्पर मिलकर रहने से । क्योंकि शास्त्र ही कहते हैं कि "एकता में बल है"। इसलिए पुनः पुनः प्रयास होता है कि जैसे कैसे भी हो इन्हें तोड़ा जाये चाहे भाई हो या देश । परन्तु हमारे शास्त्रों का उपदेश है कि दो भाईयों को जोड़ने वाला महान होता है। ऐसा करने वाले को शर्मिन्दगी भी क्यों न उठानी पड़े, उसे सहर्ष

उठानी चाहिये उससे उसको स्वर्ग मिलता है । केवल दो भाईयों को ही नहीं कहीं भी द्वन्द्व हो रहा हो उसे छुड़ाना चाहिये । अभी कुछ वर्षों पूर्व खाड़ी में स्वार्थ परायण देशों की लड़ाई हुई और उसमें सबसे अधिक हानि बेगुनाहों को जीने का आशा लगाये बैठे लोगों को उठानी पड़ी । धनाढ्यों का क्या जाता है उन्हें अपना धौंस की आवश्यकता है, जरूरत है । वे तब तक ऐसे घिनौने अमानवीय खेल खेलते रहते हैं जब तक उनका स्वार्थ सिद्ध नहीं हो जाता । एक कुछ देश आनन्द ले रहे हैं, तो एक तरफ क्यूबा को आज भुखमरी का सामना करना पड़ रहा है । केवल क्यूबा ही नहीं अपितु अफ्रीकन देश भी हैं । कहीं के राजा को लेकर लड़ाई है तो किसी के बढ़ते हुये आर्थिक एवं वैज्ञानिकी विकास को लेकर लड़ाई है । जिसकी चक्की में स्वयं अपना देश भी पिस रहा है । आज वह युग है जो चोरी, सीनाज़ोरी करता है वही बड़ा विद्वान एवं बुद्धिजीवि है । स्वयं आयोगों को गठित कर स्वयं उनका उल्लंघन करें, तो कोई अन्तर नहीं, यदि कोई निर्बल करे तो उसे प्रभुत्व सम्पन्न देशों के आक्रमण का सामना करना पड़ता है । आज वही लोग एवं देश, आक्रमण कर रहे हैं जो मानवता की दुहाई दे रहे हैं । एक तरफ मानवाधिकारआयोगों को गठित किया जाता है, दूसरी तरफ स्वयं उन्हीं के देश नागरिकों पर आक्रमण कर रहे होते हैं । आज किसी से कोई बात छुपी हुई नहीं है । अनुसन्धान तक युगोस्लाविया में बमबारी से हो रही वर्तमान थी । कोई नहीं कहता कि हे मनुष्यों! आप जिस देश में रहते हो वही आपका निवासित राष्ट्र है । प्रेमपूर्वक शान्तमय वातावरण में अपनी कम जनसंख्या को देखते हुये मिलजुल कर रहना । अपितु उल्टे उनको भड़काने की कोशिशें होती हैं । उन्हें धन अन्न के स्थान पर हथियार वितरण

होते हैं। सभ्य शिक्षा के स्थान पर लड़ाई की शिक्षा दी जाती है । भाईचारे के सन्देश के स्थान पर भेदभावमय वातावरण को उत्पन्न करने वाली विषमय विनाशकारी बिना हथियारों के ही विनाश लीला को रचाने वाले घटिया घिनौने बलात्कारी जैसे पाठों को पढ़ाया जाता है । प्रजा कोई अपराध करे तो दण्ड दिया जाता है और राजा घोटाले एवं सार्वजनिक बलात्कार भी करे, तो उन्हें सम्मान दिया जाता है और इतना ही नहीं बल्कि त्रासदी के शिकार हुये लोगों को ही दोषी भी घोषित किया जाता है । एक युग था और आज भी भारतवर्ष का इतिहास इस बात का साक्षी है कि एक भारत ही ऐसा देश रहा, जिसने धर्म का हमेशा पालन किया जो कहा और प्रण किया, उसको निभाया। उसके लिए चाहे प्राणों की भी बाजी क्यों न लगानी पड़े । "वही सिकन्दर एवं उसकी पत्नी तथा वही पोरस जिसने अपने परम पुत्र एवं राज्य के विनाशक शत्रु सिकन्दर को धर्म द्वारा निर्धारित भगिनी के रक्षा बन्धन को दृष्टिगोचर होते ही पराजित शत्रु को मृत्यु दण्ड के स्थान पर उसे छोड़ दिया।"[10] वही सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र, जिसने संकल्प में सब सत्य सिद्ध करने के लिए स्वयं श्मशान में सेवा कर्म किया और कर्म से निर्लिप्त रहा । इतना ही नहीं बल्कि भारत एवं भारतीय संस्कृति इससे भी महान है एवं महा महिमा मण्डित जिसकी चर्चा आज विदेशों में भी हो रही है अभी पिछलों दिनों फरवरी 1999 की बात है कि अमेरिका के राष्ट्रपति श्री क्लिंटन के बयान को प्रकाशित करते हुये "पंजाब केसरी" समाचार पत्र ने लिखा था कि "मैं (क्लिंटन) कभी भी ऐसी

---

10. गोल्डन इतिहास
11. वाल्मीकीय रामायण ।

शर्मनाक एवं गल्त नहीं करता यदि मुझे आचार्य रजनीश के द्वादश भैरव तन्त्र की प्रति पढ़ने को पहले मिल गई होती और अब इसे पढ़ लेने के पश्चात् मन करता है कि मैं जब कभी राष्ट्रपति पद की जिम्मेवारी से दूर होऊंगा अवश्य ही उस धरती पर साधना के लिए जाऊंगा, जहां ऐसी रचनायें रची गई। यह उस व्यक्ति के वचन हैं जो पूर्ण विश्व में मोनिका लेविंस्की (अमरीका की सामान्य महिला) के साथ यौन सम्बन्धों के कारण चर्चा में घिरा एवं जिसे सबसे बड़े अपराधिक दण्ड महाभियोग का सामना करने की स्थिति पैदा हो चुकी थी। यद्यपि उसके देशवासियों ने देश की उन्नति जैसे कार्यों को देखकर उसे भुला दिया एवं क्षमा किया परन्तु क्षमा से कहीं अधिक अन्दर ही अन्दर दण्ड भुगत चुके थे। इतना ही नहीं आज यत्र तत्र सर्वत्र अनेक श्वेत देखने को मिलते हैं जिन्होंने "हरे रामा हरे कृष्णा" धर्म को स्वीकार कर लिया है और "इस्कान" के अनुयायी बन चुके हैं। यज्ञोपवीत एवं सिर पर शिखा धारण किये माथे पर गोपी चन्दन का लेप बरबस उनके शाश्वत धर्म के प्रेम को प्रकटित करता है। आज वेदों पर अनुसन्धान हो रहे हैं। कुरुक्षेत्र की रज का परीक्षण हो रहा है। युगातीत द्वापर युग में महाभारत युद्ध के दौरान किये गये अस्त्र शस्त्रों से रक्त रंजित मिट्टी विदेशों की अति संवेदनशील एवं महत्व की दृष्टि से अति महत्वपूर्ण प्रयोगशालाओं में आज भी विराजमान हैं। आज भी भगवान श्री गणेश के सिर को लेकर विज्ञान वैज्ञानिकों को लज्जित कर रहा है।

---

12. पंजाब केसरी समाचार पत्र, दिनाङ्क -

महारफ़ुदक्ष का असर किसी से छुपा नहीं है । एक नहीं ऐसे अनेक उदाहरण हैं जो इस देश को चार चाँद लगाते आये हैं और लगाते रहेंगे । केवल अन्तर इतना ही है कि जो भी कोई यहाँ विशेष उपलब्धि प्राप्त करता है । उसे विदेशी अपने धन दौलत की अपार सम्पदा का लोभ देकर एवं उसे आगे और अनुसन्धान के लिए प्रेरणा देते हुये अपने-अपने देशों में ले जाते हैं और यहाँ फिर उनका अकाल पड़ जाता है, बच जाते हैं वे लोग जिनके पास धन नहीं होता । ऐसा ही दृष्टान्त अभी कुछ समय पूर्व नोबेल पुरस्कार से सम्मानित विश्वप्रसिद्ध अर्थ शास्त्री डॉ0 अमर्त्य सेन के विषय में पढ़ने को मिला जिन्हें पहले पहल विदेशों ने जाना और तदनन्तर भारत सरकार ने भी सम्मान दिया । परन्तु क्या भारत सरकार या हमारे विशेषज्ञ इतने कमजोर हैं कि वे उनकी वास्तविकता को नहीं पहचान सके । ऐसी भी एक नहीं अनेक गुत्थियाँ हैं जो आज सुलझ नहीं पा रही हैं ।

यहाँ तक देश की बात आती है यह सभी देश एवं रेडियों से विमर्श को सुनने में मिलता है कि भारत में काला बाजारी एवं घूसखोरी की कोई सीमा नहीं है । भारत के पास बहुत धन है पर विदेशों में हैं । संयुक्तराष्ट्र की अवहेलना की तरह ही यहाँ भी अमेरिका जैसे अनेक नेता मिल जायेंगे जो स्वयं ही कानून बनाकर कानून का उल्लंघन कर रहे हैं । सबसे बड़ा भ्रष्ट यदि कोई मिलेगा तो वह देश का कोई नेता ही होगा । जिसके कोप का शिकार साधारण जनता बन रही है । किसी के पास अतुल सम्पत्ति है, तो किसी के पास रोटी का एक टुकड़ा भी नहीं । किसी के पास देश में खाली पड़े भवनों की तरह विदेशों में भी बहुमूल्य भवन हैं, तो किसी के पास घास-फूस की छत भी नहीं है और यहाँ किसी के पास खेती योग्य खाली पड़ी बहुमूल्य रत्न उत्पन्न

करने योग्य भूमि है तो किसी उद्यमी के पास एक फुट भी नहीं । इतना ही नहीं इनसे अतिरिक्त भी बहुत सी ऐसी बातें हैं तो मनुष्य को चिन्तन के लिए बरबस ही विवश करती हैं । कोई चिन्तनशील इनसे जुड़ जाता है तो कोई जानकर भी मुंह मोड़ लेता है । ऐसा ही मेरे साथ भी हुआ कि मैं जिधर भी जाता लोगों की समस्याओं से घिरा पाता और सोचने लगता कि हे भगवान ! ग्रामीण वासी लोग कहते हैं, अमीरों को कोई दुःख नहीं होता, जो भी दुःख है भगवान ने गरीब (निर्धन) के लिए ही उत्पन्न किये हैं । परन्तु यह बात बिल्कुल असत्य अनुभव हुई । अमीरों को गरीबों से कहीं ज्यादा दुःख हैं । रात को चैन की नींद नहीं, लुटेरों से डर और बिमारियें भी ऐसी लगती हैं कि निर्धन कभी सोच भी नहीं पाता । यह वही समझ सकता है जिसने इसे गहन चिन्तन से देखा हो । मुझे ऐसा अवसर इसलिए मिला कि मेरे पास भगवान का दिया हुआ ऐसा यन्त्र था, जिसकी निर्धन के साथ ही साथ धनी को कहीं अधिक आवश्यकता थी । यह बात दूसरी है कि स्वयं मुझे कुछ अकुलीन धनाढ्यों से घृणा रही, परन्तु लज्जाशील श्री सम्पन्न सदा मेरे हृदय में निवास करते रहे और कभी भी मैंने किसी के धन की ओर नहीं देखा कि मैंने इनका काम किया और मुझे इतना मिले अपितु यही कि जो मेरा कर्म था वो मैंने किया यदि मैंने लग्न से किया होगा और निःस्वार्थ परयाण होगा तो जरूर मिलेगा, यहाँ नहीं तो अगले जन्म में सही, परन्तु जरूर मिलेगा जिसका ज्ञान हमें गीता से भी मिला और गीता के पढ़ने के पश्चात् सकल अन्धकार तो नहीं परन्तु अत्यधिक अन्धकार दूर हुआ और प्रकाश मिला । उसी भगवान की कृपा से यह सोचने का एवं अनुसन्धान करने का भी सुअवसर मिल गया। अन्यथा कहाँ अत्यधिक निर्धन परिवार में उत्पन्न होकर पढ़ना एवं

तदनन्तर अध्यापकों एवं कर्मकों ( ) के कोप का शिकार होना, विद्या में और घर के हालात में भारी अन्तर होना, घर की सकल जिम्मेवारियों को उठाते हुये कुलशील के मान सम्मान को बनाये रखने के लिए जीवन भगवान को अर्पित कर देना और अपनी प्रतिज्ञाओं को मन में रखते हुये विद्या छोड़ना, छोड़कर फिर शुरू करना न जाने कितने उतार चढ़ाव आये यही कारण है कि यहां मुझे 27-28 वर्ष की ही आयु में विद्यावारिधि (पी0एच0डी0) कर लेनी चाहिये थी वो आज मैं 34 वर्ष की अवस्था में करने जा रहा हूं ।

मुझे आज भी वो दिन याद हैं जब मेरे दादा पं0 शिवराम जी ने अपने छोटे पुत्र मेरे चाचा शास्त्री सत्यपाल जी से कहा था कि हे सत् ! इसी शहर लेई जा उत्थें इसा रघुनाथ पाठशाला या कुर्दे संस्कृत पढ़ने आली पाठशाला दाखिल करायाँ ताकि ऐ पण्डत बना जा । दादा जी की बड़ी दूरदृष्टि थी क्योंकि उन्होंने जो एक इतिहास रचा चाहे वह प्रकाशित नहीं है, परन्तु आज भी ग्रामीणवासी उनकी निःस्वार्थ सेवाओं को स्मरण करते हैं । वे महान कर्मकाण्डज्ञ थे और उत्तम वैद्य भी, परन्तु एक सफल वैद्य होने के पश्चात् भी उन्होंने कभी किसी से दवाई के पैसे नहीं मांगे यह विद्या उन्हें अपने पिता पं0 गंगाराम जी से ग्रहण की थी जो दादा जी से भी अत्यधिक सिद्धहस्त थे । जबकि कर्मकाण्ड एवं संस्कृत के प्रति हमारा वंश सदा पूर्वकाल से सेवारत है\ क्योंकि पं0 गंगाराम जी के पिता स्व0 पं0 जल्लाराम ज्योतिष एवं संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे जिनका जन्म जसरोटा राजधानी जो कि उज्ज दरिया कठुआ (जम्मू व कश्मीर) के निकट है, यहां हुआ था और काशी से पढ़कर आये थे । इन्हें राजगुरू की उपाधि प्राप्त थी । राज भाईयों एवं राजाओं के अन्तर्द्वन्द्वों के कारण काल

कब्जा होने पर वह राजधानी आज अवशेषों के रूप में आज भी विद्यमान हैं। वहाँ बने महल एवं परकोटे जीर्ण शीर्ण मन्दिर मौजूद हैं। जिनका पुनरूद्धार जसरोटिया, कर रही है, परन्तु हमारे लिए केवल इतिहास है। यह सब जानकारी हमें अपनी प्रदादी जी से मिलती। हमें वो कुल इतिहास सुनाती अपनी खोई हुई सम्पदा एवं तदनन्तर पुनः पुनः से प्राप्त धन एवं आवास के विषय में बताती और हमें भी अपने ससुर एवं पति के पदचिह्नों पर चलने के लिए प्रेरित करती। यही कारण रहे जिनके कारण स्वरूप मन में पढ़कर कुछ उपलब्धि हासिल हो, जिसे प्राप्त करने के लिए दादा जी ने अपने छोटे पुत्र के हाथों अर्पित कर भेजा और जिन्होंने यथा तथा आज्ञाकारी होकर आज्ञा का पालन किया, जिसका नुकसान शुरू - शुरू में मुझे ही उठाना पड़ा, परन्तु वे हानि अब मुझे हानि न लगकर लाभ ही दिखाई देती है। वे हानि थी, मैं आठवीं उत्तीर्ण करके आया था और मुझे संस्कृत का किचिंदमात्र भी ज्ञान नहीं था और उन्होंने मुझे प्रथमा प्रथम वर्ष की कक्षा में (छठी कक्षा में) तत्काल 1979 में श्री रघुनाथ मन्दिर पाठशाला में प्रवेश दिला दिया और वहीं स्थित छात्रावास में भी रहने का प्रबन्ध किया। आरम्भ में तो मुझे संस्कृत सीखने से ही नहीं मिल पायी कि मैं जान सकूं कि मैं कौन सी कक्षा में हूं। परन्तु जब तक जान पाता तब तक देर हो चुकी थी। फिर भी मुझे जम्मू के महामहिम पण्डितों विद्वानों से विद्या प्राप्त करने का जो सुखद एवं सुनहरा अवसर मिला वो शायद आज किसी को मिल सके, इनमें थे मेरे प्रातः स्मरणीय गुरूओं में व्याकरण के आचार्य परशुराम जी शास्त्री, पं० मूलराज शास्त्री, वेदज्ञ विश्वम्भर दत्त जा शास्त्री एवं ज्योतिषज्ञ श्री पूर्णचन्द्र जी शास्त्री। यहाँ सामान्य विद्या के साथ-साथ कर्मकाण्ड एवं वेदाध्ययन का विशेष प्रबन्ध था और माध्यम भी संस्कृत था। तभी एक दिन जब

प्रथमा द्वितीय वर्ष की कक्षा उत्तीर्ण की तो, अपना दुःख अपने परम गुरू (प्राचार्य पं० मूलराम जी) से व्यक्त किया और उन्होंने तत्काल बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय से सम्पर्क तोड़कर केन्द्रीय विद्यापीठ से सम्पर्क जुड़ जाने पर मुझे अकेले ही पूर्व मध्यमा की प्रथम वर्ष की कक्षा में बिठा दिया। जब वहां दो वर्ष पूर्ण हुये तो मैंने तत्काल केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ शास्त्री नगर में जाने की ठान ली और अपना प्रमाणपत्र ले लिया तो गुरू जी को तब बहुत दुःख हुआ और वे कहने लगे कि पुत्र तूं जा रहा है हमने तुझे विद्वान बनाने की सोची थी । यदि तूं रहता तो हम तेरे लिए आगे भी कक्षा बिठा सकते हैं । परन्तु देखा कि वह भी कुछ माह के पश्चात् ही विद्यापीठ के चूड़ामणि विभाग द्वारा बुला लिये गये हैं । तब मुझे बहुत प्रसन्नता हुई । परन्तु विद्यापीठ के वातावरण को देखकर लगने लगा कि वहाँ हमें सब संस्कृत में पढ़ाया जाता था । यहाँ तो संस्कृत दूर हिन्दी में भी पढ़ाने से मन (चित्त) चुराते हैं । तदनन्तर अभ्यास को वैसा ही बनाये रखा और अपने गुरू जी के शब्दों को, जो कानों के द्वारा पी लिये गये थे, उन्हें मन में वैसे के वैसे अनुसूईया के रेशमी वस्त्र की तरह कभी न मलिन होने वाले शब्दों को ताजा रखा । परन्तु वहाँ की राजनीति को मैं नहीं जान सका तभी शास्त्री प्रथम वर्ष की परीक्षा में जिसे देने से पूर्व एवं पश्चात् अनेक योजनायें बनाई थीं, सबसे आगे निकलने के लिए प्रयास किया था और निकला भी तभी उसी परीक्षा परिणामों के दौरान मेरे छोटे दादा जी की मृत्यु हो गई जबकि बड़े 1990 में स्वर्ग सिधार चुके थे । परीक्षा परिणाम आया परन्तु उनमें मेरा परिणाम लम्बित था । पांच पत्रों के परिणाम को देखकर गुरू लोग बड़े खुश थे, सभी से ज्यादा अंक प्राप्त किये थे कि महाभाग्य का परिणाम नहीं आया । इधर चाचा जी से मनमुटाव, घर पर आर्थिक तंगी ऊपर से शनि की साढेसति सबने मिलकर जीवन किरकिरी की

और धकेल दिया । चार माह के लम्बे समय के दौरान किसी सहपाठी से पता चला कि आप चाहे दिल्ली से हो आये हो आपकी उत्तरपुस्तिका को किसी क्लर्क ने छुपाया था । परन्तु तब तक देर हो चुकी थी, स्वप्न, स्वप्न ही रह गये । और मैं गांव चला गया । वहां भगवान शालीग्राम जी की पूजा करता और उन्हीं के आगे रोता तभी एक दिन भगवान ने बौद्धिक बल प्रदान करते हुए विश्वविद्यालय जम्मू (तवी) से शास्त्री उत्तीर्ण करने के लिए प्रेरित किया और कठिन अभ्यास के पश्चात् 1992 में शास्त्री उत्तीर्ण की। कहां 1987 और कहां 1992, इस लम्बे समय के दौरान दुनिया को पढ़ने का सुअवसर मिला और विशेषकर ज्योतिष ज्ञान मिला, जिसका बीज जम्मू के प्रसिद्ध ज्योतिषज्ञ पूर्णचन्द्र जी ने डाला था और अंकुरित हुआ था, परन्तु गरीबी ने इसे सीखने नहीं दिया, क्योंकि गांव में ऐसा कोई नहीं था, जो सिखाता । शनैः शनैः ज्योतिष की पुस्तकों का अध्ययन करते हुये इसे सीखा गया । क्योंकि मेरे चाचा भी यही काम करते थे । एक बार की बात है कि किसी महाशय ने (चाचा जी से) पूछा यह कौन है ? और क्या कर रहा है ? तो उन्होंने परिचय करवाते हुये कहा कि यह अमुक है और संस्कृत पढ़ रहा है । तब महाशय ने कहा कि संस्कृत पढ़कर क्या करेगा तो उस महाशय जी ने उत्तर दिया, "लाईफ स्पायल" (जिन्दगी बेकार) । सुनकर दिल को ठेस तो पहुंची, लेकिन मन ही मन सोच लिया कि अब बिना किसी की सहायता के लिए कुछ करना होगा, अन्यथा ऐसा न हो कि कुछ बनने के स्वप्न एवं संकल्प (उन महाशय) तथा इनकी बात चरितार्थ हो जाये । घर बैठे कर्मकाण्ड, ज्योतिष पूजा-पाठ करना, करवाना सब किया, करवाया और आज करवाने की अपेक्षा करने तक सीमित है और उसी के साथ ही साथ आगे एम०ए० संस्कृत में भी अत्यधिक संघर्ष

के बाद स्थान मिल गया । यह सब भगवान की पूजा का ही फल है । ऐसा इसलिए कि एम०ए० प्रथम वर्ष (दो सत्र) अस्थायी प्रवेश से दिये एवं बिना परिणाम आये ~~अध्ययन~~ करते हुये तथा उस परमात्मा के सहयोग से, बिना विलम्ब के स्थायी प्रवेश मिलना सुखद एवं आश्चर्यजनक घटना थी । ऐसा तभी सम्भव होता है जब प्रभु की कृपा होती है । कहते भी हैं कि वह अपने भक्त के काम स्वयं करते एवं करवाते हैं। यहाँ भी ऐसा ही हुआ, क्योंकि विभागाध्यक्ष ने इन्कार कर दिया था । 3 रुपये के ड्राफ्ट ने काम किया और नया कानून बना, जबकि हमारे एम०ए० करने के बाद वो कानून पुनः रद्द हो गया। ऐसा पहले कभी भी नहीं हुआ था । इस बात ने मुझे दार्शनिक विचारधारा की ओर पूर्णतः मोड़कर रख दिया, जिसके कारण स्वरूप ईश्वर पर, जबकि पहले भी विश्वास था, परन्तु और अत्यधिक बढ़ जाने से मैंने विषय भी दर्शन ही चयन किया और उसी में डूब गया । लोग परीक्षा उत्तीर्ण करने के लिए प्रवेश लेते हैं और उसी में सफलता को सफलता मानते हैं, परन्तु एम०ए० करते हुये मैंने दर्शन को कदापि उत्तीर्णात्मक दृष्टि से नहीं पढ़ा । हमेशा उसे अपनाकर जीवन को सफल बनाने हेतु पढ़ता । बस से गांव जाते, गांव से आते शिवसूत्रों का चिन्तन चलता, जहां लिखा था कि यह शरीर ही हवन है, इसे ही आहूत करना चाहिये । सभी विद्याओं की जननी वेद हैं । सभी रहस्यें उसी में है, तथा यह भी पढ़ने को मिलता की मन्त्र के अनेक अर्थ होते हैं । परन्तु यह सब तभी सम्भव होता, जब इनका अध्ययन किया जाये और चिन्तन किया जाये । सुनने मात्र से विद्या नहीं आती । यह जानकर एक ऐसा जीवन, जो पहले ही कर्म से पूजनादि तो करता था, जबकि अन्तःकरण से भी पूजन करने लगा । तभी मन मे सोच थी कि यदि

उत्तीर्ण हुआ तो नौकरी के बजाय पी0एच0डी0 करूंगा। यह संकल्प मैंने 1985-86 में ही लिया था। परन्तु आगे आई आंधी-तूफानों ने हिलाकर रख दिया था। परन्तु चित्त ने कभी हार नहीं मानी और अन्ततः 1993 में एम0ए0 में प्रवेश हुआ। 1995-96 में एम0ए0 में विश्वविद्यालय ने स्वर्णपदक प्रदान किया और उसके बाद तत्काल पी0एच0डी0 में प्रवेश लिया जिसके लिए मुझे विषय चयन में देरी नहीं लगी और ऐसी प्रेरणा को सिद्ध करने में मेरे गुरू डॉ0 जागीर सिंह जी का सहयोग रहा। पहले से ही धार बनाये बैठे योग का चयन किया, योग का चयन केवल शिव सूत्र ही नहीं थे, मुख्यतः पातंजल योगदर्शन था। इन दोनों में अन्तर यह था कि शिवसूत्र केवल आध्यात्मिक परक थे, जबकि पातंजल योग सूत्र आध्यात्मिक विद्या के साथ ही साथ यम नियमों के माध्यम से सामाजिक जगत की मर्यादाओं को भी दर्शाते हैं। ये सूत्र एवं नियम भारत और भारतीय संस्कृति को चार चांद लगाने वाले हैं, यदि इनका परिपालन हो सके। ऐसा मन ही मन विचार उभरता, उत्पन्न होता और आगे ही बढ़ता ही जाता। कभी अहिंसा को तो कभी सत्य अपनी ओर आकांक्षा करता और आज उत्पन्न हो रहे हृदय विदारक एवं दिमागीय विस्फोट के विषय में सोचने को विवश करता। कभी स्वाध्याय अपनी ओर इंगित करते हुये कहता कि मेरा अर्थ केवल -इन्द्रादि देवताओं की स्तुतियां या प्रणवादि एवं पुरूषसूक्त या स्वस्त्ययन का पाठ नहीं है अपितु स्वयं जीवन का अध्ययन, भौतिकवाद का अध्ययन, समाज में उत्पन्न हो रही समस्याओं का अध्ययन एवं किसी भी विषय को लें आध्यात्म के साथ - साथ उस विषय की पारंगतता

शरीरं हविः। शिव सू0 भा0 3 सू0 2

विद्या शरीर सत्ता मन्त्र रहस्यम्। शि0 सू0 भा0 2 सू0 3

का नाम ही इष्ट प्राप्ति है । इष्ट का अर्थ लक्ष्य होता है देवता का अर्थ दिव्य गुणों से युक्त होता है यह कदापि नहीं है । यहीं मेरे विचार निश्चित रूप से मुझे अन्तर्द्वन्द्व में धकेलते और जब तक इनका विवेचन नहीं हो पाता, तब तक सन्तोष नहीं मिलता । यही कारण है कि इन धर्म नियमों के अन्तर्गत वे ऐसे तत्व मौजूद ही नहीं अपितु अनुसन्धान करने योग्य हैं, जिनसे समाज सुरक्षित रह सकता है। बलात्कार जैसी घटनाओं पर अंकुश ही नहीं, अपितु ऐसी घटनायें उत्पन्न ही नहीं होंगी । एड्स द्वारा विनाश से विश्व बच सकता । ब्रह्मचर्य इन्हीं बातों के कारण महत्वपूर्ण विषय है, जिसका अर्थ केवल आज के युग में अविवाहित होना माना जाता है । यह समाज की कमजोरी है कि बिना गहन अध्ययन के सुनी-सुनाई बातों पर विश्वास करने लगता है । शास्त्र ही कहते हैं कि ब्रह्मचर्य द्विविध है। गृहस्थी के नियमों का पालन करने वाला भी ब्रह्मचारी कहलाता है, जो ऋतुकाल में ही जो स्वस्त्री से क्रीड़ा करता है । जब ऐसी नैतिक शिक्षा और इस शुक्र के अत्यधिक स्खलन , पतन एवं अनैतिक रूप से विनाश से होने वाले रोगों के विषयों पर समाज को जानकारियां उपलब्ध करवायी जाये एवं स्कूल विद्यालयों में इन पर पुर जोर शिक्षा पर बल दिया जाये, तो आज यौवन की रक्षा की जा सकती है जिससे आने वाली विकृतियों से कमजोर उत्पन्न हो रही नस्लों (सन्ततियों) से बचा जा सकता है । इनसे केवल मनुष्य ही निर्बल नहीं हो रहा है अपितु समाज कमजोर होता है, देश कमजोर होता है । तभी तो यजुर्वेद में कहा गया है कि पूर्णतया ब्रह्म तेज से युक्त समाज में क्षात्रबल से युक्त पुत्र उत्पन्न होते हैं । सुन्दर सुन्दर गौयें (इन्द्रियां) बैल (मन) होता है । पूर्ण यौवन से युक्त युवतियां होती हैं । जो वीर्यशाली पुत्रों को उत्पन्न करती है । उनके स्तनों में दूध जैसी औषधियां एवं गौएं भी बहुत दूध देती है । तथा राष्ट्र सुरक्षित रहता है । परन्तु आज कौन इनका

विश्लेषण कर रखा है । इन्हें कर्मकाण्ड का विषय बतला कर ब्राह्मण निन्दकों ने अपमानित कर जो समाज को हानि पहुंचाई है, वह कभी पूरित नहीं हो सकती ।

इन्हीं कारणों से कहे कोई कि मैंने इसे योग को चयन किया है (जो सही है) अपितु उससे भी परे जाकर इसकी महत्ता को अन्वेषित करने के लिए विचार था कि एक बार मुझे यह विषय मिले तो मैं इसे प्रभु की कृपा से वेदों तक देखूं कि कम से कम उसमें कहां - कहां इसके संदर्भ में सामग्री मिलती है । जिसमें अवश्य ही सफलता मिली जिसको "योग का परिचय " में वर्णन किया गया है । क्योंकि यह भी देखा गया है कि ऐच्छिक विषयों की प्राप्ति कर्मकाण्ड से हो जाता है । रोग, द्वेष, कष्ट दूर होते देखे भी हैं और इच्छाओं की पूर्ति भी होती देखी है । यहां तक संघात को भी मैत्री में बदल देने की, मन्त्र शक्ति रखते हैं । जिसका पता हमें (दुर्गा सप्तशति) से ही हो जाता है, जहाँ देवी स्वयं द्वादश अध्याय के एक उपदेश में कहती है कि जो मेरा सप्तशति का पाठ करते हैं उनके बच्चों पर न तो ग्रहों का ही कुप्रभाव पड़ता है यदि हो तो नाश हो जाता है न अभिचार कर्म का बल चलता है और मनुष्यों में परस्पर लड़ाई हो तो मैत्री में परिणत हो जाती है ।

ॐ आब्रह्मण ब्रह्मवर्चसि जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योति व्याधी महारथो धेनुर्वोनिड्वानाशुः पुरन्धिर्योषा जिष्णु रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो अभिवर्षतु फलवत्यो न औषधयः पच्यन्ताम् योक्षा क्षेमो नः कल्पताम् ।।

— शु० यजुर्वेद ।।

बालग्रहाभिभूतानां बालानां शान्तिकारकम् संघात भेदे च नृणां मैत्री करण मुत्तमम् ।। — श्री दुर्गा सप्तशति, द्वादशाध्यायः श्लो० १४

गीता के तेरहवें अध्याय के विश्लेषण से पता चलता है कि मनुष्य को तपस्या के साथ ही साथ ज्ञान योग का भी अध्ययन करना चाहिये, ये बातें सब की सब योगदर्शन की ही ओर प्रेरित करती हैं। जिसकी आज के भौतिकवादी समाज को भी आवश्यता ने अपनाने को विवश किया और जो अध्यात्म दर्शन अर्थात् कैवल्य का भी एक परमोपयोगी सफल मार्ग रहा है। तभी कहा गया है कि भारत में रहने वाला प्रत्येक नागरिक एक समय था जब उसे ऋषि या मुनि की संज्ञा थी। शान्ति प्रिय था। सबसे पुरातन और सबसे कम जनसंख्या वाला धर्म रहा। जो भी आया लूटने आया। भारत का इतिहास रहा कि वह स्वयं आपस में लड़ा हो, परन्तु इसने कभी किसी पर आक्रमण नहीं किया। जिओ और जीने दो का सिद्धान्त सदा सर्वथा अपनाया। यही समाज एक ऐसा समाज था, जिसके भीतर से अनेक समाज उत्पन्न हुये। जिनमें मुख्यत: बौद्ध, जैन, आर्य, इत्यादि कारण वैमनस्यता, अहंकार। ठीक है कि घर में जब सदस्यों की संख्या बढ़ती है तो विकृतियां भी आती हैं। अच्छे पैदा होते हैं, तो बुरे भी पैदा होते हैं। परन्तु बुरों को बुरा ही बने रहने देना या उन्हें न समझना गलत है। मनुष्य को सर्वप्रथम घर सुधारना चाहिये यदि एक अमीर है, तो उसे अपने घर के भीतर सर्वप्रथम निर्धन की सहायता करनी चाहिये, यही उसका सर्वश्रेष्ठ धर्म होना चाहिये। उसके लोकोपकारक दान निष्फल हैं। उसके यज्ञ कुछ काल के लिए संतुष्टि दे सकते हैं। परन्तु अनायास उसके सामने उसके निर्धन भाईयों के उपस्थित हो जाने से उसको शर्मनाक स्थिति तक पहुंचा कर रख देंगे। इसलिए भगवान श्रीकृष्ण ने और वेद भगवान ने स्पष्टत: समानता का उपदेश दिया। योग में इन खाईयों को भरने के लिए यम-नियमों का बढ़ चढ़ कर वर्णन किया गया। ताकि लोग योग की

...लता को जान सकें। जिसकी प्राप्ति के बाद केवल आत्मा बचती है, सांसारिक मोह समाप्त हो जाता है। मनुष्य का मनुष्य से ही नहीं अपितु ऐसे मनुष्यों के पास हिंस्र जीव जन्तु भी हिंसा-मार्ग छोड़ कर अहिंसक हो जाते हैं। वातावरण शान्त हो जाता है और कहीं भी वैमनस्यता का सन्देश नहीं मिलता। "सन्तोष" का समुचित लाभ पाने वाले कभी राजतन्त्र से नहीं डरते, ऐसे देश कभी अशान्ति एवं असभ्य नहीं हो सकते हैं। ज्ञान विज्ञान का आदान प्रदान होने लगता है और समाज विकास की गति को पकड़ता है, परन्तु यह तभी हो सकता है जब नैतिक शिक्षा पर बल दिया जाये। सभी दृष्टिकोणों एवं सभी कारणों को परखकर उनमें से अच्छाईयों को ग्रहण कर, बुराईयों को एक स्वर से नकारा जाये, तभी योग की शिक्षा सफल कही जा सकती है। इन्हीं के साथ ही साथ चिन्तन बढ़ता है तो मनुष्य तर्क वितर्क से एक दिन अवश्य कुछ न कुछ प्राप्त कर ही लेता है और प्राप्ति के लिए उसे भूख प्यास की भी बलि दे देनी पड़ती है। क्योंकि क्षुधा पिपासा जहाँ मनुष्य की परम मित्र हैं, वहीं शत्रु भी हैं। जो इस पर विजय प्राप्त कर लेते हैं, वही विश्व विजयी भी होते हैं। इसलिए भी योग की शिक्षा ने अनुसन्धान के लिए विषय चयनार्थ विवश किया था।

<u>विषय पंजीकरण</u>

विषय के पंजीकरण से पूर्व ही मैंने विचार करते हुये मन को स्थिर कर लिया था कि मैं अपने परम गुरु देवी भगवति के परम उपासक निर्मल हृदय साधारण से दिखाई देने वाले परन्तु अपने विषय के प्रकाण्ड विद्वान जिनकी स्तुति लगभग एम0ए0 कक्षा में पढ़ने वाले छात्र करते रहे, उन्हीं डॉ0 जागीर सिंह जी को ही प्राप्त करूंगा और इन्हीं से विचार विनिमय करूंगा, तब गुरु जी जो

भी कहेंगे उसे भी सिरमाथे अंगीकार करूंगा । क्योंकि गुरू जी की प्रेरणा से ही उनके मार्ग से हम अस्थाई छात्रों को एम०ए० द्वितीय सत्र का परिणाम आने के पूर्व ही विश्वविद्यालय के सदस्यों ने हमारे प्रार्थनापत्र को पढ़कर विचार करके कक्षा में स्थायित्व प्रदान किया था । जिसके प्रणेता सूत्रकार के विषय में हो सकता है जिसको याद हो लेकिन मैं तो कह ही सकता हूं कि मार्ग द्रष्टा डॉ० जागीर एवं असिस्टेन्ट रजिस्ट्रार, डीन आफ फैकल्टी श्री गुलशन राज जी थे । तभी यह विचार था अब यह ऋण चुकाऊंगा और डॉ० जी की ही आज्ञा का पालन करूंगा । उन्हीं से विचार विनिमय करने पर उन्होंने आशीर्वाद देते हुये कहा कि आप जिस विषय का चयन कर रहे हो इस पर काम तो बहुत हुआ है अतः काश्मीर शैव दर्शन पर काम कर लें अच्छा रहेगा । परन्तु मन स्थिर था गुरू जी को अपनी व्यथा सुनाई कि यद्यपि इस पर काम बहुत हुआ है, परन्तु इस पर जो काम हुआ है वह केवल आध्यात्मिक परक है, कभी किसी का ध्यान ही नहीं गया कि वे यम नियमों को नैतिक शिक्षा के रूप में लेकर इसके लिए सामाजिक दृष्टि से काम करता । इन सबके अतिरिक्त दूसरी अहं बात यह था कि योग दर्शन को पढ़कर एवं उस पर हुये अनुसन्धानों को पढ़कर भी लगा कि इन लोगों ने योग को केवल पुराणों तक ही पढ़कर अनुसन्धान किये किसी की भी पहुंच कम या अधिक वेदों तक नहीं रही । यदि किसी ने ऐसी वेदपरक शैली से काम किया होता, तो मैं अवश्य ही इससे पीछे हटता, परन्तु यम-नियम एवं वेद तक पहुंचने के विचारों को गुरू जी ने भी स्वीकार किया और मैंने भी गुरू जी की आज्ञा का पालन करते हुये उनकी बात भी मान ली कि ठीक पातंजल योगदर्शन के साथ ही साथ काश्मीर शैव दर्शन पर भी काम

करूँगा ताकि दोनों की परिपाटी एवं शिक्षा का भी ज्ञान हो जायेगा । तब उन्होंने कहा कि विषय एमण गम्भीर हो जायेगा मैंने हाथ जोड़ते हुये कहा कि गुरु जी मजा आयेगा और पता भी चलेगा कि काम कैसे होता है ? फिर उन्होंने कहा कि योग का कम से कम अभ्यास भी होना चाहिये, क्योंकि यह विषय अन्य विषयों से थोड़ा नहीं अत्यधिक भिन्न है। इसमें कम से कम सिद्धहस्त होना चाहिये तब उत्तर था कि गुरु जी तभी तो आपकी कृपा से इसमें हाथ डाला है, ताकि जो योग विषयक अन्तःकरण में धारणायें बनती थी तथा जो ऊहा-पोह होता था उसका अध्ययन करने को मिलेगा तथा जो प्राप्त होगा उसे भी पटल पर रखने का सुअवसर मिलेगा क्योंकि कुछेक ऐसी प्राणायामादि क्रियायें थी जो 15 वर्ष आयु से ही हम कर रहे थे । विषय निर्धारित हुआ और मन स्थिर करते हुये प्रपत्र बनाकर (Synopsis) तैयार करके स्वविभाग के समक्ष प्रस्तुत किये, वहाँ विभाग ने स्वीकृति प्रदान की और 30-9-1996 को "योग - एक अध्ययन " (पातंजलयोगसूत्र एवं विज्ञान भैरव के आधार पर) जमा हुआ जिसको विश्वविद्यालय द्वारा निर्धारित विषय चयन सभा के सदस्यों ने अपनी स्वीकृति प्रदान की। इस प्रकार से विषय स्वीकृत हो जाने पर प्रसन्नता हुई क्योंकि इससे पूर्व कुछ लोगों के विषय वापस मुड़ते हुये देखे थे । जिन्हें देखकर सोचता था कि कहीं मेरे साथ भी ऐसा न हो जाये । इन्हीं बातों की सोच में डूबा कभी भगवान एवं भगवती से पूजा में बैठकर प्रार्थना करता और कभी अपने को मिलने वाले निरीक्षक जी से बात करता जिनकी कृपा से आज कार्य सम्पन्न होने जा रहा है । मेरा विषय इस प्रकार से था जिसका नाम योग - एक अध्ययन - पातंजल योग सूत्र एवं विज्ञानभैरव के आधार पर ।

इसको सात अध्यायों में विभाजित किया गया है -

प्रथम अध्याय

इस अध्याय के अन्तर्गत योग शब्द पर प्रकाश डाला गया है और जो सबसे महत्वपूर्ण स्थान है वह योग का परिचय है। जिसकी महत्वता को वेदों में भी पढ़ने को मिलता है। लगभग तीनों वेदों में से कुछेक मन्त्रों के माध्यम से योग के महत्व को वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त इसी अध्याय में कहा गया है योग से साधारण जनता क्यों डरती है, इसे काला जादू की संज्ञा क्यों मिली और इसका सामान्य जनों से लेकर उच्च शिक्षा प्राप्त लोगों जैसे वैज्ञानिकों चिकित्सकों शिक्षाविदों एवं अभिभावकों के लिए कितनी आवश्यकता है और महत्व है। ये सब स्पष्ट प्रतिपादित हैं। इसके विषय में सामान्य अवधारणा क्या है और इसके विशेष उपयोग से कितने लाभ ये सभी विचार प्रकटित किये गये हैं।

द्वितीय अध्याय

द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत महर्षि पतंजली जी का जीवन परिचय एवं कृतियों को समाविष्ट किया गया है। इनके अतिरिक्त पातंजल योग सूत्र पर वार्तिककारों द्वारा की गई वार्तिकों भाष्यों की गणना है।

तृतीय अध्याय

इस अध्याय के अन्तर्गत योग की सफलता का परिचय मिलता है। जिसमें योग और मनोविज्ञान को प्रदर्शित किया गया है। चित्त एवं चित्तभूमियों - वृत्तियों-संस्कार -विघ्न-(अन्तराय) सहभुव (विघ्नों के दो अन्य सहायक) अर्थात् विक्षेप, अष्टांग योग है, जिनमें यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-

धारणा - ध्यान समाधि का वर्णन प्रस्तुत किया गया है । समाधि, सम्प्रज्ञात एवं असंप्रज्ञात समाधि, समाधि भेद ईश्वर, ईश्वर योग एवं जीव का आपसी सम्बन्ध तथा कैवल्य की प्राप्ति (मोक्ष) का सुस्पष्ट वर्णन किया गया है । यहाँ तक पातंजल योग दर्शन का विषय रहा है ।

चतुर्थ अध्याय

इसमें विज्ञान भैरव का परिचय, लेखक, काल एवं भाष्य रहा है ।

पंचम अध्याय

इस पाठ के अन्तर्गत विज्ञान भैरव का परम तत्व का निरूपण अर्थात् परमाशिव पर प्रकाश डाला गया है कि विज्ञान भैरवकार ने इसे किस प्रकार से सुस्पष्ट किया है ।

दूसरा मुख्य प्रश्न उपाय रहा जिसमें एक सौ बारह (112) धारणाओं का सुस्पष्टीकरण है तथा धारणा के साथ ही साथ ध्यान एवं समाधि योग है । इन सबके अतिरिक्त अन्य प्रश्न विज्ञानभैरव के अनुसार जगत के सत् होने विषय में मत प्रस्तुत किये गये हैं । जीव विषयक प्रश्न हैं तथा बन्ध एवं मोक्ष का वर्णन मिलता है जिन्हें विज्ञानभैरव शैली से सुस्पष्ट किया गया है ।

षष्ठ अध्याय

इसके अन्तर्गत विज्ञान भैरव का तन्त्रागमों में स्थान है तथा दूसरा प्रश्न है - पातंजल योगसूत्र एवं विज्ञानभैरव का तुलनात्मक अध्ययन ।

<u>सातवां अध्याय</u>

इसमें सम्पूर्ण प्रतिपाद्य विषय का सार तत्व दिया गया है । इस अध्याय में उपसंहार को ही रखा गया है ।

इस प्रकार से सात अध्यायों में विभाजित कार्य जिसको विश्वविद्यालय पारसंघ ने अनुमोदित किया था और जिस संकल्प को पूर्ण करने के लिए परम आदरणीय महोदय डॉ० जागीर सिंह ने शपथ दिलाई थी, वह आज उन्हीं की कृपा एवं भगवान की महान अनुकम्पा से लिपिबद्ध होने जा रही है । आशा है कि भगवान की तरह ही आप विद्वानों का इस मन्दमति पर अनुग्रह हुआ, तो यह लिपिबद्ध होने के पश्चात् आपके द्वारा अनुमोदित भी हो ही जायेगी ।

×××××
×××
×


भूमिका

भूमिका

इस संसार में आकर जीवन-संग्राम में अपने को विजयी बनाना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है । अन्य जीवित प्राणियों के समान मनुष्य भी अपने को जीवित बनाये रखने के लिए निरन्तर संघर्ष बनाये रहता है । कभी वह लड़ता है अपनी विरोधी परिस्थितियों से और कभी वह संघर्ष करता है उसे दबाने वाले प्रतिपक्षी शत्रुओं से । भेद इतना ही रहता है कि अन्य जीव बिना विचार किये केवल स्वाभाविक प्रवृत्ति के वशीभूत होकर जीवन-संग्राम में लगता रहता है, परन्तु मनुष्य विवेक-प्रधान जीव होने के कारण प्रत्येक अनुष्ठान के अवसर पर अपनी विचार शक्ति का उपयोग करता है , चाहे इसका ध्यान उसे रहता है या नहीं, पर उपयोग करता है वह अवश्य । शान्त चित्त से विचार करने पर प्रतीत होगा कि प्रत्येक मानव दृश्य या अदृश्य जगत्-विषयक कतिपय श्रद्धाओं , विचारों तथा कल्पनाओं का एक समुदायमात्र है ।

'दर्शन' शब्द का व्युत्पत्ति - लभ्य अर्थ है - दृश्यते अनेन इति दर्शनम् = जिसके द्वारा देखा जाय । पाश्चात्य विचारशास्त्र की सामान्य संज्ञा 'फिलासफी' है । यह शब्द दो ग्रीक शब्दों के संमिश्रण से बना हुआ है ---'फिलास '= प्रेम या अनुराग तथा 'सोफ़िया '=विद्या । अतः इस शब्द का अर्थ है विद्या का प्रेम = विद्यानुराग ।

इस तरह 'दर्शन' हमारे जीवन के साथ अनुस्यूत है । हम उसे अपने जीवन से पृथक् नहीं कर सकते । यदि किसी प्रकार कोई उसे निकाल कर अलग फेंकने का दुःसाहस करे , तो उसका जीवन बुद्धि-जीवी चेतन प्राणी का जीवन न होगा, वह तो नैसर्गिक प्रवृत्तियों के दासभूत्त पशु का जीवन होगा इसलिये

पशुओं के साथ आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन के विषय में समानता होने पर भी मनुष्य की सबसे बड़ी विशेषता है --- धर्म = धारण करने वाला वस्तुसमुदाय, उसका विवेक, उसका विचार या उसका दर्शन।

कौन पदार्थ देखा जाये ? वस्तु का सत्यभूत तात्विक स्वरूप। हम कौन हैं ? कहां से आये हैं ? इस सर्वतो दृश्यमान जगत् का सच्चा स्वरूप क्या है ? इसकी उत्पत्ति कहां से हुई ? इसकी सृष्टि का कौन कारण है ? यह चेतन है या अचेतन ? इस संसार में हमारे लिये कौन से कार्य कर्तव्य हैं ? जीवन को सुचारू रूप से बिताने के लिये कौन सा सुन्दर साधन-मार्ग है ? आदि प्रश्नों का समुचित उत्तर देना 'दर्शन' का प्रधान ध्येय है। दर्शन को शास्त्र कहते है। शास्त्र का अर्थ क्या है ? 'शास्त्र' शब्द की व्युत्पत्ति आगम ग्रन्थों में इस प्रकार बतलाई गई है -

शासनात् शंसनात् शास्त्रं शास्त्रमित्यभिधीयते।
शासनं द्विविधं प्रोक्तं शास्त्रलक्षणवेदिभिः।
शंसनं भूतवस्त्वेकविषयं न क्रियापरम्।

'शास्त्र' की व्युत्पत्ति दो धातुओं से है --- शास् = आज्ञा करना तथा शंस् = प्रकट करना या वर्णन करना। शासन करने वाले शास्त्र विधिरूप तथा निषेधरूप होने से दो प्रकार के होते हैं। श्रुति तथा स्मृति प्रतिपादित कार्य अनुष्ठान करने योग्य हैं (विधि) तथा निन्दित कर्म-कलाप सर्वथा हेय है (निषेध)। अतः 'शासन' अर्थ में 'शास्त्र' शब्द का प्रयोग धर्मशास्त्र के लिये उपयुक्त है। 'शंसक' शास्त्र अथवा बोधक-शास्त्र वह है जिसके द्वारा वस्तु के सच्चे स्वरूप का वर्णन किया जाय। शासन-शास्त्र क्रिया-परक होता है, पर शंसक-शास्त्र ज्ञान-परक होता है। शंसक-शास्त्र के अर्थ में ही शास्त्र का प्रयोग

'दर्शन' शब्द के साथ होता है । धर्म शास्त्र कर्तव्याकर्तव्य का प्रधानतया विधान करने में 'पुरूष परतन्त्र ' है पर दर्शनशास्त्र वस्तु के स्वरूप का प्रतिपादक होने से 'वस्तुतन्त्र ' है ।

इस 'योग एक अध्ययन --- पातंजलयोग सूत्र एवं विज्ञान भैरव के आधार पर' का शुभारम्भ वेदों से किया गया है । श्रुति, स्मृति एवं पुराणों तक से इसकी सफलता के लिए विशेष सहायता ली गई है ।

वेद

विशेषकर ऋग्वेद, यजुर्वेद एवं रूद्राष्टाध्यायी और सामवेद संहिता से ही विशेष सहायता ली गई है । अथर्ववेद से सम्पर्क नहीं हो सका है । जबकि इस कार्य में उपनिषदों का विशेष योगदान भी रहा है । इनमें बृहदारण्य कोपनिषद ईशावास्य कठोपनिषद्, माण्डूक्य, मुण्डको, प्रश्नोपनि० छान्दोग्य, श्वेता श्वतरोपनिषद् मुख्य रहे हैं ।

स्मृति

इसके अन्तर्गत मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य, दक्ष अत्रि, बौधायन, पाराशर , आश्वलायन हारीत, शंख आदि प्रमुख रही हैं ।

पुराण

पुराणों से भी बहुत से उदाहरण लिए गये हैं जिनमें मुख्यत: मार्कण्डेय पुराण शिव पुराण, लिंग पुराण, कूर्म पुराण विष्णु पुराण, गरूड़ पुराण एवं भागवतपुराण मुख्य रहे हैं ।

इन सबके अतिरिक्त महाकाव्यों में वर्णित योग शब्द के सम्बन्ध में क्या-क्या भाव रहे सहायता ली गई है ।

जबकि ज्योतिष शास्त्रों से भी इसके विषय सम्पादन में सहायता ली गई है । जिनमें बृहत्पाराशर होरारत्न, मानसागरी तथा ज्योतिष तत्व चिन्तामणि एवं देवि दयालु पञ्चांग की मुख्य भूमिका रही है । जबकि आधुनिक भारतीय दर्शन के महान् स्तम्भ कहे जाने वाले लेखकों एवं व्याख्याकारों की कृतियों की अहं भूमिका रही है जिनमें सर्वदर्शन संग्रह बलदेव उपाध्याय का भारतीय दर्शन का इतिहास एवं डॉ0 कुंवर लाल व्यास शिष्य की रचना भारतीय दर्शन से भी अनेक मत पुष्ट करने में सहायता ली गई है ।

इसी विषय के अन्तर्गत दो सम्प्रदाय विशेष का समावेश है । जिनमें प्रथम पातंजल योग दर्शन का तो पूर्व उल्लेख हो ही चुका है जबकि दूसरा काश्मीर शैव दर्शन की महान् आगम शास्त्र माना जाने वाला विज्ञान भैरव नामक शास्त्र रहा है जिसमें वर्णित विषयों की पुष्टि के लिए काश्मीर शैव दर्शन से सम्बन्धित दर्शन शास्त्रों की महत्वपूर्ण सहायता ली गई है जिनमें तन्त्रालोक, प्रत्यभिज्ञा हृदय, योगिनी हृदयदीपिका , वसुगुप्त के शिवसूत्र, स्पन्दकारिका, स्पन्द निर्णय, स्वच्छन्दशास्त्र आदि आदि शास्त्रों का मुख्य योगदान रहा है । इन सभी शास्त्रों से लिए गये मतों से पातंजल योग दर्शन एवं विज्ञान भैरव के मतो की पुष्टि में बल मिला है । यह कृति इतनी महान् तो नहीं है फिर भी आशा है कि यह पढ़ने वालों को थोड़ा बहुत अवश्य आकर्षित करेगी ।

xxxxx

xxx

x

प्रथम अध्याय

योग विषयक अन्वेषण

योग विषयक अन्वेषण

योग का अभिप्राय

योग = युजिरे योगे (युज् समाधि अर्थ में भावादि घञ्) प्रत्यय से योग शब्द की सिद्धि होती ।[1]

योग का अभिप्राय अमरकोश के अनुसार अनेक प्रकार से है जैसे - कवच, सामदामभेददण्डनीति आदिउपाय, ध्यान, संगति, युक्ति ।[2]

मेदिनी में विश्वासघात, व्यायाम, विष्कम्भादि ज्योति के सताईस योग, ज्योतिषशास्त्र में वर्णित द्विग्रह योग एवं त्रिग्रहयोगः एवं पञ्चग्रही योग, दवा अर्थ में चरकादि शास्त्रो में तथा अन्यत द्रव्योपाय एवं कर्मयोग, ज्ञानयोग भक्तियोग प्रेमयोग इत्यादि वर्णित हैं । तस्मा, डोरी, रस्सी भी लिया गया है ।

जबकि अभिज्ञान शाकुन्तलम् में योग से अभिप्राय इस प्रकार से हैं जैसे जोड़ना, मिलाना मिलाप, संगम, मिश्रण है ।[4]

किरातार्जुनीयम् में अत्यधिक गुणों में महत्वता एवं महान के लिए योगः है ।[5]

---

1. युजिरेयोगे = युज् समाधी भावादि घञ् = योगः -पानीनीय व्याकरण (अष्टाध्यायी) आत्मनेपदिविधा ..... सू० 3/3/18
2. योगः - संनहनो पायध्यान संगति युक्तिषु इत्यमरः ।-अमरकोश: पृ० 548
3. योगोऽपूर्वार्थ संप्राप्तौ संगतिध्यानयुक्तिषु, वपुःस्थैर्यप्रयोगे च विष्कम्भादिषु भेषजे । कार्मणेऽपि च ।। - इति मेदिनी 23/18-19 (अमरकोश: पृ० 548)
4. युजभावादौ घञ् कृत्वं - उपरागान्ते शशिनः समुपगता रोहिणी योगम् ।।
   अ० शकुन्त० 7/22
5. गुण महतां महते गुणाययोगः । - किरातार्जु० - 10/25

मध्य कालीदास के रघुवंश महाकाव्य के अनुसार सूर्य के उदित काल के समय जो योग बना है वह सूर्य को प्रताड़ित दुःख दे रहा है के रूप में प्रयुक्त हुआ है ।[6]

योग का प्रयोग सम्पर्क - स्पर्श - संबंध के रूप में भी प्रयोग में लाया गया है ।[7]

मनुस्मृति में योग शब्द का अर्थ कहीं कहीं काम में लगाना, प्रयोग, इस्तेमाल के रूप में भी हुआ है ।[8]

इसी उपरि लिखित रूप से ही रघुवंश में भी प्रयोग आदि के रूप में हुआ है ।[9]

हितोपदेश में - पद्धति, रीति, क्रम, साधन इत्यादि रूप में पाठ मिलता है ।

फल एवं परिणाम के रूप में भी कुमार सम्भव महाकाव्य से उपलब्ध है ।[10]

जुआ-सवारी-वाहन - गाड़ी - सवारी - योग्यता, औचित्य उपयुक्तता के रूप में भी उपलब्ध है ।[11]

---

6. वां योगस्तडितोदयोर्शास्तुयोग: । - रघु0महाका0 6/65
7. तमड.तकमारोप्य शरीरयोगजैः ।। सुखैर्निषिञ्चन्तमिवामृतं त्वचि ।।
-रघु0 3/29
8. एतैरुपाययोगैस्तु शक्यास्ताः परिरक्षितुम् ।।-मनुस्मृति 9/10
9. एतैरुपाययोगैस्तु शक्यास्ताः परिरक्षितुम् ।। - रघु0 - 10/86
10. कथा योगेन बुध्यते ।। - हि0 ।१।1
11. रक्षायोगादयमपि तपः प्रत्यहं संचिनोति ।।-कु0 7/15 एवं शाकु0 2/17

व्यवसाय, कार्य-व्यापार, दाव पेंच , जालसाजी , कूट चाल ।

तरकीब, योजना, उपाय, कोशिश, उत्साह, परिश्रम अध्यवाय जैसे अर्थों में मनुस्मृति में प्रयुक्त हुआ है ।

उपचार, चिकित्सा, इन्द्रजाल, अभिचार, मन्त्रयोग, जादू, जादू-टोना, लब्धि, अवाप्ति, अभिग्रहण, धन, दौलत, द्रव्य , नियमविधि, पराश्रय, सम्बन्ध, नियमित, आदेश या संयोग, एक शब्द की दूसरे शब्द पर निर्भरता, निर्वचन या अर्थ की दृष्टि से शब्द व्युत्पत्ति, शब्द के निर्वच मूलक अर्थ = रूढ़ी ॥ इत्यादि रूप में वाचस्पत्यम् से उपलब्ध होता है जबकि आगे भी इसी शास्त्र में स्पष्ट है जो हारीत ही लिखते हैं कि योग से अभिप्राय मोक्ष प्राप्ति है - इसी को अपनाकर मुमुक्षु मोक्ष प्राप्त करते हैं ।[12]

शंखस्मृति ने योगान्तर्गत शाखा को ग्रहण कर कहा है कि आत्मदर्शन एवं ब्रह्मयज्ञ के लिए वेदाध्ययन रूपी स्वाध्याय करना चाहिये ।[13]

शंखस्मृति कहती है कि सभी की हित की सोचने वाला मैत्री भाव रखने वाला पत्थर एवं सोने को समान जानने वाला ध्यान योग में निरत योगी (यति परागति (परमगति) को प्राप्त होता है ।[14]

---

12. योगशास्त्र प्रवक्ष्यामि संक्षेपात् सारमुत्तमम् ।
यस्य च श्रवणात् यान्ति मोक्षञ्चैवमुमुक्षव: ।।-हा०स्मृ०अ० 7श्लो० -2

13. देवयज्ञ: भूतयज्ञ: पितृयज्ञस्तथैव च ।
ब्रह्मयज्ञ नृयज्ञश्च पञ्चयज्ञाप्रकीर्त्तिता: ।।-शंख स्मृ०अ० 5, श्लो० -3

14. सर्वभूतहितो मैत्र समलोष्ट्राश्म काञ्चन: ।
ध्यानयोगरतोनित्यं भिक्षुर्यायात् परां गतिम् ।।-शं०स्मृ० अ० 7 श्लो०-8

योगज्ञ = योगी दोष रहित होता है ऐसा अत्रि स्मृति का कथन है ।[15]

ईशावास्योपनिषद् का उपदेश एकत्व परमात्मत्व दर्शन है[16] और समत्व बुद्धि को रखना पाया गया है जो इस मार्ग को अपनाकर देखता है उसे किसी प्रकार की घृणा एवं मोह तथा शोक पतित नहीं करते हैं ।[17]

कूर्मपुराण के अनुसार परमात्मा में योग विधि से विलीन होने को ही महायोग कहते है और वह (योग) द्विविध है । एक अभाव योग तथा द्वितीय महायोग ।[18]

महायोग ही सर्वश्रेष्ठ योग है जिसमें नित्य निरञ्जनानन्द नित्यानन्द स्वरूप निरन्तर निरञ्जन आत्मा एवं परमात्मा से अभेद की प्रतीति होती है वही परमेश्वर स्वरूप महायोग है ।[19] और अभाव योग वह जो केवल आत्मदर्शन

---

15. योग शास्त्राभियुक्ते च न दोषः परिवेदने ।।–अत्रि स्मृ० श्लो०–16
16. यस्तु सर्वाणिभूतानि आत्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ।।– ई०उ० –6
17. यस्मिन सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः क शोक एकत्वमनुपश्यतः ।। – ई० उ० – 7
18. योगस्तुद्विविधो ज्ञेया ह्यभाव प्रथमोमतः ।
अपरस्तु महायोगः सर्वयोगोत्तमोत्तमः ।। – 5
19. यत्र पश्यति चात्मानं नित्यानन्दनिरञ्जनम् ।
ममैक्यं स महायोगो भाषितः परमेश्वरः ।। – 7

तक ही सीमित रखता है । इससे परे जो यौगिक क्रियायें हमें खण्ड-खण्ड दृष्टि से मिलती हैं वही सम्पूर्ण कड़ियें परस्पर मिलने से योग से महायोग बनती हैं ।[20]

अतः भिन्न किसी एक कड़ी को अपनाने से योग पूर्ण नहीं होता है । तभी कूर्मपुराण ने धारणाओं को योग की सोहलवीं कला के समान माना है ।[21]

लिंग पुराण के अनुसार योग का अभिप्राय अष्टाङ्गयोग से है एवं परमपद अर्थात् माहेश पद प्राप्त होता है ।[22]

कठोपनिषद् के मतानुसार मन का वशीकरण ही योग है जिसे वश में करते हुये इन्द्रियों को लौकिक विषयों से हटाकर परमार्थ तत्व में लगाता है वही योग है जिसके फलस्वरूप पौनपुन्येण मनुष्य को जन्म नहीं लेना पड़ता ।

जो विवेकशील मनुष्य बुद्धि रूप सारथी से सम्पन्न मन रूप लगाम को वश में रखने वाला है, वह संसार मार्ग को चीरता हुआ पार पहुंच कर सर्वव्यापी पर ब्रह्म पुरूषोत्तम भगवान के सुप्रसिद्ध परम पद को प्राप्त हो जाता है । यही परागति है ।[23]

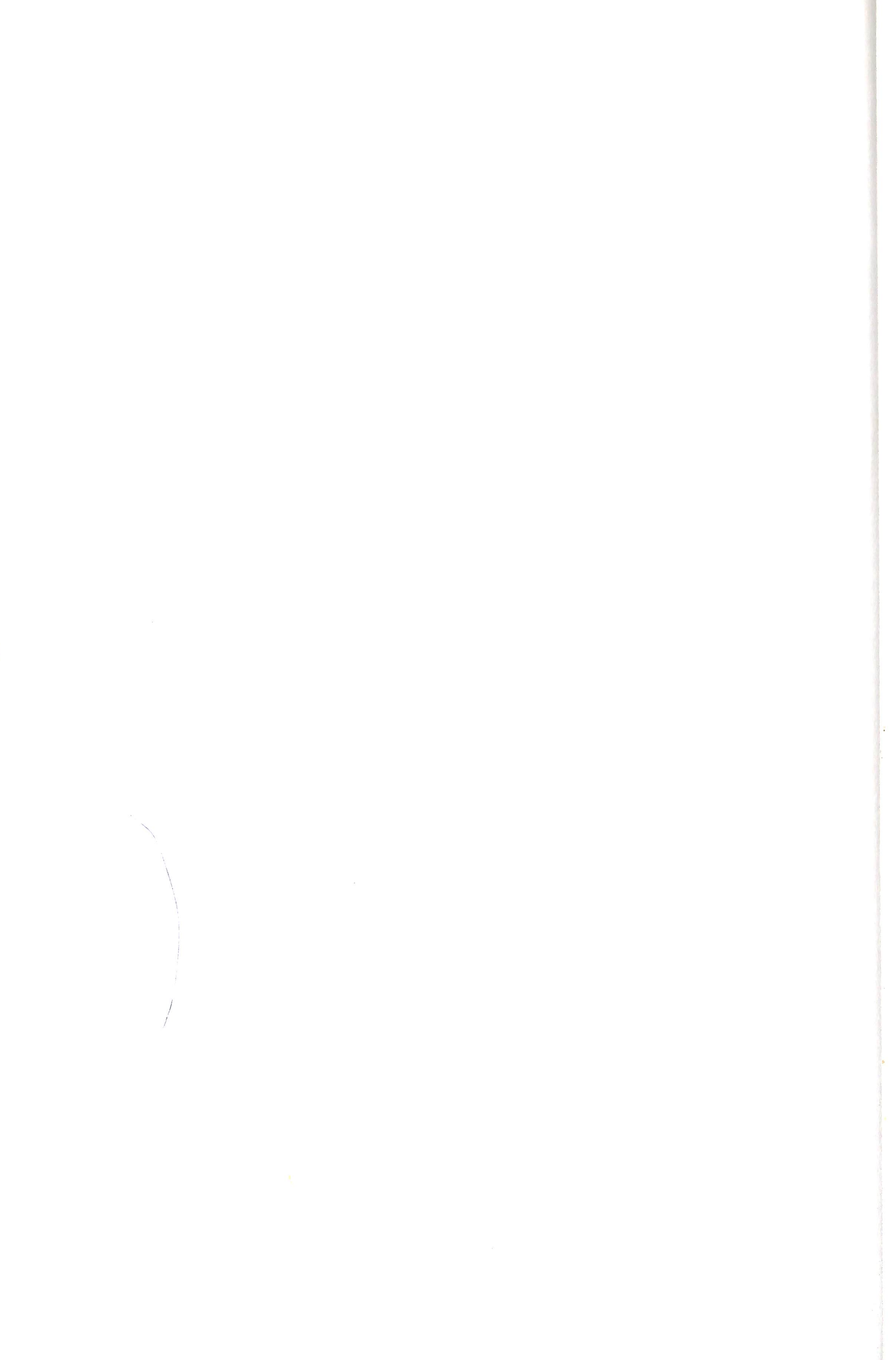
---

20. शून्यं शून्य निराभासं स्वरूपं यत्र चिन्तयते ।
अभावयोगः स प्रोक्तो येनात्मानं प्रपश्यति ।। - 6

21. ये चान्ये योगिनां योगाः श्रूयन्ते ग्रन्थ विस्तरे ।
सर्वे ते ब्रह्मयोगस्य कलां नार्हन्ती षोऽशीम् ।। - 8
कू0पु0 उपरिविभागे अ0 एकादश श्लो0 5-8

22. योगशब्देन निर्वानं माहेशं पदमुच्यते ।। 5 पूर्वार्द्ध {लिंगपुराण}
साधनानि चाष्टधा चास्य कथितानीह सिद्धये ।।-लिंगपुराण पृ0 -88/89

23. यस्तु विज्ञानवान भवति समनस्कः सदा शुचि ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयोन जायते ।।
विज्ञान सारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान् नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णो परमं पदम् ।।-कठोपनिषद्, अ0-1, वल्ली-3 मं0-8/9



कठोपनिषद के अध्याय द्वितीय एवं वल्ली 3 के मन्त्र एकादश में योग का स्पष्ट: उल्लेख हुआ है जिसमें कहा गया है कि उस इन्द्रियों की स्थिर धारणा को ही योग मानते हैं, क्योंकि उस समय साधकगण प्रमादरहित हो जाता है।[24] योग उदय एवं अस्त होने वाला है इसलिए मनुष्य को योग से अभिप्राय नित्याभ्यासी बने रहना चाहिये।[25]

मुण्डकोपनिषद का योग से अभिप्राय परमात्मा को केवल उपाय एवं बारम्बार प्रयत्न से ही प्राप्त किया जा सकता है न कि बल से या प्रमाद या तप से ही प्राप्त किया जा सकता है।[26]

श्वेताश्वतरोपनिषद ने भी आत्मज्ञान एवं परमात्म तत्व के मार्ग का निरूपण करते हुये कहा है कि जो एक नित्य चेतन {परमात्मा} बहुत से कर्मफल भोगों का विधान करता है उस ज्ञानयोग एक कर्मयोग से प्राप्त करने योग्य सबके कारणरूप परमदेव परमात्मा को जानकर समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है। अत: योग से अभिप्राय यहां भी मोक्ष रूप ही प्राप्त किया गया है।[27]

---

24. महत: परमव्यक्तम व्यक्तात् पुरुष: पर: ।
पुरुषान्नपरं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गति: ।। -कठो0अ0-1 व03, मं0 - 11

25. तां यो गमिति मन्यन्तेस्थिरमिन्द्रियधारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगोहि प्रभवाप्ययौ ।। -वही- 2, व0-3 मं0-11

26. नायमात्मा बलहीनने लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात्। एतैरुपायै-र्यतते यस्तु विद्वां स्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम् -मुण्डकोपनिषद, मु0-3 ख-2, मं0 -4

27. नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां जो विदधातिकामान् ।
तत्कारणं सांख्य योगाधिगम्यं, ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशै: ।। -
श्वेताश्व0उ0 अ0 -6 म0 - 13

गीता में योग से अभिप्राय अनेकार्थक है जैसे समत्वयोग एवं स्थिर समाधि को लिया गया है जबकि कर्म योग ज्ञान योग एवं भक्ति योग की तो गीता में सर्वत्र संस्तुति की गई मिलती है ।[28]

भागवत महापुराण के अनुसार भी योग से अभिप्राय ज्ञान योग एवं कर्मयोग रहा है जबकि भक्ति योग के साथ ही साथ क्रिया योग भी दृष्टिगोचर होता है ।[29]

समत्वयोग का ही अपरनाम मैत्रीयोग या प्रेमयोग सिद्ध होता है ।[30] क्योंकि गीता में लिखा भी है कि जो राग द्वेष से रहित होकर सबको समान भाव से मान बैठाता है और सबमें मुझको एवं मुझको सब में तथा जो सर्वत्र अपने को और सब को अपने में देखता है वही समत्व है ।[31]

योग विषयक है जैसे - गम्भीर भावचिन्तन, मन का सकेन्द्रीकरण, परमात्मचिन्तन जिसे योग दर्शन योगश्चित्त वृत्ति निरोधः कहते हैं । जैसे कि कु० सम्भव में सती के विषय में आता है कि सतीन ने योग साधना से शरीर त्याग किया था ।[32]

---

28. योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो विधित्सया ।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित ।।

29. निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु ।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम् ।।

30. यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान् ।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः ।।
- श्रीमद्‌० भा०म० पु० स्क० -11, अ०-20, श्लोक - 6 - 8 ।

31. रागदोषवियुक्तैस्तु॥ सर्वभूतस्थात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योग युक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ।।

32. सती सतीयोगविसृष्टदेहा: ।। -कु०सं०म० काव्य - 1-21

जैसे रघुवंश महाकाव्य में महाकवि कालीदास लिखते हैं कि योग के द्वारा शरीर का त्याग करना चाहिये ।[33]

पतंजली द्वारा स्थापित दर्शन पद्धति जो सांख्य दर्शन दर्शन का ही दूसरा भाग है समझा जाता है, परन्तु व्यवहारत: एक सेश्वर पृथक् दर्शन है ।

योग दर्शन का मुख्य सिद्धान्त उन उपायों की शिक्षा देना ही योग है । जिसके द्वारा मानव आत्मा पूर्णरूप से परमात्मा में मिल जाय और इस प्रकार मोक्ष की प्राप्ति हो जाये उसी मार्ग का नाम योग है । ऐसा भावार्थ वाचस्पत्य नामक शास्त्र से उपलब्ध होता है ।[34]

ज्योतिष के अनुसार विष्कम्भादि सत्ताईस योग, विष्कम्भ प्रीति आयुष्मन् सौभाग्य , शोभन , अतिगण्ड, सुकर्मा, धृति, शूल , गण्ड, वृद्धि, ध्रुव व्याघात् , हर्षण, वज्र, सिद्धि, व्यतिपात, वरीयान परिघ, शिव , सिद्धि साध्य , शुभ , शुक्ल, ब्रह्म ऐन्द्र एवं वैधृति नाम से प्रसिद्ध हैं ।[35]

अन्यत्र - ज्योतिष में ही प्रसिद्ध रूचकादि पञ्च महायोग - रूचक , भद्र , हंस, मालव्य एवं शश योग ।[36]

---

33. योगेनान्ते तनुत्यजाम् ।। रघु० 1/8
34. वाचस्पत्यम् शास्त्र - योगार्थ व्याख्या
35. विष्कम्बादि - ज्योति० शास्त्र०
36. योगारूचकाख्या भद्रहंसाख्यमालव्यशशाभिधाना: ।।-मा०सा०अ०-4, श्लो०-2
    सुनकायां भौम सयोगे ।। 2 मा०सा० पृ० - 269
    बुधस्य गुरूणा योगे नृत्यवाद्यविचक्षण: ।
    धैर्ययुक्त: पण्डितश्च सुखी भवति मानव: ।।-मा०सा० 16, पृ० - 139
    चन्द्रचान्द्रि कुजैर्योगे नीचाचारश्च पापकृत ।।-16, मा०सा०, पृ० - 143

रूचक – मंगल से मेष वृश्चिक या उच्च मकर राशीस्थ होने से लागू होता है ।

भद्र – बुध से मिथुन कन्या राशीस्था केन्द्रस्थ होने से घटित होता है ।

हंस – बृहस्पति से – धनु, मीन एवं कर्क राशीस्था केन्द्र में होने से घटित होता है ।

मालव्य – शुक्र से – वृष–तुला या मीन में होकर केन्द्रस्थ होने से घटित होता है ।

शश – शनि के केन्द्र में मूल त्रिकोण या उच्च राशी में स्थित होने से घटित होता है । इन्हें भी एवं सुनफादि योग:

द्विग्रही त्रिग्रही इत्यादि योग –

जैसे बुध – गुरू योग –

चन्द्र बुध एवं कुज योग

चरक संहिता में शारीरिक एवं मानसिक सन्तुलन का सम बने रहना ही सुखमय योग है ऐसा पाठ मिलता है अर्थात् जीवन का सुखमय बना रहना ही योग है ऐसा चरक का मत है ।[37]

सामवेद में कहा है कि मन के साथ बुद्धि को संयुक्त करके योग मार्ग से परमेश्वर को प्राप्त करना है ।[38]

शुक्ल यजुर्वेद में मन को शुभ शिवमय संकल्पों से स्थिर करके अन्त:करण में ज्योतियों में परम विशुद्ध सबकी प्रकाशिका एक ही ज्योति का ध्यान करना योग कहा है । जिसे जागृत कर यज्ञ के कर्त्ता प्रभु को पाया जा सकता है जो की सबसे दूर एवं सर्वाधिक समीप देहान्तर्गत बैठकर देह का संचालन कर्त्ता है ।[39]

37. शरीर सत्वसंज्ञं च व्याधीनामाश्रयोमत: ।
तथा सुखानां योगस्तु सुखानां कारणं सम: ।।–इति चरकसंहिता । सू०अ०१।श्लो०55

38. ॐ अग्निमिन्धानोमनसा धियं सचेतमर्त्य: ।अग्निमिन्धे विवस्वभि: ।।
– सामवेद संहिता ,अध्याय – 1, दशती – 19, मं0 – 9

39. ॐ यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदुप्तस्य तथैवैति दूरङ्गमज्ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मेमन: शिवसंकल्पमस्तु ।।–रूद्राष्टाध्यायी अध्याय–1, मं0 –5

जबकि शुक्ल यजुर्वेद में योग का अभिप्राय आत्मदर्शन एवं शारीरिक स्वास्थ्य दोनों ही तरह से जाना जा सकता है क्योंकि इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि समाज में "योगवेत्ता की नियुक्ति करनी चाहिये ।[40]

ऋग्वेद में इसके विषय में स्पष्ट उल्लेख है कि योग के द्वारा प्राण वायु को जीतकर परमानन्द को प्राप्त करना चाहिये ।[41]

गीता में योग का अर्थ समदर्शी होना पाया गया है ।[42]

याज्ञवल्क्य के मत में जीवात्मा और परमात्मा के संयोग को योग कहते हैं ।[43]

याज्ञवल्क्य का ही मत है कि योग उसे कहते हैं जिससे आत्मदर्शन हो ख्याति हो विवेक ज्ञान हो ।[44]

दक्षस्मृति के मतानुसार योग का अर्थ है -

मन को वृत्तिहीन करके क्षेत्रज्ञ जीवात्मा को परमात्मा में लगाना । आत्मा को परमात्मा में विलीन कर विमुक्त होना ही योगाभिप्राय है ।[45]

---

40. योगाय युक्तारम् ।। - शु०य०वेद अ० म० -
41. प्रनूस नुष्ठिरे ....ऋग्वेदः म० १ अ० १९ ऋग्वेद सू० ६४ मं० १५
42. विद्याविनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि शुनि चैव श्वपाके च
 पण्डिता समदर्शिनः ।। -गीतायाम् । अ० ५ श्लोक १८
43. संयोगोयोग इत्युक्तो जीवात्मा परमात्मनोः ।।
 इतियाज्ञवल्क्यः सर्व द० सं० , पृ० - 574
44. इज्याचार ब्रतेहमिदानं स्वाध्यायकर्मणाम् ।
 अयमेव परमोधर्म यद्योगेनात्मादर्शनम् ।।-इति याज्ञ० स्मृति आचाराध्याय श्लोक ८ पृष्ठ - २
45. वृत्तिहीनं मन कृत्वा क्षेत्रज्ञं परमात्मनि एकीकृत्य
 विमुच्येत योगोऽयं मुख्य उच्यते ।। - दक्ष०स्म० अ० -7 श्लो० 15

आपस्तम्ब स्मृति का कहना है कि मनुष्य को सांसारिक भोगों से ऊपर उठते हुये अहिंसक बने रहकर योग, ध्यान एवं स्वाध्याय का मार्ग अपनाना चाहिये ताकि मोक्ष प्राप्ति रूपी दुर्लभ लक्ष्य को प्राप्त किया जा सके ।[46]

इसी में योग का निरूपण करते हुये लिखते हैं कि समदर्शी को ही ज्ञानी कहते हैं यही योग है ।[47]

हरीत स्मृति के अनुसार सभी प्रकार के पातकों का नाशक योग है । जिससे प्रवृत्ति धर्म रूपी बन्धन नष्ट जाते हैं और निवृत्ति प्राप्त होती है ।[48]

बलदेव उपाध्याय के अनुसार सभी विषयों को हटा कर मन का एकाग्र होना ।[49] जैसा कि स्वयं महर्षि पतांजली जी ने कहा है कि योग चित्त की वृत्तियों के निरोध को कहते हैं ।[50]

---

46. मोक्षो भवेत प्रीतिनिवर्त्तकस्य अध्यात्म योकैकरतस्य सम्यक् ।
मोक्षो भवन्नित्यमहिंसकस्य स्वाध्याययोगागत मानसस्य ।।
-आप०स्मृ० अ०-10, श्लो०-7, पृ० -284

47. मातृवत् पर दारांश्च परद्रव्याणि लोष्ठ्रवत्
आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति सपश्यति ।।- वही- 20, श्लोक - ।।

48. योगाभ्यास बलेनैव नश्येयु सर्वपातकान् ।
तस्माद्योगपरोभूत्वा ध्यायेन्नित्यं क्रियापरः ।।-हा०स्मृ०अ०-7, श्लो०-3
पृ० -314

49. सम्यगाधीयते एकाग्रीक्रियते विक्षेपान परिहृत्य मनोयंत्र त सं समाधिः । वाचस्पति ।।
- भारतीय दर्शन बलदेव उपाध्याय पृ० 302

50. योगश्चित्त वृत्ति निरोधः । पा० यो० सू० पा० १ सू० २

दि डिवाइन लाइफ सोसाइटी ऋषिकेश के सन्त स्वामी चिदानन्द जी के शिष्य सन्त स्वामी अध्यात्मानन्द जी योग का अभिप्राय को बहुत सुन्दर शब्दों में प्रस्तुत करते हुये कहते हैं कि शान्ति, क्षमा, प्रेम और उल्लास का अभ्युदय है योग ।[1]

जबकि वास्तव में योग का अर्थ है - आत्मदर्शन आत्म ज्ञान की प्राप्ति, कैवल्य, मोक्ष, अद्भुत पराक्रम, उत्साह, समता , विश्वबन्धुत्व परोपकार, निष्काम सेवा, सबमें अपने को एवं सबको अपने में देखना ही एवं सबके दुःखों का अपना जानना और अपने सुखों को सबमें बांटना ही असद चित्त वृत्तियों को रोकना अशुद्ध संस्कारों का सर्वनाश तथा सद्वृत्तियों पर आरूढ़ होकर आत्मा को परमात्मा में मिला देना ही योग है ।

2 योग का परिचय

योग दर्शन एक अति प्राचीन दर्शन रहा है । इसका सम्बन्ध एवं इसके मूल तत्वों की जानकारी हमें सर्वाधिक प्राचीन एवं भारतवर्ष महान पहचान श्रुति साहित्य में ऋग्वेद वेद से ही प्राप्त होती है । ऋग्वेद सर्वाधिक प्राचीन एवं (अपौरुषेय ईश्वर कृति है । इसी में मुख्यत: "समत्व " जैसे योग भावनायें तथा 'प्राणायामादि' से दिग्विजयी तथा आनन्द लाभ करते हुये यत्र तत्र सर्वत्र स्वच्छन्द विचरण करने जैसे उपदेश प्राप्त होते हैं ।[2] जैसे -

---

1. शीर्षक : शान्ति, क्षमा, प्रेम और उल्लास का अभ्युदय है योग "
   समाचार पत्र , पंजाब केसरी - 26-4-1999

2. संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
   देवाभागं यथापूर्वे संजानानामुपासते ।।-मं0 10,अ0-12, सूक्त-191, मन्त्र=2

मनुष्य को प्राणायाम विधा का ज्ञान होना चाहिये जिससे मनुष्य अपनी मन सहित इन्द्रियों एवं श्वसन पर विजय प्राप्त कर वायु को भी वश में रखते हुये बहुत बड़े सुख एवं आनन्द प्राप्त होते हैं।[2]

शुक्ल यजुर्वेद

शुक्ल यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र से ही योग जैसे सुस्पष्ट पद्धति को अपनाने का परिचय उपलब्ध होता है "इन्द्रियों को वश में रखना और योग के "प्राशिक्षक की स्थापना" एवं "अपनी रक्षा" जैसे धर्मों पर बल दिया गया है तथा परमात्मा का लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से मनुष्य को घर-घर न भटकना पड़े, ऐसे अनेक मन्त्रों के माध्यम से मन को स्थिर करने एवं धारणा ध्यान समाधिस्थ होकर दृढ़ संकल्प होकर मनुष्य को शिक्षा दी गई है कि "सर्वव्यापक विभु परमात्मा ज्योतिषों में परम ज्योति स्वरूप ईश्वर सबकी देह में अवस्थित आत्मा में ही निवास करता है "अतः सबको चाहिये कि शुभ संकल्पों को ग्रहण करें एवं मन को स्थिर रखते हुये उसको पहचाने।[3]

---

2. नूष्ठिरं मरूतो वीरवन्तो मृतीषाहं रयिमस्मासुधत्त।
सहस्रिनं शतिनं शूशुवासं प्रातर्मक्षू धियावसुर्जगम्यात्॥ ऋग्वेद 1-मं0-1, अ0-11, सू0-64 मन्त्र -15

3. ॐ इषेत्वोर्ज्जेत्वा वायवस्थ देवोवः सविताप्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण आप्यायध्व मघन्या इन्द्राय प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्मा मा वस्तेन ईशत माघशं सो ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात् बह्वी यर्जमानस्य पशून्पाहि। - शुक्ल यजुर्वेद, अध्याय-1, प्रथम मन्त्र।
ॐ मन्यवे5यस्तापं क्रोधाय निःसरं योगाय युक्तारम् ....॥अ0-30, मन्त्र-14
ॐ यमाय यमसू अथर्व्भ्यो5वतोका संवत्सराय पर्यायिणी ......-15
ॐ यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदुसुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमंज्योतिषां ज्योतिरेकन्तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु।-अ0-34, मं0-1 5
येन कर्माण्यपसो ....मनः शिवसंकल्पमस्तु ....अ0-30, मन्त्र-1-6

सामवेद

सामवेद = श्रुति कहती है कि "मनुष्य को आत्म ज्ञान के लिए योग का आश्रय लेते हुये मोक्ष को प्राप्त करना चाहिये ।"[1]

ईश्वर - सर्वव्यापक है सबका स्वामी है अतः ईश्वर की स्तुति करनी चाहिये जिससे प्राणी यथार्थ तत्व को प्राप्त कर सके ।"[2] इतना ही नहीं आगे समावेद गीतिका के माध्यम से सम्पूर्ण समाज एवं आध्यात्मिक प्रेमियों के लिए विशेष उपदेश है कि यदि मनुष्य गृहस्थ में रहकर आत्म ज्ञान की प्राप्ति में असमर्थ है तो उसे "पर्वतों की गुफाओं एवं नदियों के सगम अर्थात् तीर्थ स्थानों पर जाकर योग साधना करते हुये आत्म ज्ञान प्राप्त करना चाहिये ।"[3] तथा च जैसे -

"सभी छोटी - बड़ी नदियां अपने स्वामी समुद्र की तरफ झुकती हैं, ऐसे ही प्राणियों को भी अपने परम लक्ष्य परमात्म तत्व ईश्वरीय ज्ञान की तरफ झुकना चाहिये और मोक्ष प्राप्त करना चाहिये " ।[4]

---

1. ॐ तरणिरित्सिषासति वाजं पुरन्ध्यां युजा ।
आ व इन्द्रं पुरुहूतं नमे गिरा नेमिंतष्टेव सुद्रुवम् ।- सा० वे० अ०-2, दशती-10, 238
2. ॐ यो राजा चर्षणीनां याता रथेभिरध्रिगुः ।
विश्वासां तरुता पृतनानां ज्येष्ठो यो वृत्रहा गृणे ।।-अध्याय 3, दशती - 5
3. ॐ उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम् । धीयो विप्रा अजायत ।।-142/5
4. ॐ समस्य मन्यवे विशो विश्वा नमन्त: कृष्टयः ।
समुद्रायेव सिन्धवः ।। - अ0 2, दशती 3 ।।

उपनिषद्

ईशावास्योपनिषद से जो वास्तविक शिक्षा मिलती है उसमें ज्ञान एवं कर्म योग पर ही बल दिया गया है – विद्या – अविद्या एवं सम्भूति एवं असम्भूति को साथ-साथ लेकर चलने का उपदेश है एक ही तरह की विद्या या अविद्या से मनुष्य को आत्मतत्व का ज्ञान उपलब्ध नहीं हो सकता है इसलिए ईशावास्योपनिषद से जो योग का परिचय प्राप्त होता है वह वास्तव में ज्ञान कर्म योग के रूप में प्राप्त होता है । इसमें कहा गया है कि ज्ञान और कर्म दोनों का भलि भांति अनुष्ठान करने वाला मनुष्य ही इन दोनों साधनों के द्वारा सर्वोत्तम तथा वास्तविक फल प्राप्त कर सकता है - इसलिये इन दोनों का यथार्थ रूप न समझने वाले जो अनुष्ठान करते हैं उनकी दुर्गतिका वर्णन किया गया है जैसे -

"जो केवल अविद्या ॥ सांसारिक भोगों को प्राप्त करने के लिए कर्म करते हैं और जो मात्र अहंकार अभिमान रूपेण ज्ञान के लिए ही प्रयास रत हैं ये दोनों ही अन्धकार में प्रवेश करते हैं ।"[1]

शास्त्र के यथार्थ तात्पर्य को समझकर ज्ञान और कर्म का अनुष्ठान करना चाहिये जैसे और " जो दोनों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेता है । दोनों को एक ही सूत्र में पिरो लेता है वही अमरत्व को प्राप्त होता है[2] " ।

---

1. अन्धतमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥
अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे ॥

2. विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युंतीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥-ईशावास्योपनिषद् -9,11

इसके अतिरिक्त "जो केवल देव पितरादि की उपासना में ही लगे हैं वो भी मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकते हैं एक जो केवल परमेश्वर के चिन्तन मात्र में ही संलग्न है उन्हें भी ब्रह्म ज्ञान नहीं मिल सकता है अर्थात् दोनों को साथ-साथ प्राप्त करने से ही ज्ञान प्राप्त होता है ।"[3]

केनोपनिषद्

केनोपनिषद् उपदिष्ट करती है कि ब्रह्मविद्या के श्रवण मात्र से ही ब्रह्म ज्ञान हो जाता है बल्कि इसके लिए विशेष साधनों की आवश्यकता होती है जैसे - "उस रहस्यमयी ब्रह्म विद्या के तपस्या, मन-इन्द्रियों का नियन्त्रण कर्तव्य पालन ये तीनों आधार हैं, वेद उस विद्या के सम्पूर्ण अंग हैं अर्थात् वेद में उसके अंग प्रत्यंगों का विस्तार वर्णन है । सत्य स्वरूप परमेश्वर उसका अधिष्ठान - प्राप्तव्य है ।"[4]

इसमें तपस्या (भक्ति) योग से मन और इन्द्रियों पर नियंत्रण एवं कर्मयोग तीनों का वर्णित किया गया है और " जो इस तरह तीनों को साथ-साथ लेकर इस रहस्यमयी ब्रह्मविद्या को जान लेता है या परहित वही सर्वश्रेष्ठ परमधाम अविनाशी असीम में सदा-सदा के लिए प्रतिष्ठित (स्थित) हो जाता है"।[5]

---

3. सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद वेदोभयं सह ।
विनाशेनमृत्युंतीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ।। - ईशावास्योपनिषद् - 14

4 तस्यै तपोदम: कर्मेति प्रतिष्ठा वेदा:
सर्वाङ्गानि सत्य मायतनम्, केन० खण्ड-4, का0-8, ~~अध्याय-4, 8~~ कण्डिका

5. यो वा एतामेवं वेदापहत्य पाप्मानमनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये
प्रतितिष्ठति प्रति तिष्ठति । केन० अध्याय -4 , कण्डिका - 9

कठोपनिषद् से योग का परिचय निम्न भाव से प्राप्त होता है -

कठोपनिषद् कहती है कि "जो योग माया के पर्दे में छिपा हुआ सर्वव्यापी सबके हृदय रूप गुहा में स्थित (अतएव) संसार रूप गहन वन में रहने वाला सनातन है ऐसे उस कठिनता से देखे जाने वाले परमात्म देव को शुद्ध बुद्धि युक्त साधक अध्यात्म योग की प्राप्ति के द्वारा समझकर हर्ष एवं शोक को त्याग देता है ।[6]

इसमें स्थिर इन्द्रियों की धारणा को ही योग माना गया है, क्योंकि उस समय साधक प्रमाद रहित हो जाता है । योग उदय और अस्त होने वाला है ।[7]

मुण्डकोपनिषद् से भी योग का ज्ञान उपलब्ध होता है यथा -

जिन्होंने वेदान्त (उपनिषद्) शास्त्र के विज्ञान द्वारा उसके अर्थभूत परमात्मा को पूर्ण निश्चयपूर्वक जान लिया है । कर्मफल एवं आसक्ति के त्यागरूप योग से जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है वे समस्त प्रयत्नशील साधकगण मरण काल में (शरीर त्याग कर) ब्रह्मलोक में जाते हैं परम अमृत स्वरूप होकर सर्वथा मुक्त हो जाते हैं ।[8]

---

6. तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं, गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।
अध्यात्म योगाधिगमेन देवं, मत्वा धीरो हर्ष शोकौ जहाति ।।
-कठोपनिषद्, अध्याय-1, वल्ली-2, मन्त्र-12

7. तां योगमितिमन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति यो हि प्रभवाप्ययौ ।। -वही-अध्याय-2, वल्ली-3, मन्त्र - 11

8. वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः सन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्वाद् ।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ।।
- मुण्डकोपनिषद् - 3, खण्ड - 2, मन्त्र - 6

वास्तव में योग ही एक ऐसा दर्शन है जिसके द्वारा योगी परतत्व को पा सकते हैं जिसका परिचय श्वेताश्वतरोपनिषद् में इस प्रकार से उपलब्ध होता है कि किस प्रकार योग साधना करनी चाहिये ?

बुद्धिमान मनुष्य को चाहिये कि सिर, गला और छाती ये तीनों अंग उंचे उठाये हुये शरीर को सीधा और स्थिर करके समस्त इन्द्रियों को मन के द्वारा हृदय में निरूद्ध करके ॐ कार रूप नौका द्वारा सम्पूर्ण भयंकर स्रोतों को पार कर जाये।[9]

एवं अन्तरात्मा का निरूपण करते हुये श्वेताश्वतरोपनिषद कहती है कि "यह अन्तरात्मा अंगुष्ठ मात्र परिमाण वाला अन्तर्यामी परम पुरूष सदा ही मनुष्यों के हृदय सम्यक् प्रकार से स्थित है, मन का स्वामी निर्मल हृदय और विशुद्ध मन से अभिक्लृप्त = ध्यान में लाया हुआ {प्रत्यक्ष होता है} जो इस परब्रह्म परमेश्वर को जान लेते हैं वे अमर हो जाते हैं।[10]

बृहदारण्यक एवं छान्दोग्य उपनिषदों में योग का परिचय इस प्रकार दिया गया है। जैसे श्रुति कहती है -"आत्मा को जानो इसके विषय में सुनना सुनकर मनन करना चाहिये एवं इसे मननपरक होकर अर्थात् मन को केन्द्रित करते हुये निदिध्यास समाधि योग से दर्शन करने चाहिये।[11]

---

9. त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं, हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य ।
ब्रह्मोडुपे न प्रतरेत विद्वान, स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ।।
- श्वेताश्वतरोपनिषद , अ0 - 2, मन्त्र - 8

10. अङ्गुष्ठमात्रः पुरूषोऽन्तरात्मा सदाजनानां हृदये सन्निविष्टः ।
हृदामन्वीशो मनसाभिक्लृप्तो, य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति ।।-वही-अ0-3
मन्त्र - 13

11. आत्मा व अरे द्रष्टव्योश्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च ।
-बृहदारण्यक उपनिषद , 2/4/2

पापों से रहित आत्मा ही अन्वेषण का विषय है एवं उसे विज्ञानपूर्वक जानना चाहिये।" यह ब्रह्मात्मता योग ज्ञान एवं शास्त्र के बिना ज्ञान नहीं हो सकती वह सत्य है एवं ब्रह्म भी वही है "जैसे तू सत्य है एवं ब्रह्म है"।[12]

गीता

भगवान श्री कृष्ण जी भी गीता मे योग से परिचित करवाते हुये कहते हैं कि हे अर्जुन यह जो मैं तुझे योग का उपदेश कर रहा हूं यह मेरे द्वारा प्रतिपादित नहीं है बल्कि बहुत काल पूर्व मुझे इसे विवस्वान् मनु इक्ष्वाकु ने जाना था जो समय के साथ-साथ लोप सा हो गया था जिसे आज पुनः मैं तुम्हें उपदिष्ट कर रहा हूं। इसे परम्परानुगत राजर्षियों ने जाना परन्तु यह भी काल के साथ ही अधिकतर योग नष्ट सा हो चुका था। और जो आज मैंने योग कहा यह वास्तव में पुरातन है। हे सखा अर्जुन मुझे लगता है कि तुम इसके योग्य अधिकारी भक्त हो इसलिए मैंने तुम्हें इस रहस्यमयी एवं सर्वोत्तम विद्या को उपदिष्ट किया। अर्थात् योग सर्वोत्तम एवं सर्वोत्कृष्ट विद्या है इसे जानो।[13]

---

12 य आत्माऽपहतपाप्मा -सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः ।।
-छान्दोग्योपनिषद्- 87/1

इति ब्रह्मात्मभावस्य शास्त्रमन्तरेणानवगम्य मानत्वात् ।-सूत्र-4, अ0-1, पृ0-40

13 इयं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वानमनवे प्राहमनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ।।
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयोः विदुः ।
कालेनेहमहता योगो नष्टः परंतप ।।
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसीति मे सखा चेति रहस्यद्येत दुत्तमम् ।। -गीता, अ0-4, श्लो0-1-3

स्मृतियों में से योग का परिचय

मनु आदि स्मृतियों से भी योग का परिचय प्राप्त होता है । मनुस्मृति में योग के विषय में कहा गया है कि स्वाध्याय, व्रत, यज्ञ = (पञ्च महायज्ञ) पुत्रोत्पाद ब्रह्मयोग = (ज्ञान यज्ञ और अग्निष्ठोमा से ही यह शरीर मुक्ति को प्राप्त होता है ।"[1]

आगे मुक्ति में महत्वपूर्ण स्थान रखने वाले पथ का भी वर्णन करती हुई मनुस्मृति कहती है कि मनुष्य को "योगी को प्रणव का जाप एवं प्राणायाम क्रिया को अपनाना चाहिये तथा सत्यता का पालन करना चाहिये तभी देह विदेह मुक्त हो सकता है ।[2]

याज्ञवल्क्य स्मृति से पता चलता है कि महर्षि याज्ञवल्क्य जी ने एक बृहदारण्यक नामक ग्रन्थ की रचना ही योग शास्त्र के रूप में कर दी थी ।

जैसा मुझे भगवान सूर्यदेव से योगज्ञान प्राप्त हुआ एवं मुझ द्वारा जाना गया वैसा ही मैंने योग ज्ञान के जानने वालों के लिए बृहदारण्यक शास्त्र की रचना कर दी है जिसमें योग की पूर्ण शिक्षा है । इससे पूर्व योग से आत्म दर्शन को ही परम धर्म भी कहा है ।[3]

1. स्वाध्यायेन व्रतै होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ।। - मनुस्मृति - 2/28

2. एकाक्षरं परंब्रह्म प्राणायाम परं तपः ।
सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात्सत्यंविशिष्यते ।। -वही - 2/83

3. ज्ञेय चारण्यकमहं यदादित्यादवाप्तवान ।
योगशास्त्रं मया प्रोक्तं ज्ञेयं योगमभीप्सता ।।-याज्ञवल्क्य स्मृति,
प्रायश्चिताध्याय - श्लोक - 110

इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम् ।
अयंतुपरमोधर्मयद्‌योगे नात्मदर्शनम् ।। - याज्ञवल्क्य स्मृति

दक्ष स्मृति ने तो और भी अधिक सुन्दर रूप प्रकटित किया है योग ज्ञान के रूप का जैसे - "क्षेत्रज्ञ मन को वृत्ति रहित करके परमात्मा में एकीकरण करके छोड़ देते हैं, वास्तव में मुख्य योग यही है ।"[1]

हारीत स्मृति से भी योग का परिचय मिलता जिससे पता चलता है कि हारीत भी योगज्ञानी थे जैसे -

"योग शास्त्रं प्रवक्ष्यामि संक्षेपात्सारमुत्तमम् ।
यस्य च श्रवणाद्यान्ति मोक्षञ्चैव मुमुक्षवः ।।[2]

संक्षेप से मैं उस सर्क्षिप्त एवं सारयुक्त योगशास्त्र को कहता हूं जिसके श्रवण से मोक्ष के इच्छुक मुक्ति मोक्ष अपवर्ग को प्राप्त हो सके ।

शंख

शंख स्मृति से भी योग विषयक परिचय प्राप्त है जिसमें मोक्ष के लिए योग को ही अपनाया गया इतना ही नहीं हारीता एवं दक्ष स्मृति की तरह ही इन्होंने भी सप्तम अध्याय पूर्ण रूप से योग को ही समर्पित कर दिया है । सब प्राणियों के हितकारी होना सबको समान समझना पत्थर, लोहे एवं काञ्चन को समान भाव से देखना तथा ध्यान योग में निमग्न रहते हुये और भिक्षाटन करते हुये जीवनयापन करने से परागति मोक्षदायिनी गति प्राप्त होती है ।[3]

---

1. वृत्तिहीनं मनः कृत्वा क्षेत्रज्ञं परमात्मनि ।
   एकीकृत्य विमुच्येत योगोऽयमं मुख्य उच्यते ।। - दक्ष स्मृति अ० ७ श्लो० २५
2. हारीत स्मृति - 7/2
3. सर्वभूतहितो मैत्रः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
   ध्यान योग रतो नित्यं भिक्षुर्यायात् परांगतिम् ।। -शंखस्मृति, अ0-3, श्लो0-8

अत्रिस्मृति भी इसी तरह से परिचित करवाती है जैसे कि -

वेदान्त को नित्य पढ़ने में एवं सभी तरह की संगति का परित्याग करें। सांख्य एवं योग का नित्य प्रति विचार एवं अभ्यास करने वाला ही विप्र द्विज कहलाता है।[1]

वास्तविक रूप से यदि मुक्ति विषय ज्ञान प्राप्त होता है तो वास्तव में योगमार्ग से ही हो सकता है जैसे कि बौधायन स्मृति के वचन है कि -

योगाभ्यास से ज्ञान को प्राप्त करे, योग ही वास्तविक धर्म का लक्षण है।

योग के मूल में जीवन के सब गुण निवास करते हैं इसी कारण से सदा सदा मनुष्य को योगाभ्यासयुक्त रहना चाहिये।[2]

योग का परिचय - पुराणों से

योग के विषय में भागवतपुराण से भी बहुत सी सामग्री एवं परिचय मिलता है यहां हर एक स्कन्द एवं अध्यायों में ज्ञान योग कर्म योग एवं भक्तियोग का वर्णन मिलता है यथा -

देवहूति को कपिल जी अष्टांग योग का उपदेश करते हुये कहते हैं कि -

कपिल भगवान कहते हैं - माता जी। अब मैं तुम्हें सबीज (ध्येय स्वरूप के आलम्बन से युक्त) योग का लक्षण बताता हूं, जिसके द्वारा चित्त शुद्ध एवं प्रसन्न

---

1. वेदान्त पठते नित्यं सर्वसंग परित्यजेत।
   सांख्य योगविचारस्थः स विप्रोद्विज उच्यते ।। -अत्रिस्मृति - 362
2. योगेनावाप्यते ज्ञानं योगोधर्मस्य लक्षणम्।
   योगमूलाः गुणासर्वे तस्मादयुक्तः सदाभवेत् ।। -बौधायनस्मृति, अध्याय - चक्षुश्रोत्रत्वग्घ्राण मनोव्यतिक्रमति प्रायश्चितम्, श्लोक- 27

होकर परमात्मा के मार्ग में प्रवृत्त हो जाता है [1] परमात्मा अर्थात् आत्म तत्व को पहचानते हुये मुक्ति को प्राप्त हो जाता है ।

अतः योग साधना से परमतत्व की प्राप्ति का उल्लेख अधिकाधिक रूपेण लगभग सभी पुराणों से मिलता है । जैसे गरूड़ पुराण कहता है कि मनुष्य के अन्दर छः चक्र होते हैं और मनुष्य को उन्हें पहचानना चाहिये तथा उनके स्थानों की जानकारी भी जरूरी होनी चाहिये जैसे -

1. मूलाधार , 2. स्वाधिष्ठान , 3. मणिपूरक, 4. अनाहत , 5. विशुद्धाद्य एवं 6. आज्ञा क्रमशः ये छः चक्र होते हैं । इनके स्थान निम्नलिखित है -

मूलाधार लिंग देश में , स्वाधिष्ठान नाभिदेश में, मणिपूरक हृदि हृदय देश में, अनाहत कण्ठ देश में, विशुद्धाद्य भुवों के मध्य में एवं ब्रह्मरन्ध्र देश में आज्ञा चक्र होता है । अर्थात् शिखा के मूल स्थान में ब्रह्मरन्ध्र चक्र रहता है इन्हें क्रमशः योग से ही जाना जा सकता है । ये न तो भक्ति से अनुसन्धान योग्य है और न ही कर्मयोग के ही साधन से सम्पन्न होते हुये दिखाई देते यदि ये किसी प्रकार अनुसन्धान के योग्य हैं तो केवल मात्र योगाभ्यास मात्र से ही हैं ।

---

1. योगस्य लक्षणं वक्ष्ये सबीजस्य नृपात्मजे ।
मनो येनैव विधिना प्रसन्नं याति सत्पथम् ।। -भागवतपुराण, स्कन्द-3, अध्याय - 18, श्लोक-

2. मूलाधारः, स्वाधिष्ठानं, मणिपूरकमेव च ।
अनाहतं विशुद्धाद्याज्ञा षट्चक्रमुच्यते ।।
मूलाधार लिङ्गदेशे, नाभ्यां हृदि च , कण्ठगे भुवोर्मध्ये ।
ब्रह्मरन्ध्रे क्रमाच्चक्राणि चिन्तयेत् ।। - गरूड़पुराण

चरक संहितायाम् योगस्यशिक्षाया: महत्वम्

योग का परिचय हमें चिकित्साशास्त्रों आयुर्वेद से भी प्राप्त होता है, जिसमें शरीर एवं मन दोनों को स्वस्थ रखने के लिए योग ज्ञान पर बल दिया गया है जैसे चरक संहिता स्वयं कहती है कि -

"शरीर एवं मन दोनों ही व्याधियों की आश्रयस्थली हैं एवं इन्हें स्वस्थ रखने का एक मात्र सबसे सुन्दर उपचार योगाभ्यास ही है ।"[1]

इससे पता चलता है कि जो परिपाटी आज एक तरफा विद्यालयों में भौतिकता की दृष्टि से अपनाई जा रही है वह आज यन्त्र साधनों से थक जाने के बाद पुनः पुरातन परम्परा को मात्र जागृत करती है न कि कोई नई विधि है क्योंकि इसका सम्बन्ध आज से हजारों वर्ष पूर्व चरक के युग में भी था और उससे भी पूर्व ऋग्वेद काल से ही चला आ रहा था जिसका वर्ण प्रारम्भ में ही लगभग हो चुका है ।

3. सामान्य अवधारणा

लोक में योग विषयक सामान्यावधारणा वस्तुतः आज भी उसी तरह से है जैसी लोक में गरूड़ पुराण विषयक एवं गीताविषयक तथा महाभारत विषयक है ।

---

1. शरीरं सत्व संज्ञं च व्याधीनामाश्रयोमत: ।
तथा सुखानां योगस्तु सुखानां कारणं समः ।। च० चरसंहि० [illegible]
- चरकसंहिता - अ०1 श्लोक - 55, पृ0 - 31

परन्तु इसमें भी कुछ ऐसे दार्शनिक रहे हैं जिन्होंने कुछेक कड़ियों को चुन (ग्रहण) कर साधना की और उन्हें ही सम्पूर्ण योग कह दिया ।

सामान्य अवधारणा

इन सबके अतिरिक्त जो हम जगत् में देखते हैं कि कुछेक लोग तपश्चर्या के माध्यम से तपस्वी बनकर यति बन जाते हैं और मन और बुद्धि में ही आसक्त रहते हैं, विषय व्यापार में लगे रहते हैं, क्या उन्हें समाधि प्राप्त हो सकती है ? इस विषय में भी दक्ष स्मृति सुस्पष्ट करती हुई कहती है कि "जो मन और बुद्धि में आसक्त है और यति धर्म को अपनाये हुये है, वे कभी भी मोक्ष को प्राप्त नहीं हो सकते हैं ।"[1] अत: योग इससे भिन्न है ।

फिर योग क्या है ?

दक्ष स्मृति कहती है कि "योग का तात्पर्य अपनी ही आत्मा में रमण करते हुये आत्मरत रहना, सुषुप्ति एवं जागृत अवस्थाओं में भी योगनिष्ठ रहना तथा सर्वत्र आत्मवत् भाव रखते हुये आभ्यन्तर एवं बाह्य उभयावस्था में समत्व रहते हुये आत्म चिन्तन में लगे रहना ही सच्चा योगाभ्यास है ।

---

1. विषयासक्तचित्तोहि यति मोक्षं न विन्दति ।
यत्नेन विषयासक्तिं तस्माद्योगी विवर्जयेत् ।।-दक्षस्मृति- 7/12

2. यश्चात्मनि रतोनित्य क्रीडनस्तथैव च ।
आत्मनिष्ठश्च सततमात्मन्येवस्कभावत: ।। - वही - 7/8

रतश्चैवस्वयंतुष्ट: सुतुष्टो नाऽन्य मानस: ।
आत्मन्येवसुतृप्तोऽसौ योगस्तस्य प्रसिद्धयति ।।- वही - 7/9

सुप्तोऽपि योग युक्त जाग्रच्चापि विशेषत: ।
इहकृचेष्ट: स्मृत: श्रेष्ठो गरिष्ठो ब्रह्म वादि नाम् ।। - वही - 7/10
य आत्मव्यतिरेकं द्वितीयं न पश्यति ।
ब्रह्मीभूय स एवंहि दक्ष पक्ष उदाहृत: ।। - वही - 7/11

अधिकतर यही देखा गया है कि आज भी हमारा समाज अत्याधिक पिछड़ा हुआ लगता है और जब कोई समाज के अन्दर से कोई प्रतिभा[वान] एवं बौद्धिक दृष्टि से सम्पन्न होकर ऊपर की ओर उठता है, तो उसे बहुत सी परेशानियों का सामना करना पड़ता है। उस पर अनेक मुहावरे एवं लोकोक्तियां कसी जाने लगती हैं। जिनके कारण स्वरूप प्रतीभावान् को भी समाज अपनी तरह का सामाजिक बनने के लिए विवश कर ही देता है। बहुतों में कोई इक्का - दुक्का ही ऐसे लोग बच जाते हैं, जो समाज से ऊपर उठने की कोशिश कर पाते हैं और फिर उसी समाज को अपने पीछे चलने के लिए [विवश] कर देते हैं।

ऐसी ही परम्परा एवं लोकविश्रुति गीता विषयक भी है, जिसने आज भी शहरों की अपेक्षा ग्रामीण इलाकों में निन्दा पायी है। ग्रामीणों के मुखों से अक्सर यही सुनने को मिलता है कि, गीता मरणासन्न व्यक्ति को सुनाई जाती है। इसे नहीं पढ़ना चाहिये इसे पढ़ने वाले बच्चे सन्यासी हो जाते हैं, वैराग को प्राप्त हो जाते हैं। जबकि गीता सम्पूर्ण जीवन का वास्तविक ज्ञान प्रदान करती है।

गीता की तरह ही लोकविश्रुति 'गरूड़पुराण' विषयक भी है, जिसे गीता की तरह ही जीव के देह त्याग देने के पश्चात् उसके पीछे जीव को ही सम्मुख रखकर सुनाया जाता है जबकि वास्तविकता कुछ और है। वास्तविकता तो यहां तक है कि प्राणी के प्राण त्यागने के पश्चात् प्राणी का कुटुम्ब उदासीन होता है। कुटुम्बियों के हृदय द्रवित होकर कच्चे होते हैं, जिससे उन कुटुम्बियों को को गरूड़पुराण की शिक्षा से विवेकी बनाने का सुप्रयास होता था। जैसे कच्चे घड़े

को जैसे भी रंग से रंगा जाये, पकने के पश्चात् वैसे ही रंग से रंग जाता है, वैसे ही मनुष्य की जिन्दगी भी कई बार कच्ची होती है, परन्तु बहुत कम मनुष्य ऐसे हैं जो उसका लाभ प्राप्त कर पाते हैं । जबकि गरूड़ पुराण एक बहुमूल्य एवं योगविषयक शास्त्र है, फिर भी लोग उसे अपने घर से ऐसे ही दूर रखना चाहते हैं कि जैसे छुआछूत की बिमारी हो । दसवें दिन के पश्चात् ही पण्डित को ले जाने के लिए कह देते हैं ।

यहां तक महाभारत महाकाव्य का प्रश्न है वह तो इनसे भी ज्यादा निन्दा को प्राप्त हो चुका है । इस महाकाव्य का कलेवर तो सबसे बड़ा तो है ही, उसी के साथ-साथ यह समाज से भी उतना ही दूर भी है ।

बहुत से पढ़े लिखे लोग आज भी वही धारणा महाभारत के विषय में रखते है, जैसी धारणा हमारे कुछ एक अविवेकि पूर्वजों की थी । महाभारत के विषय में जन साधारण की धारणा थी कि इसे घर में नहीं रखना चाहिये । क्यों ? इसलिए कि यह जिस घर में रहेगा, वहां ही लड़ाई-झगड़े पैदा हो जाते हैं । अतः इसे घर पर नहीं लाना चाहिये, नहीं रखना चाहिये ।

ऐसी ही कुछ धारणा योगदर्शन के विषय में भी पनपी थी और अब भी है । जन साधारण का यही भाव है कि योग की शिक्षा प्राप्त करने से मनुष्य योगी बन जाता है । योग साध्य भी है यदि बिना योग के ही ज्ञान प्राप्त हो जाये तो क्या जरूरी है, योगाभ्यास तथा शरीर को कष्ट देने की ? लोगों का कहना आज भी यही है कि यह दर्शन केवल योगी एवं ब्रह्मचारी बनाता है, जीवन को गृहस्थ से दूर रखता है ।

कितनी विडम्बना एवं आश्चर्यचकित कर देने वाली बात है, कि आज की दुनिया योगाभ्यास के माध्यम से कितने ही लाइलाज रोगों का उपचार कर रही है और कितने ही मानसिक व्यथा से छुटकारा पा चुके हैं। परन्तु आज भी हमारा समाज इसे उसी उदासीनता से देखता है, जितना कोई दुःखी दुःख को देखता है।

ऐसा कदापि नहीं है कि गृहस्थी योगाभ्यास से लाभ नहीं कर सकता है। क्योंकि आज भी हमारे सामने अनेक उदाहरण हैं कि हमारे सभी कश्यपादि सप्तर्षि योगाभ्यासी थे और गृहस्थी थे और उन्होंने गृहस्थ में रहते ही आत्म दर्शन का लाभ पाया। भगवान् श्री कृष्ण, तो जब तक संसार रहेगा तब तक और प्रलय के पश्चात् भी सर्वत्र उदाहरण रहेंगें। सबसे बड़े श्रेष्ठ योगियों में योगी एवं सबसे बड़ी गृहस्थी वाले थे। उन्हीं का शिष्य अर्जुन ने भी योगाभ्यास की शिक्षा गृहस्थी होकर ही तो प्राप्त की।

कोई भी सामाजिक प्राणी यदि तपस्वी होकर गृहस्थी को अपनाता है, तो उसका उस समाज को बहुत अधिक लाभ हो सकता है। यहां प्रश्न उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि वो कैसे ? तो प्रत्युत्तर के रूप में कहा जा सकता है कि किसी भी समाज की स्थापना का आधार सत्पुरूष ही रहे हैं एवं रहेंगे। यदि सत्पुरूष तपस्वी है और गृहस्थी भी हैं, तो उससे समाज उसके ब्रह्मचारी बनने की अपेक्षा गृहस्थी बनने से ज्यादा ही लाभान्वित हो सकेगा। इसलिए कि जब उसके सन्तान होगी और वंश का विस्तार होगा तो उस एक तपस्वी के स्थान की पूर्त्ति अनेक करेंगे और साथ में अपने पिता पितामह आदि के अनुभवों के साथ ही साथ कुछ और अधिक अपने अनुभवों से समाज को उन्नति प्रदान करते हुये दिखाई देंगे। इसलिए समाज को इस अनुचित एवं

कुण्ठित कर देने वाली विचारधारा को समाज से दूर करना होगा, तभी समाज वृद्धि को प्राप्त हो सकता है । जैसे - महर्षि पाराशर जी की मल्लाह पुत्री सुगन्धा से आँखे दो चार नहीं होती, तो क्या भगवान् कृष्ण द्वैपायन सर्वशास्त्र प्रवर्तक व्यासदेव जी का प्रादुर्भाव होता ? और आज जो कुछ भारतवर्ष की शास्त्र विषयक भौगोलिक पहचान है, क्या पूरी हो पाती ? यही सब बातें इस समाज को प्रेरणा की स्रोत बनी हुई है, परन्तु फिर भी, यदि समाज अपने मन से ऐसी धर्म विषयक एवं दार्शनिक पौराणिक अवधारणाओं को जब तक जड़ से समाप्त नहीं कर पाता, तब तक ये सब कुण्ठित ही करती रहेंगी । यही सब बातें समाज की अवनति का कारण भी बनती हैं ।

उसके बाद अर्वाचीन योग सिद्धियाँ प्राप्त करने तक ही सीमित रह गया । जैसे - जैसे युग बदलते गये, आयु क्षीण अर्थात् आयु का खाता घटता गया, वैसे - वैसे शास्त्रों के नियमों के पालने में भी ढील आती गयी । मनुष्य को योगमार्ग में चलते - चलते जब -जब अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त होती गईं, वह वैसे - वैसे लालची होता गया और उनका उपयोग लोगों पर करने लगा । कुछ तो इसका उपयोग परोपकार के लिये करते रहे तो कुछ ने किसी का बुरा करने की ठान ली जिसे जादू टोना भी करना कहते हैं, जिससे इस पर से लोगों का विश्वास कम होता चला गया ।

पुनः भौतिकवादी तान्त्रिकों यम-नियमों को ही छोड़कर षडंग योग पर बल देना शुरू कर दिया । सम्भवतः ऐसा इसलिये कि यम नियम से मनुष्य बँधा है और इन्द्रियों को

उपाधान

समाज में कुछ अनुयायी मात्र उपाधान चिह्न को ही योग चिह्न मान लेते हैं और उसी में भटकते रहते है । जैसे कुछ समझते हैं कि केवल बनवास ले लेने से योग साधना पूर्ण हो जाती है तो कोई दूसरा स्वाध्याय एवं शास्त्रों के चिन्तन मात्र से समाधि की प्राप्ति का उपदेश देते हैं । कुछ गेरूवे वस्त्र धारण करने , दण्ड, कमण्डल ग्रहण करने, माला-चन्दन एवं रूण्ड-मुण्ड रहने को ही योग मान लेते हैं । इसी प्रकार से कुछ व्रत , यज्ञ, तपस्या से कृच्छचान्द्रायण व्रतों को ही योग की संज्ञा दे देते हैं ।

इतना ही नहीं कुछेक इससे भी आगे निकलते हुये कहते हैं कि योग साधना का जो मार्ग है, वह पथ्य भोजन, नासाग्र त्राटक, शौच , मौन्त्र मन्त्र कुहको से , सुकृत (शुभकर्मो) से ही योग समाधि की प्राप्ति होती है ।

इनसे भी अतिरिक्त कुछेक आध्यात्मिक जगत् में विषय एवं इन्द्रिय - निग्रह को एवं कुछेक आत्मा मन संयोग को योग की संज्ञा दे देते हैं परन्तु क्या यही वास्तविक योग है । अर्थात् यह वास्तविक योग न होकर यह योग के प्रति सामान्य अवधारणा ही लगती है । जैसे कि दक्ष में इन विषयों का खण्डन भी मिलता है और योग का वास्तविक रूप भी प्रस्फुटित होकर सामने आया है जो कि वास्तव में योग है । जैसे दक्षस्मृति कहती हैं कि -

जिसने अपनी आत्मा को वश में कर लिया हो उसने समस्त संसार को वश में कर लिया है एवं योग की सिद्धि अभियोग नित्य योगाभ्यास, योग में परिपूर्ण निश्चय एवं बारंबार निर्वेद (वैराग्य) सर्वदा आत्मचिन्तन का अनुभव करना तथा शौचपूर्वक रहने से एवं सर्वत्र समत्व का भाव रखने से ही योग की सिद्धि प्राप्त होती है, न कि मौनादि एवं व्रत यज्ञों से सम्पादित होता है।

---

1. नाख्यते बनाद्योगे नानेकग्रन्थचिन्तनात् ।
व्रतयज्ञैस्तपोभिश्च न योगः कस्यचिद्भवेत् ।। 7/3

न च पद्मासनाद्योगो नासाग्रनिरीक्षणात् ।
न च शास्त्रातिरिक्तेन शौचेन सम्भवेत् कदाचित् ।। - 4

न मौन मन्त्र कुहकैरनेकैः सुकृतैस्तथा ।
लोकयात्रा वियुक्तस्य योगभवतिकस्यचित् ।। - 5

विषयानुद्रमसंयोग के चिद्योगंवदन्तिहि ।
अधर्मो धर्मरूपेण गृहीतस्तन्तर पण्डितैः ।। - 7/13

मनसश्चात्मनश्चैव संयोगज्चतथापरे ।
उक्तानुमधिकाह्येते केवलं योगवंचिताः ।। - 14

लोको वशी कृतो येन येन चात्मावशी कृतः ।
इन्द्रियार्थो जितो येन तं योगं प्रब्रवीभ्यहम् ।। - 7/1

अभियोगात्तथाभ्यासात् तस्मिन्नेव तु निश्चयात् ।
पुन पुनश्च निर्वेदाद्योगः सिद्धयति नान्यथा ।। - 6

आत्म चिन्तन विनोदेन शौच क्रीडनकेन च ।
सर्वभूतसमत्वेन योगसिद्धयति नाऽन्यथा ।। 7/7

- दक्ष स्मृति

4. विशेष उपयोग (विशिष्ट अवधारणा)

इसी प्रकार से हम देखते हैं कि योग विषयक लोक विश्रुत एवं सामान्य अवधारणा भ्रान्ति पर आधारित रही है, जिसमें योग को वैदिक समाज से परे एवं अर्वाचीन मन्द बुद्धियों एवं अल्पज्ञान रखने वालों ने इसे "काला जादू" का नाम दे डाला, परन्तु जो शास्त्र चिन्तक एवं विद्वत् समाज है, वह इसे आदर एवं सम्मान की दृष्टि से देखते हुये कहता है कि योग ही एक ऐसा दर्शन या माध्यम है, जिसके माध्यम से मनुष्य "शतंजीवि" हो सकता है। मन को एकाग्र करने वाला सम्पूर्णांग ज्ञान यदि किसी दर्शन से प्राप्त होता है, तो वह सम्यकतया योग द्वारा ही हो सकता है। जैसा कि गीता में भी कहा गया है कि मनुष्य को कर्म एवं ज्ञान योग को अपनाना चाहिये। जिसके कारण गीता ने कर्मयोगी को सर्वोपरि माना भी है। तथा कहा भी है कि "यदि कोई कर्म को क्लेश (दुःख) रूप समझ कर त्याग देता है या शारीरिक कष्टों से या उस कर्म को कठिन समझ कर त्याग देता है, तो भी उसे उस त्याग का कदापि फल नहीं मिलता अर्थात् उसे कर्मबन्धनों से छुटकारा नहीं मिलता है।"[2]

---

1. तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्तात् शुक्रमुच्चरत पश्येमशरदः शतम् जीवम शरदः शत
श्रृणुयाम शरदश्शतम् प्रवरकमशरदः शतम् अदीनाः स्याम शरदः शतम् अदीनाः
स्याम शरदःशतम् भूयश्चशरदः शतात् ।। - शु० यजुर्वेद, दृ रूद्राष्टाध्यायी
अ० ३६ मं० २४

कुर्वन्नेहकर्माणि जिजीविषेच्छत समाः ।
एवं त्वयिनान्यथेतोऽस्ति न कर्मलिप्यते नरः ।।- गीता ई० ३० मं० 2

2. दुःखमित्येवयत्कर्म काय क्लेशभयात् त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्याग फलम् लभेत् । - गीता अ० १८ श्लो० ८

अपितु कर्म को निष्काम भाव से करने में ही तप समझना चाहिये । जिससे समाज प्रगति पथ पर अग्रसर हो सके । ऐसे विशिष्ट विलक्षण तत्वों का ज्ञान यदि कहीं किसी दर्शन से प्राप्त होता है, तो वो वास्तव में योग ही है ।
इन्हीं सबकारणों से आज हम देख सकते हैं कि योग की सर्वत्र प्रशंसा हो रही है एवं शनै: - शनै: अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर है । सर्वोत्तम एवं सर्वश्रेष्ठ विशेषता समानता की है जिसमें जाति पाति के बन्धनों को पीछे रखते हुये योग समानता से जीवन व्यतीत करने का अधिकार एवं बल प्रदान करता है । जैसे - "विद्या विनयता से सम्पन्न होने पर योगी ब्राह्मणों गौओं कुत्ते हाथियों एवं चाण्डालों को समान दृष्टि से देखते हुये विचरण करता है । अर्थात् समान दृष्टि रखते हुये विचरण करता हुआ परम आनन्द को प्राप्त होता है ।"[1] जिसे दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि योग समाज को जोड़ता है ।" राग द्वेष " से रहित[2] समाज की स्थापना करने वाला एक श्रेष्ठ माध्यम है। जिसके कारण आज इसकी विशेषता का अनुमान स्वयं ही लगाया जा सकता है ।

5. आधुनिक युग में योग की आवश्यकता

आधुनिक युग में योग की भी इतनी ही अधिक महत्ता सिद्ध होती है जितनी कि विज्ञान की । जैसे - जैसे विज्ञान प्रगति पथ पर अग्रसर होते हुये विकसित हुआ एवं हो रहा है, व्यक्ति भी उतना ही भौतिकवादी बन गया है तथा व्यक्ति अधिक से अधिक भौतिक सुख साधनों के प्रति आकृष्ट होता

---

1. विद्या विनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिता: सम दर्शिन: ।" गी० अ० ५ श्लो० १८

2 - रागद्वेष वियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ।। - गीता 2/64

होता जा रहा है। जिसके परिणाम स्वरूप मनुष्य की मानसिक एवं शारीरिक क्षमता घट रही है । यही कारण है कि उसको विविध आधि-व्याधियों ने घेर लिया है तथा जीवन-अशान्त एवं भयावह हो गया है । जिनसे मुक्ति दिलाने में योग एक प्रासंगिक एवं युक्ति युक्त है ।

एक समय ऐसा भी आया कि प्राचीन युग में शारीरिक स्वास्थ्यता के क्षेत्र में आयुर्वेद पद्धति का एकाधिकार था। जिसका स्थान बदलते हुये परिदृश्य में एलोपैथिक पद्धति ने ग्रहण कर लिया और आयुर्वेद पद्धति सीमित होकर रह गई । परन्तु सत् तो सत् ही होता है, जिसका निराकरण कर पाना कठिन ही नहीं अपितु सदा सर्वदा असम्भव भी होता है। ऐसे ही आज पुनः समय की पुकार ने आयुर्वेद की महत्ता को अनुभव किया है और विश्व भर में इसकी प्रक्रिया को अपनाने पर बल दिया जा रहा है । ऐसे ही योग के साथ भी हुआ । लोग इसकी महत्ता को भूल गये और अन्धा धुन्ध विज्ञान का अनुकरण करने लगे । परन्तु आज विश्वभर में योग की आवश्यकता अनुभव की जा रही है । चाहे वो शारीरिक क्षेत्र में हो, सामाजिक हो या पर्यावरण की ही क्यों न हो ? सर्वत्र समभाव में बनाये रखने में योग मुख्य भूमिका निभा सकता है, ऐसा माना जा रहा है ।

यद्यपि आध्यात्मिक क्षेत्र में उन्नति के लिए एवं रहस्यों को जानने के लिए इसकी परमावश्यकता तो है ही, परन्तु इन्हीं के साथ भ्रष्ट सामाजिक रूप को सुधारने में भी इसकी उतनी ही उपदेयता है, जितनी कि देह की स्थिरता में प्राणों की आवश्यकता रहती है । जिस प्रकार देह के लिए प्राण परमावश्यक है, ठीक उसी प्रकार एक स्वच्छ शरीर, स्वच्छ समाज एवं स्वच्छ पर्यावरण को बनाये रखने के लिए योगाभ्यास भी परमावश्यक है ।

सभी दार्शनिक इस विषय में एक मत है कि जन्म-दुःखों का कारण है । जो भी प्राणी जन्म लेता है वह किसी न किसी क्लेश से ग्रसित होता है । जिन्हें सांख्य ने सम्यक् रूपेण त्रिविध - आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक माना है और इनसे ~~न~~ निवृत्ति के लिए ज्ञान योग एवं योग ज्ञान का होना परमावश्यक है । अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्यपरिग्रह । शौच सन्तोष तपः स्वाध्याय समाधि ।।

यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो अष्टांग योग के अंगभूत यम नियम एक स्वच्छ समाज की स्थापना एवं हिंसादि प्रवृत्तियों से मुक्ति दिलाने वाले सम्यक् साधन हैं । जिनका समाज को आवश्यकता के अनुसार पालन करते हुये लाभ प्राप्त करना चाहिये तभी समाज प्रगतिशील बन सकता है । अतः इन सब तथ्यों की जानकारी से अनुभव होता है कि आधुनिक युग में योग की आवश्यकता ही नहीं अपितु परमावश्यकता है ।

6. योग का महत्व

योग ज्ञान के बिना मन को नियन्त्रित कर पाना बड़ा कठिन ही नहीं, असम्भव सा है। जिसके कारण स्वरूप समाज में प्राणि मात्र ही नहीं बल्कि पूर्ण समाज अनियन्त्रित सा होने लगता है। जिससे राजा और प्रजा दोनों एक दूसरे से पृथक् हो जाते हैं और समाज में भ्रष्टाचार की उत्पत्ति होने लगती है, जो समाज मन को वश में नहीं रख सकता है, शनैः - शनैः उस समाज के पतन का कारण भी बनती है, जैसे कठोपनिषद में स्पष्ट किया गया है -

" जो सदा विवेकहीन बुद्धि वाला और अवशीभूत मन से रहता है उसकी इन्द्रियां असावधान सारथि के दुष्ट घोड़ों की भांति वश में न रहने वाली हो जाती है ।[1]

विशेष व्याख्या - इसी मन्त्र की विस्तृत व्याख्या हरिकृष्णदास गोयन्दका की भी मिलती है जो स्पष्ट कहते हैं कि अविवेकी स्वामी के अर्थात् बुद्धि के होने से लगाम नियन्त्रण में नहीं रहती है। जिसके सहारे मुड़ने वाली अर्थात् जिसके इशारों पर नाचने वाली इन्द्रियां अनियन्त्रित हो जाती हैं और समय पर नियन्त्रण न कर पाने से रथ को गड्ढे में डाल देती हैं। अत: बुद्धि को चाहिये कि वह मन को पकड़े रखे अर्थात् बुद्धि रूपी राजा को चाहिये कि वो अपने मन रूपी मन्त्री पर दृष्टि रखे एवं मन्त्री को चाहिये कि वो अपनी ही इन्द्रियों रूपी प्रजाजनों को नियन्त्रण में रखे जिससे रथ को गड्डे में गिरने से बचाया जा सके अर्थात् समाज को बचाया जा सके और परम गति को प्राप्त किया जा सके ।

इतना ही नहीं अपितु समाज को स्वस्थ रखने एवं भ्रष्टाचार से छुटकारा दिलाने के लिए भी योग में बताये गये नियमों का पालन यदि हो जाये, तो यह सच ही समाज के लिए वरदान साबित हो सकते हैं, जिससे अष्टांग योग का महत्व और भी बढ़ जाता है ।

---

1. यस्त्वविज्ञानवान भवत्ययुक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि अवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथे: ।। -कठोपनिषद - 1/3

योग के महत्व को प्रकटित करने एवं उसे लिखने की शक्ति हो सकता है कि किसी की लेखनी में हो जो लिख सके, परन्तु वास्तविकता यह है कि ऐसी लेखनी का उत्पन्न होना बड़ा असम्भव है। क्योंकि इसे लिखने एवं लिख कर समझने के लिए अखिल विश्व जितना हृदय चाहिये जो केवल एक योगी के हृदयस्थल तक ही सीमित है जैसे काश्मीर शैव दर्शन के पुनरुद्धारक क्षेमराज जी ने "प्र०भि०हृ०३४" में दर्शाते हुये कहा है कि "यह शरीर ही वास्तव में "सम्पूर्ण विश्व है"[1] और सम्पूर्ण विश्व का अभ्युदय इसी से होता है," और इसी सूत्र के समर्थन में एक श्लोक महाभारत से भी मिलता है जिसमें स्पष्ट कहा गया है कि " यह अपना है अमुक पराया है ऐसी कल्पना या सोच सीमित ज्ञान रखने वालों की होती है जो वास्तव में उदार चरित हैं। वे सम्पूर्ण विश्व को अपना और स्वयं को सम्पूर्ण विश्व का मानते हैं "[2]

इसी के समर्थ में गीता[3] एवं ईशावस्योपनिषद्[4] भी करता है। योग युक्त चित्त वाले सब प्राणियों में स्वयं को एवं सब को अपने में देखते हुये सर्वत्र सुख दुःखों में समान भाव से विचरण करते हैं जिससे योग सम्पूर्ण विश्व को एक ही सूत्र में मणियों की भांति पिरोता है जिससे आज के इस निर्धन एवं धनी इस स्वार्थ निहित विश्व में इसके प्रसार को महत्वपूर्ण दृष्टि से देखा जा रहा है।

सर्वो ममायं विभव इत्येवं परिजानतः । विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता ॥ प्र०भि०हृ०पृ० ३३

1. "

2. अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानां वसुधैव कुटुम्बकम् ॥ - महाभारत

3. सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योग युक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ - गीता - 6/29

4. यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥ -ई० उपनिषद् - 6

क) योग एवं शरीर

जैसे इन्धन एवं अग्नि का, जैसे सूर्य एवं किरणों का, जैसे चन्द्रमा का चान्दनी से सम्बन्ध है वैसे ही योग एवं शरीर का सम्बन्ध है। प्रथम शरीर ही नहीं होगा तो योग कैसे होगा ? अतः योगासनों को करने के लिए ही शरीर का निर्माण हुआ। जातकोत्पत्ति से पूर्व एवं तदनन्तर जब शरीर की उत्पत्ति होती है, उसी के साथ - साथ इसे कैसे स्वस्थ रखा जाये इस पर विचार बनने लगता है और उन विचारों में से सर्वश्रेष्ठ यदि कोई शरीर को स्वास्थ्य प्रदान करने का साधन है तो वह योग ही है। जिसमें अनेक प्रकार के दुःसाध्य एवं सुसाध्यासनों को दर्शाया गया है -

स्वस्तिआसन, शीर्षासन, वीरासन, पद्मासन, दण्डासन, सोपाश्रयम्, पर्यङ्कम्, क्रौञ्चनिषदनम्, हस्तिनिषदनम् उष्ट्रनिषदनम् समस्थानम् तथा स्थिर सुखं एवं यथासुख आसनों के माध्यम से शरीर को स्वस्थ रखने एवं युक्तहार विहार जैसे उपदेशों द्वारा शरीर को पुष्टि प्रदान करता है।

ख) योग एवं मन

वास्तव में योग की उत्पत्ति युज् समाधि के अर्थ हुई और समाधि का तात्पर्य सम्यक्तया स्वदेहे अधिः तिष्ठति यः तस्य सम्यक् अध्ययनम् इति समाधिः। जो प्राणि के अन्दर निवास करता है उसके पास बैठना एवं बैठकर पता लगाना कि यह वास्तव में क्या है जिसका न तो कोई आकार है न कोई स्थान है न कोई पता ही चलता है कि यह कब विश्राम करता एवं चलता है सोता या जागता है कैसी - कैसी शुद्धाशुद्ध कल्पनायें करता है और कैसे यह

1. स्थिरसुखमासनम्। - पातञ्जलयोग सूत्र साधनपाद - 2/46

दूसरों के हृदयों के सुख दुःखों का ही ज्ञान करता है, बिना भोगे ही भोगों का कैसे आनन्द लेता है । यह [illegible] क्या है। यह शरीर है या शरीर में रहने वाला कोई विशेष तत्व आत्मा या आत्मा से भिन्न है । यह सब बातें उसी ओर इंगित करती है जिसे भागवत में अमना भी कहा है एवं समना भी । अमना तब होता है जब हम बात किसी से करते हैं और चित्त कहीं और होता है, माला गले में होती है, ढूंढते हम इधर उधर हैं तथा समना तब होता है। जब आत्मा (चित्त) एवं मन एक ही स्थान पर स्थिर होते हुये बातचीत में सुस्पष्ट रुचि दिखाते हैं और बात को समझने का सुप्रयास करते हैं। यह सब मन ही करता है । मन शरीर के अन्दर रहने वाला सर्वाधिक बलवान एवं योगवाही है। यह अत्यन्त वेगशाली देव भी है एवं शैतान भी है । जिसे स्थिर करने के लिए ही योग की आवश्यकता समझी गई और "यजुर्वेद ने छः मन्त्रों को ही इस पर लिख दिया[1] ।

योग को ही वास्तव में मनोज्ञान भी कहा गया है, ऐसा इसलिए भी कहा गया है कि योग भटकते हुये मन को नियन्त्रित करने की क्षमता रखता है । क्योंकि योग में ऐसी अनेक क्रियायें हैं, अनेक ऐसे मार्ग हैं, जिनके माध्यम से वास्तव में मन पर विजय पायी जा सकता है । यम नहीं तो नियम से एवं यदि हम किसी प्रकार से यम-नियमों का सम्यक्तया प्रतिपालन नहीं भी कर पाते हैं तो उनके बाद आने वाली क्रमशः बहुत सुदृढ़ एवं बलशाली क्रियायें हैं जिनसे भटकता

---

1. उ यज्जाग्रतो ---------तन्मेमनः शिवसंकल्पमस्तु ।। शु० य० अ० ३४/१/५

हुआ मन भी अंतत: वश में ही हो जाता है। जैसे प्राणायाम-प्रत्याहारादि। परन्तु इस वशित्व को बनाये रखने के लिए सम्पूर्ण जीवन, जब तक देह रहे तब तक अनवरत सुप्रयास करने का निर्देश किया गया है जिसके कारण स्वरूप भी योग की महत्वता प्रकटित होती है। जीवन के रहते हुये मन कभी भी अनियन्त्रित हो सकता है, जिससे की गई तपस्या कुछ ही क्षणों में समाप्त हो सकती है। जैसे एक भवन को बनाने के लिए बालू, ईटें, सीमेन्ट, जल, लकड़ी, लोहा, राज (मिस्त्री) मजदूर सब हो तो एक भवन का निर्माण होता है और तोड़ने के लिए एक मात्र बम चाहिये।

ऐसे ही मन को वश में करने के लिए अष्टाङ्ग योगदर्शनम् की महर्षि पतंजलि जी ने स्थापना की थी। ताकि मन पर विजय पायी जा सके जिससे परम लक्ष्य को प्राप्त किया जा सके। वो लक्ष्य चाहे विदेह मुक्ति का है, सामाजिक है या औद्योगिक क्षेत्र विषयक है, सभी लक्ष्य एक जैसे महत्व रखते हैं सभी का समाज की स्थिति के साथ किसी न किसी प्रकार से सम्बन्ध है और उन सब लक्ष्यों की पूर्ति यदि किसी प्रकार से हो सकती है, तो वह मन को विजयी कर दृढ़ प्रतिज्ञ करके ही प्राप्त की जा सकती है और मन पर विजय योग के द्वारा ही पायी जा सकती है। जिससे योग एवं मन का अनन्य सम्बन्ध का पता चलना सहज ही ज्ञात हो जाता है।

योग और समाज

प्रश्न उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है कि योग तो शरीर को स्वस्थ बनाये रखने या मुक्ति विषयक होता है फिर इसका समाज के साथ कैसा सम्बन्ध? उत्तर यह सत्य है कि योग से शरीर स्वास्थ्य लाभ अर्जित करता हुआ शतजीवि

होता है और मन को स्थिर रखते हुये परमगति को (मुक्ति को) प्राप्त किया जा सकता है परन्तु एक सुस्वस्थ समाज की स्थापना में भी योग का अपना महत्वपूर्ण स्थान रहा है और यह क्रिया कलाप तब के हैं जब वास्तव में विश्व अभी सोया हुआ था और भारत वर्ष में इस पर विचार हो चुका था जिसका स्पष्ट प्रमाण वेद हैं। जिनसे प्रजा को अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य अपरिग्रह एवं शौच सन्तोषादि यम नियमों के पालन करने का स्पष्ट आदेश दिया गया था और आज भी जिस समाज में जिन देशों में ऐसे नियमों का पालन हो रहा है व प्रगति पथ पर हैं जैसे ब्रिटानिया, अमेरिका एवं कैनेडा जैसे देश इसका सुस्पष्ट उदाहरण के रूप में देखे जा सकते हैं। अतः यह स्पष्ट ही नहीं बल्कि विश्वसनीय भी है कि जब तक जो - जो समाज अहिंसा सत्यादि यम - नियमों का प्रतिपालन मन वाणी कर्म से नहीं करता है तब तक उस - उस समाज से भ्रष्टाचार से धन की समाप्ति नहीं हो सकती है और नहीं असहाय को आश्रय ही उपलब्ध हो सकता है। हमें योग से स्पष्ट आदेश प्राप्त होते हैं कि यदि आप अपने समाज को अर्थात् विश्व में शान्ति की इच्छा रखते हो तो मन वाणी कर्म से योग में निर्देश किये गये धर्मों का पालन करें। जब विश्व के सभी प्राणी इन अहिंसादि धर्मों का पालन करने लगेंगे तो न हि कोई पराया लगेगा और नहीं भ्रष्टाचार ही उत्पन्न हो पायेगा। जिससे सर्वत्र प्रेम एवं सौहार्द का वातावरण बनेगा और धनी एवं निर्धनता की जो खाईयां हैं वह भी दूर होंगी और आम व्यक्ति परस्पर एक दूसरे की वेदना को जानते हुये वेदना को दूर कर सकेगा। जिससे पृथ्वी पुनः स्वर्ग धाम बन सकती हैं।

योग समाज को जोड़ता है तोड़ता नहीं। क्योंकि योग का अर्थ ही जोड़ना है दो सन्धियों के मेल को योग कहते हैं।[1]

---

1. योगोपात्त समाधानम् - भोजवृत्ति 1/1

ऐसा आज माना जा रहा है कि धन से बड़ा कोई अन्य वस्तु नहीं जिसके पास धन है वही सुखी है परन्तु ऐसा नहीं है धन से भी बड़ा सहयोग है, भाईचारा है, मित्रता है । धन मनुष्य का साथ तभी तक दे सकता है जब तक मनुष्य शारीरिक तौर पर पुष्ट है परन्तु उसकी पुष्टता भी समाज पर निर्भर करता है उसका बचपन भी पराया था और बुढ़ापा भी पराया रहेगा । इन दोनों समीकरणों को यदि मनुष्य सम्मुख रखकर चले तो समाज में पनपती एवं बलवती धन की धारणा स्वयं कमजोर पड़ सकती है । ऐसा नहीं की धन की जरूरत नहीं है अपनी- अपनी जगह स्थान पर सब महत्व रखते हैं परन्तु हम देखते हैं कि एक मनुष्य के पास धन तो है पर सहयोग नहीं और एक समय ऐसा आता है कि दुर्भाग्यवश प्राणी दुर्घटनाग्रस्त हो जाता है और तब वह अकेला पड़ा रह जाता और उसको उठाने में भी कोई रूचि नहीं रखता है । तब भला आप स्वयं अनुभव कर सकते हैं कि धन बड़ा है या सहयोग अर्थात् मित्रता । मित्रता एक से नहीं अपितु पूरे समाज से बनाये रखनी चाहिये ताकि कभी भी किसी भी समय किसी प्राणी को आवश्यकता पड़ सकती है इसलिए कहा है कि प्रेम से आप किसी को जीत सकते हैं धन से नहीं ।

"बेजान धन से श्रेष्ठ जानदार " धन और "सब से बड़ी सेवा है मानव सेवा" । मानव सेवा सर्वोपरि है । " शुश्रूषा परमोधर्म: "

योग एवं शान्ति

योगदर्शन एक ऐसा दर्शन रहा है जो सभी दार्शनिकों को किसी न किसी रूप में स्वीकार्य तथा मान्य रहा है चाहे वो नास्तिक मतावलम्ब हो या आस्तिकमतावलम्ब हो । जिसके कारण स्वरूप इसका किसी भी दार्शनिक के साथ कोई भी मतभेद नहीं रहा है । यहां मतभेद नहीं होते वहां अशान्ति के उत्पन्न होने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता जिसके कारण स्वरूप योग शान्ति का उपदेश देते हुये एक शान्त चित्त समाज की स्थापना करता है । यद्यपि योगदर्शन ने नास्तिकों की अपेक्षा ईश्वर को माना है परन्तु उन पर कहीं भी आक्षेप नहीं किया गया है । इसकी अपनी ही विचारधारा रही है प्रसन्नचित्त रहना किसी को बुरा न कहना, बुरा न करना, अहिंसामय समाज की स्थापना करना, सत्य का पालन करना, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, जो भी बिना मांगे मिले उसी को ग्रहण करना एवं सन्तोष करना, प्रत्येक प्रकार से स्वच्छ रहना सन्तोष रखना, शरीर को सुन्दर बनाने के लिए तपस्या करना (व्रतों का पालन करना) अपने लक्ष्य की प्राप्ति हेतु स्वाध्याय करना तथा सम्यक समाधि लगाना और ईश्वर का भजन पूजन सत्कर्म करने जैसे विषयों को प्रकाशित करता है । जिस समाज में उपरिलिखित नियमों का पालन होता है भला वहां अशान्ति कैसे पैदा हो सकती है ? यदि इनमें विशेष कर "यम" के अन्तर्गत आने वाले नियमों में किसी एक के भी पालन में कमी रहे तभी शान्ति भंग होगी एवं अशान्ति उत्पन्न हो सकती है अतः योग का विषय शान्ति प्रदान विषय रहा है ।

योग एवं पर्यावरण

योग का पर्यावरण के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है । योग अहिंसा का प्रसार करते हुये कहता है कि समाज सर्वत्र अहिंसामय वातावरण रहना चाहिये और सभी प्राणी एक समान है और अहिंसा सब पर एक जैसी लागू होती है ।[1] जिस समाज के अन्दर अहिंसा की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है वहां कोई किसी का वैरी नहीं होता सर्वत्र निर्वैद होते हैं । जिसका समर्थन दुर्गासप्तशति भी करती हुई उपदेश करती हुई कहती है - यहां तक ज्ञान का प्रश्न है वह सब में बराबर चाहे वो "जानवर है या मनुष्य " यदि अन्तर है तो वो केवल इतना है कि मनुष्य ज्ञान बोध रखता है सद् असद् का ज्ञान रखता है जिससे वो अपने पूर्व जन्म के कर्मों को दग्ध कर विमुक्त हो सकता है ।[2]

हिंसा तो हिंसा ही होती है चाहे वो चींटी को मारने की हो या हाथी को मारने या वृक्षों को काटने रूपी हो उसे हिंसा ही माना गया है । मनुष्य को शास्त्र उपदेश करते हुये कहते हैं कि जो काष्ठ सूखा हुआ गिरा हो या वृक्षों के साथ जुड़ा हो उसे ही ग्रहण करें या जिन वृक्षों की आयु समाप्त हो रही हो उन्हें ग्रहण करने में कोई दोष नहीं होता परन्तु उनकी स्थानपूर्त्ति के लिए भी साथ ही निर्देश भी है और उन्हीं निर्देशों की आज्ञा का पालन करवाने के लिए ही वन विभागों की समाज में स्थापना भी की गई थी ताकि सभी

---

1. अहिंसा प्रतिष्ठायाम् तत्सन्निधौ वैरत्यागः । - पातंजलयोगदर्शनम्, साधनापद - 35

2. ज्ञान मस्ति समस्तस्य जन्तोर्विषयगोचरे ।।
विषयश्चमहाभागयाति चैवं पृथक् पृथक् ।। - दुर्गा सप्तशति अ०१श्लो०४७-४८

अपने-अपने कर्तव्यों का पालन कर सकें। ताकि एक अहिंसामय समाज की कल्पना की जा सके और सभी अपनी-अपनी जिन्दगी आनन्द से व्यतीत कर सकें चाहे मनुष्य हों या अन्य प्राणी। जीने का अधिकार सब समान दिया है।

भगवान वेद स्वयं कहते हैं कि "सब की उत्पत्ति का स्थल मैं ही हूं"[1] - जब इस बात को जनता गहराई से समझने लगे तो मनुष्य मनुष्यों का परस्पर भेद समाप्त होता ही है जबकि इस मन्त्र में जानवरों से भी वैर समाप्त हो सकता है।

शारीरिक एवं मानसिक पर्यावरण

शरीर सत्वं संज्ञ च। मन को सत्व भी कहा है। योग के माध्यम से शारीरिक पर्यावरण को संतुलित रखा जा सकता है। शारीरिक पर्यावरण भी दो प्रकार का माना गया है प्रथम शारीरिक द्वितीय मानसिक शारीरिक पर्यावरण को व्यायाम से तथा मानसिक पर्यावरण को बनाये रखने के लिए शास्त्र चिन्तन गुरु आज्ञा एवं सत्यधर्मों के पालन की आवश्यकता पर बल दिया गया है। मानसिक सन्तुलन एवं शारीरिक सन्तुलन को बनाये रखने के लिए मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ मित्र (साथी) योग ही रहा है जिसको अपना कर मनुष्य अपने पथ्यापथ्य का ज्ञान प्राप्त कर सकता है कि कौन सा द्रव्य मेरे लिए उपयुक्त है और कौन सा अनुपयुक्त है। इस बात के ज्ञान के लिए मन बुद्धि का एक होना परमावश्यक होता है जिसे योग एक कर देता है। मन क्षण भर में वस्तु के सभी पहलुओं पर

---

1. ऊं तस्माद्श्वा5जायन्तयेके चोऽभयादत: सा गावोह यगिरे
तस्मात्तस्माज्जाता5जावय: ।। - रुद्राष्टाध्यायी, पुरुषसूक्त मं. 8

प्रकाश डालता है और बुद्धि उसे अपने नियन्त्रण में रखकर उससे एक एक काम करवाती है । यही विशेषता है योग की वो भड़कते हुये मन को कुछ यम नियमों से तो ऐसा कुछ अष्टाङ्ग योग से नियन्त्रण पा लेता है । जिससे शारीरिक एवं मानसिक पर्यावरण संतुलित रहता हुआ भी दिखाई देता है ।

सामाजिक पर्यावरण

आज सामाजिक पर्यावरण सर्वाधिक क्षतिग्रस्त है एक तरफ धनाढ्य वर्ग एवं देश आनन्द ले रहे हैं तो एक तरफ गरीबी रेखा बिल्कुल नीचे, नीचे तो क्या भूखमरी से समाज मर रहा है । कितनी विडम्बना की बात है कि हम अपने ही मित्रों अर्थात् प्राणियों से द्रोह करते हैं रंगभेद की नीति को यथावत रखें हुये हैं । जब तक ऐसी भावनायें प्रबुद्ध एवं सम्पन्न वर्ग से नहीं निकलती तब तक सामाजिक पर्यावरण स्वस्थ हो जाये कहना कठिन होगा । योग सामाजिक शिक्षा को देते हुये कहता है कि कोई पराया नहीं है सभी अपने हैं तो ऐसी शिक्षा पर ध्यान देना होगा और शारीरिक व्याधियों के नाशार्थ योग का प्रयोग हमें इन निर्धनता से एवं भूखमरी से मरने वालों पर भी करना होगा तभी समाज उन्नति कर सकता है । इससे मन भी कुसुमित रहता है । धनी को चाहिये की वो अपने कार्य क्षेत्र को नियन्त्रित रखने योग्य धन से कुछ अधिक रखकर जनता में समान भाग से अर्पित करे क्योंकि उसका धन आखिर जनता का है जनता के ही खून पसीने से उसने एकत्र किया होता है ऐसा तो है नहीं कि वो उसके अकेले के सहयोग से उत्पन्न हुआ हो । उसकी खोज जरूर है लेकिन सहयोग जनता का ही होता है अतः ऐसी स्थिति में उसे जनता के प्रति भी उत्तरदायी होना चाहिये ।

प्राकृतिक पर्यावरण

प्राकृतिक पर्यावरण की समाज को अत्यधिक आवश्यकता है। जैसे वृक्षों को न काटना, वन्य प्राणियों को न मारना, जिससे वन्य प्राणियों में कमी न आ सके तथा शेर चीते गांवों में प्रवेश न कर सकें। जिसके विषय में बहुत बार समाचार पत्रों में पढ़ने को मिलता है कि हिमाचल में नरभक्षी तेन्दुओं ने मनुष्यों की जान ले ली। ऐसा इसलिए हुआ कि मनुष्य ने अन्धाधुन्ध वन्य प्राणियों का शिकार किया और शेर चीतों के लिए जानवरों की कमी आयी और उन्हें परवश होना पड़ा जिससे उन्होंने नरों को शिकार बनाना शुरू किया क्योंकि ईश्वर ने सबके लिए एक - एक वस्तु का आबंटन किया जैसे वन्य प्राणियों का सन्तुलन बनाये रखने के लिए उनकी जनसंख्या को नियन्त्रित करने के लिए शेर एवं चीतों की उत्पत्ति की। पृथ्वी पर मेंढक आदि को नियन्त्रित करने के लिए सर्पों की उत्पत्ति की, सर्पों को नियन्त्रित करने के लिए चील श्येन एवं नकुल विशेष की उत्पत्ति की और जड़ी बूटियों फल - फूलों एवं अनाज जैसे शुद्ध रसों को उत्पन्न किया मनुष्य के लिए। परन्तु फिर भी अज्ञानी मनुष्य एक ही रट लगाये हुये है कि यदि हम इन्हें नहीं मारेंगे तो यह हमें ही मार देंगे। यह जंगली प्राणी मनुष्य को कैसे मार सकते हैं यदि इनके पास पर्याप्त जंगली धन रहेगा। शेर चीतों को मनुष्यों की अपेक्षा जंगली जानवर ही अधिक पसन्द हैं, उससे इनकी वृद्धि भी सम्भव होगा। प्राकृतिक सम्पदा को स्वच्छ एवं शुद्ध बनाये रखना ही योग का लक्ष्य रहा तभी उसने अहिंसादि यम एवं शौचादि नियमों के पालन के लिए प्रतिपादित किया गया है।

सामुदायिक पर्यावरण

ऊँ संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ।। - ऋग्वेद

समुदाय के विभिन्न वर्गों को एक दूसरे की बात का समर्थन करना चाहिये और आम राय से सबको समान अवसर प्रदान करते हुए एक विशेष आम राय बनाना चाहिये । जिससे सामुदायिक तनाव से बचा जा सके ।

योग और विज्ञान

योग तो स्वयं विज्ञान ही तो है, जो मनुष्य के जन्म के कारणों का पता लगाता है और [illegible] का पता लगाकर उससे पुनरावागमन के कुचक्करों से छुटकारा दिलाता है। जैसे पातञ्जलयोगदर्शनम् शास्त्र में ही स्पष्ट किया गया है कि जो प्राणी "अपरिग्रह" की भावना को अपनाते हुये योग करता है, उसे अपने जन्म का कारण एवं पूर्व जन्म ज्ञान हो जाता है जिसे जानकर वह यहीं इसी शरीर के रहते हुये योग प्रक्रिया से अर्थात् ज्ञान योग के आश्रय से भव चक्कर से सदा - सदा के लिए मुक्त हो सकता है ।

इसके अतिरिक्त योग वैज्ञानिक क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण स्थान रखता है । मन के इधर-उधर भटकने या लापरवाही से वैज्ञानिक क्षेत्र को बहुत भारी हानि उठानी पड़ती है , बड़े-बड़े शल्य चिकित्सकों से शल्य चिकित्सा के समय मनुष्य के अन्दर वस्त्र का कुछ भाग या शस्त्र रह जाते हैं। जिसके कारण डाक्टर को लज्जा का सामना तो करना ही पड़ता है साथ प्राणी की जान को भय ﴾खतरा﴿ रहता है । मन की लापरवाही का ही कारण था भोपाल में गैस

नासिका एवं मुख में धेनौमार्दन से गैस रिसाव होना एवं मन की लापरवाही के कारण ही विपुल धन सम्पत्ति से तैयार किये गये रॉकेट अपने लक्ष्य की प्राप्ति से पूर्व ही नष्ट हो जाते हैं। जबकि इन सबकी उत्पत्ति का गर्भ स्थान भी मन ही रहा है, मन ही अनोखी अनोखी कल्पनायें करते हुये, अनोखे - अनोखे कलाकृतियों की पहले कल्पना करता है और तदनन्तर बुद्धि उसे मूर्त्तरूप प्रदान करती है। परन्तु मन ही उसे नष्ट भी कर देता है। एक कलाकार की कलाकृति ही कलाकार के मनोभाव को प्रकटित कर देती है कि इसका मन स्थिर था या अस्थिर। अतः मन को स्थिर रखने के लिए योग समाज के सभी वर्गों के लिए अपेक्षित है।

उद्यमी एवं अध्यापक (एवं छात्र)

एक उद्यमी तब तक उद्योग नहीं कर सकता है, जब तक उसका मानसिक सन्तुलन ठीक न हो। किसी भी कार्य करने से पहले मनुष्य के मानसिक सन्तुलन का स्वस्थ होना परमावश्यक है, चाहे वो वैद्य हो, अभियन्ता हो, उद्यमी हो, वैज्ञानिक हो, अध्यापक एवं छात्र हो या राजा और प्रजा ही क्यों न हो। प्रत्येक देश को सुव्यवस्था एवं प्रगतिशीलता लाने के लिए मनोयोग का सन्तुलित होना अत्यधिक महत्व रखता है। परन्तु इनमें भी अध्यापक एवं छात्र का परस्पर मानसिक सन्तुलन होना एवं कर्तव्यों का पालन परमावश्यक हो जाता है। अध्यापक समाज की रीढ़ की हड्डी है। अध्यापक से ही छात्र शिक्षा प्राप्त करेंगे और जो वो अपने गुरुओं से सीखेंगे उसी पर आगे शोध करेंगे। किसी भी

---

(1) अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः। पा० यो० सू० पा० 2 सू० 39

समाज की उन्नति तब तक नहीं हो सकता, जब तक उसके पास योग्य प्रशिक्षक न हों। योग स्वयं एक अध्यापक और उसे अपनाने वाले लोग छात्र हैं और छात्रों को चाहिये कि वे हंस बन कर सारभूत तत्व को मन से ग्रहण करें एवं स्थूल तत्व को छोड़ दें, जैसे हंस दूध में सूक्ष्म तत्व दूध को ग्रहण कर लेता है और पानी को छोड़ देता है, ऐसे ही छात्र को चाहिये कि वह अपने गुरूओं से ज्यादा से ज्यादा ज्ञान मन लगा कर अर्जित करें और गुरूओं को चाहिये कि वे समदर्शी बन अपने सम्पूर्ण ज्ञान को अपने छात्रों में वितरित करें, ताकि विद्या का प्रसार प्रचार निर्बाध रह सके। यदि किसी समाज के अध्यापक, प्राध्यापक ऐसा नहीं करते हैं, तो उस समाज को आने वाले पीढ़ी को भारी हानि उठानी पड़ती है। जिससे समाज उन्नति की अपेक्षा अवनति को प्राप्त होता है। अत: यह कहना युक्ति युक्त ही है कि गुरू परमात्मा होता है, जो मनुष्य की जिन्दगी को संवारते हुये एक विलक्षण एवं विस्मयजनक बना देता है। यद्यपि मनुष्य की अपना भी योग्यता होता है, परन्तु जो उसने अपने गुरूओं से ग्रहण किया होता है, उन्हीं पर वह क्रमश: शोध करते हुये अग्रसर होता है। उसका अत्यधिक अपनी अपेक्षा, यदि गहराई से देखें तो गुरूओं के योगदान से मनुष्य परमगति को एवं परम लक्ष्य का वेधन करता है।

अभियन्ता

अभियन्ता के लिए योग की आवश्यकता इस बात से आंकी जा सकती है कि जब वे सरकारी या गैर सरकारी काम करते हैं, तब उनके मानसिक सन्तुलन का स्थिर रहना परमावश्यक हो जाता है। ऐसा विशेषकर आज के इस दौर

में और भी आवश्यक हो जाता है कि लगभग चारों ओर धनोपधा से काम हो रहे हैं। जिनके कारण देश को हानि का सामना करना पड़ रहा है। उन हानियों में देश के पुलों का भी नुकसान सहसा हो रहा, बहुमंजिला भवन बनाते - बनाते गिर रहे हैं और गरीब उद्यमी मर रहे हैं। ऐसी परिस्थिति में यदि कोई इन बातों से या हानियों से देश या जनता को लाभ प्रदान करा पाने में समर्थ है, तो वह केवल योग ज्ञान ही है। जिसे पाकर मनुष्य की मानसिकता प्रबल होती है और कार्यक्षेत्र में कभी भी वह लापरवाही नहीं करता है।

चिकित्सक

चिकित्सक के दो भेद हैं - एक वैद्य - चिकित्सक सामान्य दूसरा शल्य चिकित्सक।

दोनों का स्थान अपनी-अपनी दृष्टि से महत्वपूर्ण माना गया है। आज के इस बहुमुखी विकसित यान्त्रिक प्रणालियों के चलते हुये भी योग की आवश्यकता पर बल दिया जा रहा है। जिसका कारण बहुधा ये प्रणालियां मनुष्य को उतना लाभ नहीं पहुंचा पा रही हैं, जितना कि योग पहुंचा रहा है। एक युग ऐसा आया जब सामान्य एक्सरे से पता लगाया जाता, तदन्नतर इससे भी विशेष अल्ट्रासाउंड एक्सरे का युग आया, परन्तु दोनों को वास्तविक तौर पर पूर्णरूपेण सफल न होते देखकर आज डाक्टर परेशान है, कुछेक बिमारियां ऐसी हैं, जो इनमें नहीं आ रही, जैसे अभी कुछ दिन पूर्व एक व्यक्ति {विजय} रोग का शिकार हुआ दो बार शल्य चिकित्सा करवा चुका है, बिमारी का पता भी नहीं और शल्य चिकित्सा केवल अनुमान के आधार पर करनी पड़ी और दूसरी

बार पुनः अल्ट्रा साऊंड ऐक्सरे करवा रहा है, परन्तु बिमारी सामने फिर भी नहीं आ रही, कोई बिमारी तो है जो कि एक मनोज्ञानी अर्थात् योगसिद्ध के सामने आ चुका है केवल योग के माध्यम एवं अन्य ज्योतिष ज्ञान से। ऐसे ही एक ब्राह्मण वर्ग गुप्ता वंशीय व्यक्ति जिसकी उम्र केवल अभी 27-28 वर्ष है जिस को शारीरिक क्षेत्र के परीक्षण में पी0जी0आई0 चण्डीगढ़ से स्वास्थ्य प्रमाण पत्र प्राप्त हुआ है। परन्तु जातक तदनन्तर भी यही कहता है कि मैं रोगी हूं। ऐसे ही कुछ और भी सम्पर्क स्थापित करने पर बहुत ही महत्वपूर्ण जानकारियां ऐसी प्राप्त होती रहती हैं जहाँ वैज्ञानिकी यान्त्रिक विधियां असफल होती हुई देखी जा सकती हैं और इनका ज्ञान मनोयोग से प्राप्त किया जा सकता है। मनोयोगी अपने मन को भावुक करके समक्ष उपस्थित व्यक्ति के अन्दर आरोपित करता हुआ सहसा पता लगाने लगता है। समक्ष स्थित प्राणी का दुःख मात्र प्राणी का नहीं रहता है। उसका दुःख यथावत मनोयोगी का अपना बन जाता है और वह तुरन्त पता लगा लेता है।

इसके अतिरिक्त जब शल्य चिकित्सक किसी रोगी की शल्य चिकित्सा करते हैं, तो कई बार रोगी के अन्दर कोई न कोई उपद्रव कारक (हानिकर) वस्तु रह जाती है, जिसके परिणाम स्वरूप शल्य चिकित्सक के मानसिक असन्तुलन का परिणाम रोगी को भुगतना पड़ता है। इसी बात से पता चलता है कि मनुष्य चाहे किसी भी क्षेत्र से क्यों न जुड़ा हो, उसे अपने क्षेत्र के कार्यों का पालन तन्मयता से करना चाहिये, जिससे स्वयं को भी लाभ होता है और दूसरों को भी हानि नहीं होती और इस विधि को पाने का मात्र एक ही पथ है, एक ही विधि है, वह है प्राणायामादि योग - ज्ञान।

उद्यमी

उद्यमी बहु प्रकार के होते हैं। उन्हें उन्हीं-उन्हीं क्षेत्रों में तन्मयता से काम लेना चाहिये। यदि कोई लकड़हारा लापरवाही का शिकार होता है, तो उसका अंग कट सकता है। यदि भारवाही है, तब उसे लापरवाही से मोच आ सकती है, यदि कोई खदान का काम कर रहा है, तो उसे वहाँ भी शारीरिक आघात हो सकता है। अतः उद्यमी के लिए भी मानसिक सन्तुलन बनाये रखना बहुत जरूरी है। जिसे योग विधि से [सन्तुलित] पाया जा सकता है।

योग के लाभ एवं हानि

लाभ

हम देखते हैं कि जो भी वस्तु, द्रव्य या क्रिया उत्पन्न होती है उससे समाज लाभ पाता है। परन्तु लाभ के साथ ही साथ हानि का भी सम्बन्ध रहता है। जैसे पुण्य के साथ पाप का, जैसे ज्ञान से अज्ञान, जैसे धर्म एवं अधर्म का सम्बन्ध समाज में स्थित है। वैसे योग से अधिकतम लाभ ही है, हानि कम है। योग दर्शन समाज को अकिञ्चन कर्त्ता न बनाकर निष्काम कर्म मार्ग की ओर चलने के लिए प्रेरित करता है और शिक्षा देता है कि जाति समुदाय से ऊपर उठकर विश्व के अभ्युदय के लिए काम करो। मनुष्य को कर्त्तव्यपरायण होकर काम करना और फल की इच्छा न रखना योग की ही शिक्षा है। जिस कर्म को हम शारीरिक कष्ट या मानसिक कष्ट या धर्माधर्म मानकर त्याग देते हैं, उसे योग ही ऐसा है जो करने के लिए पौनःपुन्येन प्रेरित करता है। योग का मानना है कि जो व्यक्ति जिस काम को कष्टकारी समझ कर त्याग

रहा है, वह वास्तव में उसे कर सकता है। ऐसा इसलिए कि वह प्रथम उसे अधर्म मानकर छोड़ रहा है या शारीरिक निर्बलता के कारण छोड़ रहा हो। परन्तु उसका मन फिर भी उसी में है जब भी वो उसे पुनः पुनः देखता है तो उसका मन व्यथित होता है परन्तु उसे प्रेरणा की आवश्यकता है उसे आवश्यकता है "कर्म के फल से दूर रहने जैसे ज्ञान की"[1] उसे समझने एवं समझाने की आवश्यकता है कि "कोई भी कर्म ऐसा नहीं है जिसके आविष्कर्ता ब्रह्म न हों"[2] अतः उस प्राणी को जान ले कि वह उस कर्म को ब्रह्म से उत्पन्न हुआ जाने एवं संकल्प शुद्ध बनाये, तब शारीरिक बल समुदाय विशेष से भी प्राप्त किया जा सकता है। इन सब तथ्यों से पता चलता है कि योग शरीर एवं समाज के लिए ही नहीं अपितु समाज के हरेक क्षेत्र में लाभ प्रदान कराने वाला है।

<u>हानियाँ</u>

प्रथम तो योग से हानि का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता, यदि कोई हानि है तो एक अच्छे प्रशिक्षक के न होने से है। योग का प्रशिक्षक बहुमुखी प्रतिभा का धनी होना चाहिये जो सम्यक् योग की शिक्षा प्रदान कर सके। उसे योग की विभिन्न - विभिन्न श्रेणियों का ज्ञान होना चाहिये जिससे शारीरिक बल की अनावश्यक न वृद्धि हो और न ही अनावश्यक ह्रास ही उत्पन्न भी हो सके। यदि ऐसा करने में प्रशिक्षक विफल रहता है, तभी योग की हानि का भय भी रहता है। हम एक प्राणायाम की प्रक्रिया को सामने रखते हैं। ऐसा माना

---

1. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। - गीता अ० २ श्लो० ४७
2. कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्। -
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥ गी० अ० ३ श्लो० १५

गया है कि प्राणायाम की क्रिया एक ऐसी अद्भुत सर्वाधिक कठिन एवं बलशाली क्रिया है, जिससे मनुष्य के मल तो दग्ध होते हैं साथ ही साथ मनुष्य में अद्भुत तेज भी उत्पन्न होता है । परन्तु प्राणायाम से पूर्व एवं तुरन्त बाद हमें कौन सी वस्तु पदार्थों का सेवन करना चाहिये ताकि उस बढ़ते हुये तेज पर नियन्त्रण रखा जा सके । क्योंकि अग्नि के अनियन्त्रित होने से वह शरीर को भी भस्म कर देता है और यदि समाज में लगे तो वहां भी ज्वाला का रूप धारण करती हुई भस्म कर डालती है । इसलिए शुक्ल यजुर्वेद में कहा गया है कि राजा को "योग के लिए एक "योगवेत्ता को नियुक्ति करनी चाहिये ।"[1]

नोट - याद रहे कि जैसे आग को शान्त रखने एवं बुझाने के लिए जल को प्रयोग में लाया जाता है वैसे ही प्राणायाम के तुरन्त बाद आचमन करना चाहिये अर्थात् किञ्चिद् जल ग्रहण करना चाहिये, ऐसा विधान सन्ध्या में भी निर्दिष्ट है । सन्ध्यावन्दन में भी प्राणायाम की क्रिया आती है, जिसके तुरन्त बाद आचमन के लिए जल ग्रहण का निर्देश है ।

xxxxxx
xxxx
xx

---

1. योगाय युक्तारम् - शुक्ल यजुर्वेद अ० ३० मं० १४

द्वितीय अध्याय

महर्षि पतंजली का जीवन परिचय एवं कृतियां

महर्षि पतंजली का जीवन परिचय एवं कृतियां

महर्षि पतंजली जी के जीवन अति संवेदनशील एवं सन्देहास्पद बना हुआ इनके विषय में जितना भी साहित्य उपलब्ध होता है वह लगभग सबका सब अनुमान पर आधारित है परन्तु अवास्तविक है । जिनमें कुछेक सामग्री इन्हीं द्वारा रचित रचना चरक संहिता की व्याख्याकारों ने अनेक युक्तियों के द्वारा स्पष्ट करने का सुप्रयास किया है फिर भी अनिश्चतता बनी हुई है । जैसे चरक में कुछेक निम्न प्रकार की युक्तियों से स्पष्ट करने का सुप्रास किया गया है जिनमें कुछेक तथ्य महाभाष्य से भी लिये गये हैं तथा कुछेक तथ्य व्याकरणीय परम्परा के आधार पर स्वीकृत हैं जिन्हें गोर्नदीय भी कहा जा सकता है ।

सर्वप्रथम इनके जीवन पर प्रकाश डालते हुये जो कहा गया है वे इस प्रकार से हैं -

चरक एक समालोचनात्मक अध्ययन — (भारतीय दर्शन सं. रं. के एवं चरक संहिता के आधार पर)

कुछ लोग अग्निवेश एवं चरक को एक ही मानते हैं पर चरक संहिता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में "अग्निवेश कृते तन्त्रे चरक प्रति संस्कृते" इस पुष्पिका से ही स्पष्ट होता है कि यह दोनों भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं । किन्तु ये चरक कौन थे, इनका काल क्या था और ये किस प्रदेश के थे यह स्पष्ट नहीं हुआ है इन सम्बन्धों में विचार करते हुये विभिन्न पुरातत्वविदों ने अनेक मत प्रकाशित

चरक संहितायाः भूमिकायाम्

1 - द्रष्टव्य - चरक संहितायाः भूमिकायाम्

(उपस्थित) किये हैं, जिनमें निम्नलिखित पांच विशेष महत्व रखते हैं :-

1. चरक कुषाण वंशीय राजा कनिष्क के राज वैद्य थे।

2. पातंजल योग सूत्र, पाणिनीय महाभाष्यकार पतंजली एवं चरक एक ही थे।

3. भाव प्रकाश में वर्णित क्रम के अनुसार यह 'विशुद्ध' नामक एक ऋषि के पुत्र एवं भगवान अनन्त के अवतार थे।

4. इनका नाम कपिष्ठल चरक था। इनका निवास स्थान पञ्चनद (पंजाब) प्रदेश इरावती एवं चन्द्रभागा के मध्य स्थित कपिस्थल नामक ग्राम में था। यह गोत्र प्रवर्तक ऋषि थे।

5. कृष्ण यजुर्वेद के टीका (चरक शाखा) कार वैशम्पायन शिष्य चरक ही अग्निवेश तन्त्र के प्रति संस्कर्ता थे। यह सत्य नहीं है इसका आगे निर्णय किया गया है। अपितु चरक शाखा रही है, जिसमें पतंजली अवतरित हुये और उन्होंने इसी शाखा को और अधिक प्रकाशित करने के लिए अपने ग्रन्थ को इसी का नाम देकर कृतार्थ किया होगा।

1. कनिष्क का राज वैद्य होने की जो बात पुरातत्व विदों ने कही है, यह कहीं भी सही नहीं बैठती। क्योंकि कनिष्क के शिलालेखों में कहीं भी चरक (पतंजली) का नाम नहीं आया है। जबकि कनिष्क के समकालीन आर्य नागार्जुन ने अपने उपायहृदय नामक ग्रन्थ में सुश्रुत का तो उल्लेख किया है परन्तु चरक का कहीं भी नहीं किया है। किन्तु वे अपने समसामयिक, अत्यन्त प्रतिष्ठित राज वैद्य चरक को वे भूल जायं, यह अस्वाभाविक है। राजतरंगिणीकार ने

चरक संहितायाः भूमिका भाग पृ० ३६-३७

भी कनिष्क वृत्त वर्णन में अवश्य चरक का उल्लेख किया होता । जबकि सर्वसिद्ध है कि कनिष्क बौद्ध था और उसके मन्त्री भी प्रायः बौद्ध ही रहे होंगे । जबकि चरक पर कहीं भी बौद्धवाद की छाया नहीं दिखाई देती है । चरक और पतंजली एक ही थे ऐसी जनश्रुति है और पतंजली का काल ईसा पूर्व दूसरी या तीसरी शताब्दी निर्धारित है । इस प्रकार कनिष्क कालीन चरक एवं पुष्यमित्र कालीन पतंजली में कम से कम 300 वर्षों का अन्तर आता है । वस्तुतः पतंजली एवं चरक कुषाणवंशीय कनिष्क त्रिपिटिक बौद्ध ग्रन्थ चीनी अनुवाद के अनुसार भिन्न है । संभव है कि कनिष्क के किसी अन्य नाम वाले राजवैद्य को "चरक " यह उपाधि प्राप्त रही हो और चरकसंहिता का कुछ प्रतिसंस्कार भी किया हो, पर उसे संहिताकार चरक मानना भ्रामक है ।

2. कैयट, विज्ञान भिक्षु, स्वामिकुमार व गुरूशिष्य आदि की उक्तियों के आधार पर कुछ विद्वानों ने पातंजल योग सूत्र और व्याकरण महाभाष्यकार पतंजली एवं चरकसंहिताकार चरक को एक ही व्यक्ति माना है । किन्तु निम्नांकित तथ्यों का विचार करने पर कुछ अधिक अनुमानों पर आधारित जानकारी उपलब्ध होती है ।

महाभाष्य में "अरूणद्यवनः साकेतम् "[x] अरूणद्यवनो माध्यमिकाम् वाक्य आया है जो साकेत (अयोध्या) पर हुये मिलिन्द (Menander King of Bactria) के आक्रमण का द्योतक है । इससे मिलिन्द के आक्रमण के बाद ही महाभाष्य की रचना हुई प्रतीत होती है । 'पुष्यमित्रं याजयामः '[xx] इस

---

x महाभाष्य 3/2/111

xx 3/2/123

वर्तमान कालिक क्रिया रूप निर्देश से पुष्यमित्र के समय महर्षि की उपस्थिति प्रमाणित है । इस प्रकार से ईसा के पूर्व दो सौ से तीन सौ वर्ष पूर्व अर्थात् द्वितीय या तृतीय शताब्दी होना निर्विवाद है । अतः कनिष्क का राज वैद्य होने वाले तथ्य इस तथ्य से स्वतः अस्त हो जाते हैं ।

अतः महर्षि पतंजली जी का आविर्भाव ईसा से द्वितीय से लेकर तृतीय शताब्दी ही युक्ति युक्त सिद्ध होता है ।

जन्म स्थान

भारतीय विद्वानों की सबसे बड़ी महत्वपूर्ण उपलब्धि उनका विभिन्न प्रकार की कृतियों में विभिन्नता रही है और इसी विभिन्नता के कारण आज कवि कुल गुरू कालीदास जैसे महान् कवि महत्ता रखते हैं । विक्रमोर्वशीय और अभिज्ञानशाकुन्तलम् जैसे विभिन्न शैली के नाटक एक ही कवि की कृतित्व मानने के लिए चिन्ता में डालने लगते हैं। ऐसी ही महर्षि पतंजली जी की भी साहित्यक जीवन शैली रही, जिन्होंने किसी भी ग्रन्थ में न अपना एवं न ही अपने जन्म स्थान का ही कहीं उल्लेख किया है। जिसे देखकर चरक संहिता के हिन्दी व्याख्याकार ने 'विद्योतिनि' नामक टीका के उपोद्घात में अनायास ही लिख दिया कि "महाभाष्य में चरक का एवं चरकसंहिता में पतंजली का कहीं भी उल्लेख नहीं है ।"

सत्य नारायण शास्त्री इस बात से चूक गये कि भारतीय विद्वानों की यही सबसे बड़ी विशेषता रही कि इन्होंने कहीं भी अपने में अहं को नहीं उमड़ने दिया । कवि कालीदास और महर्षि पतंजली इसका एक स्फुटित उदाहरण है । इनके विषय में निर्णय करने के लिए विद्वानों ने कुछ न्याय बनाये थे उन्हीं में एक "एङः प्राचां देशे" "गोर्नदीय" न्याय से विद्वान एवं इतिहास वेत्ता अनुमान लगाने लगते हैं कि महर्षि जी का जन्म स्थान 'गोण्डा' नामक स्थान रहा होगा ।'गोर्नदीय' शब्द महाभाष्य के पर्याय के रूप में हुआ है । इतिहासवेत्ताओं का मानना है कि यही शब्द आगे चलकर अपभ्रंश होकर "गोण्डा" कहलाया होगा । जो कि उत्तरप्रदेश पूर्वोत्तर भाग का जिला है ।

कुछ लोगों का मत है कि कश्मीर के किसी राजा गोनर्द के नाम पर कश्मीर को ही गोनर्द प्रदेश मानते हैं पर राजतरंगिणी आदि ग्रन्थों में या कहीं भी कश्मीर जैसे प्रसिद्ध एवं बहुबार स्मृत स्थान का उल्लेख नहीं हुआ है।अतः इन्हें पूर्वोत्तर का (गोण्डा) का मानना ही युक्तियुक्त लगता है । महाभाष्य में पाटली पुत्र का बार-बार जो उल्लेख हुआ है । डॉ० कुंवरलाल व्यास शिष्य अनेक इतिहासज्ञों के मतों को पटल पर रखकर बताते हैं कि हार्वर्ड विश्वविद्यालय के प्रोफेसर वुड्स जिस प्रकार से महाभाष्य तथा योग सूत्रों में उल्लिखित कुछ तत्व , द्रव्य, गुण आदि की व्याख्यायें हैं वे लगभग भिन्न-भिन्न हैं । जिनके परिणाम स्वरूप दोनों के रचयिता भिन्न-भिन्न हैं । यही तो भारतीय मनीषियों की विशेषता रही कि वे कभी भी आर्थिक दृष्टि को ध्यान में रखकर नहीं पढ़े, जिसका उदाहरण चाणक्य एवं वेद पुराणों आदि शास्त्रों के प्रवर्तक इस तरह के स्पष्ट उदाहरण रहे हैं ।

चरक संहिता भूमिका भाग पृ० ३६-३७

प्रोफेसर वुड्स के कथन को ध्यान में रखते हुये आचार्य दास गुप्त लिखते हैं कि महाभाष्य एवं योगसूत्रों का तुलनात्मक अध्ययन करने पर इन दोनों के तत्व, द्रव्य एवं गुणों में अत्यधिक साम्यता है, जिसे वुड्स नहीं समझ सके। अतः महाभाष्य एवं योगसूत्र के रचयिता पतंजली ही थे।

डॉ० आज्ञाप्रसाद मिश्र ने भी इन दोनों ग्रन्थों के रचयिता महर्षि पतंजली जी को ही माना है। इन्हीं के आधार पर डॉ० कुंवरलाल व्यास शिष्य लिखते हैं कि यह पतंजली शुङ्ग काल में (150ई० पू०) हुये और इनका देश गोनर्द (कश्मीर) माना है।

जैसा कि महाभाष्य में उल्लेख मिलता है "अभिजानासि देवदत्त। कश्मीरान् गमिष्यामः तत्र सक्तून पास्यामः।[1]

कृतियां

महर्षि पतंजली की मुख्यतः तीन कृतियां आज तक सम्पूर्ण विश्व में अपना धर्मध्वज स्थापित किये हुये हैं जिन पर सम्पूर्ण विश्व चिन्तन एवं व्याख्यायें करके कुछ न कुछ भौतिकता से परे एवं शब्द ज्ञान आयुर्वेद ज्ञान तथा मन से मैल को धोने के लिए और शरीर को स्वच्छ रखने एवं आत्मा-परमात्मा के मिलन के लिए अध्ययन कर मुक्ति को प्राप्त हो रहा है। इन तीनों ग्रन्थों का नाम है चक्रपाणि दत्त ने भी इसे स्पष्ट किया है।[3]

2- व्याकरण महाभाष्य

1. भारतीय दर्शन -डॉ० कुंवर लाल, 3/2/114

3. पातंजलमहाभाष्य चरकप्रतिसंस्कृतैः
मनोवाक्काय दोषाणां हन्त्रेऽहिपतये नमः। - चक्रपाणि लघुभाष्य
डॉ० कुंवर लाल

सिद्धिवाद, गंगाधरा —

1. पातंजल योग सूत्र , 2. व्याकरण महाभाष्य 3. चरक संहिता

प्रथम दोनों ग्रन्थ इनकी अपनी कृतियां हैं जबकि चरकसंहिता

का प्रति संस्करण किया हुआ बताते हैं । परन्तु यह संहिता काल का ग्रास

बन चुकी थी जिसका पुनरोद्धार का श्रेय पतंजली जी को जाने लगा जिसके परिणाम

स्वरूप इसके रचयिता कहलाने लगे ।

सम्राट समुद्रगुप्त ने तो स्पष्ट रूप से स्वरचित्र कृष्णचरितम् काव्य

में लिखा है कि मैं मुनिपतज्जली जी को सदा नमस्कार करता हूं जिन्होंने वाणी

शोधनार्थ व्याकरणमहाभाष्य की रचना की , रोग मुक्ति के लिए चरक संहिता

तथा चित्त से दोषों को मिटाने वाले एवं महानन्द सच्चिदानन्द रूप आनन्द

देने वाले योग सूत्रों को रचकर विश्व का कल्याण किया ।[1]

इसी की प्रतिध्वनि भोज ने भी अपनी योगसूत्रवृत्ति में की है -

शब्दानुशासन के जानकर व्याकरण पर महाभाष्य लिखा ,

वैधक ग्रन्थ की रचना की एवं वाणी, चित एवं शरीर को संस्कृत करने के लिए

तीनों शास्त्र व्याकरण महाभाष्य, योग सूत्र एवं चरक संहिता लिखी । रामभद्र

दीक्षित ने पातंजल चरितम् में लिखा है कि योगदर्शन के सूत्र एवं वैधक ग्रन्था और

वार्त्तिक अर्थात् पाणिनीय व्याकरण पर महाभाष्य इस जगत् की रक्षा हेतु इन

तीनों को रचकर सम्पूर्ण जगत् में प्रचार किया था ।[2]

---

1. पतञ्जलिर्मुनिवरो नमस्यो विदुषां सदा ।कृतं येन व्याकरण महाभाष्यं
वचनशोधनम् ।। धर्मावियुक्ताश्चरेक योगारोगमुषः कृताः ।।
महानन्दमयं काव्यं योगदर्शनमद्भुतम् ।
योग व्याख्यान भूतं तद्रचितं चित्तदोषहम् ।।–सम्राट समुद्रगुप्त
विरचित कृष्णचरितम्
श्लोक –19–21

2. शब्दानुशासनं विदधता पातञ्जले कुर्वता वृत्तिं राजमृगाङ्क संज्ञकमपि
व्यातन्वता वैधके ।वाक्चेतोवपुषां मलः फणिभृतां भर्त्रेव येनोद्धृतः ।
सूत्राणि योग शास्त्रे वैधकशास्त्रे च वार्तिकानि ततः । - द्रष्टव्य - भारतीय
कृत्वा पतंजलीमुनिः प्रचारयामास जगदिदं त्रातुम् ।। द.ई.न, डॉ० कन्हैयालाल

यहां तक चरक संहिता के विषय में बात आती है कि यह इनकी स्वतन्त्र कृति है वह वास्तव में आज की चरक संहिता जिस विशालकाय स्थिति में है वह इन्हीं की देन है । चरक संहिता के रचयिता अग्निवेश माने गये हैं जिन्होंने अपने गुरू आत्रेय से इस विद्या को ग्रहण किया था । परन्तु उस विद्या को सीखने पर जो उन्होंने तन्त्र तैयार किया उसका नाम 'अग्निवेश' तन्त्र था न कि चरक संहिता । उसी तन्त्र का अध्ययन करके लगता है कि जैसे बहुत से शास्त्रों के बाद पाणिनीय शब्दानुशासनं की तरह योगानुशासनं तथा पाणिनीय व्याकरण पर महाभाष्य लिखा । उसी प्रकार से चरक संहिता की भी इन्होंने रचना की । यदि "अग्निवेश कृते तन्त्रे चरकप्रतिसंस्कृते:" जो कि प्रत्येक अध्याय की समाप्ति पर मिलता इसी को आधार मान लिया जाये और कहा जाय कि यह इनकी अपनी रचना नहीं है तो फिर महाभाष्य के विषय में भी विवाद उत्पन्न हो जायेगा यह शास्त्र भी महाभाष्य की तरह स्वतन्त्र रचना है इतना अवश्य है कि इन्होंने अग्निवेश के तन्त्र का अध्ययन करके एक अद्भुत विस्तृत व्याख्या वाले ग्रन्थ को रूप देकर इसे चरक का नाम दिया । इस शास्त्र में शारीरिक एवं मानसिक रोगों के नाशार्थ में आयुर्वेद की प्रत्येक पद्धति का समावेश किया गया है जिसमें पूजा-पाठ , मन्त्र, जाप, हवन, मार्जन अभिचार कर्म, तथा व्यायामों के साथ ही साथ रसायन एवं औषधि प्रक्रिया का भी उल्लेख मिलता है । जबकि मोक्ष के क्षेत्र में भी इसका यदि अध्ययन कर लाभ, मोक्ष पाने का प्रयास किया जाये तो मुक्ति भी देता है । अत: ऐसा अद्भुत दर्शन , बेजोड़ मिलाप अन्य किसी दर्शन में नहीं मिलता है । यह अवश्य ही गुणान्वित है ।

परन्तु आज भी बहुत से आलोचकों का मानना है कि तीनों के रचयिता पतंजली नहीं थे। बल्कि तीन व्यक्ति अलग-अलग थे। उनका तात्पर्य है कि पाणिनीय अष्टाध्यायी में भी चरक का उल्लेख हुआ है "कठचरकाल्लुक"* तथा "माणवचरकाभ्याम् खञ्*" जैसे सूत्रों में चरक शब्द आया है अतः चरक और पतंजली भिन्न - भिन्न है। क्योंकि महाभाष्य पाणिनीय अष्टाध्यायी पर किया गया पतंजली जी का भाष्य है। इसी तथ्य पर प्रकाश डालते हुये बहुत से वेदवेत्ता कहते हैं कि यहां पर चरक का उल्लेख कृष्ण यजुर्वेद की शाखा का निर्देशक है। यही वास्तविकता है, क्योंकि इसके पीछे वाले सूत्रों में तैत्तिरीयाः* काश्यप-कौशिक* आया है ये सब ऋषि हुये। तथा वाजसनेयी एवं शौनकिनः* कलापि वैशम्पायनादि* का उल्लेख हुआ सब रूप सिद्धियें शाखा वाचक ही हैं। तदनन्तर कठ चरक का उल्लेख कठ शाखा एवं चरक शाखा की भी सम्मति बैठती है। इसी शाखा में अवतरित हुये महर्षि पतंजली जिन्होनें शास्त्र साधना एवं योग साधना में जीवन समर्पित किया। इसी प्रकार के जीवन में रहते हुये अतिक्लिष्ट महाभाष्य एवं चरक संहिता जैसे ग्रन्थों का लेखन किया तथा दार्शनिक जगत् के लिए मुक्तिहेतु योगसूत्रों का ग्रन्थन कर एक अद्भुत पाणिनीय की तरह ही शैली प्रदान की। जिसके महत्व से आज सारा विश्व शारीरिक एवं मानसिकता के साथ-साथ परमानन्द प्राप्ति रूपी लाभ कमा रहा है।

---

* कठ चरकाल्लुक ।। - पं०अ०अ० 4पा० 3 सू० 107
* माणवचरकाभ्याम् खञ् ।। भाषाकृतौ पा०अष्टा० अ05पा० ।सू० ।।
* तित्तिरिवरतन्तु खण्डकोखाज्छण् ।। - 4/3/102
* काश्यपकौशिकाभ्यामृषिभ्याम् णिनिः ।। 4/3/103
* शौनकादिभ्यश्छन्दसि ।। शौनकिनः । वाजसनेयिनः ।। -4/3/106
* कलापिवैशम्पायनान्तेवासिभ्यश्च ।। 4/3/104

इसी प्रकार चरकी शब्द[1] वैष्णव पंचाग में भी मिलता इसके लिए मन्त्र समर्पित है जो कि वास्तु पूजा विधान में आया है । इसी से पता चलता है कि चरकी एक नागिन का नाम था जो नाग वंश की पत्नी को स्पष्ट करती है तथा चरक नामक नाग वंश से पहचान करवाती है । जिसके आधार पर यह कहना गलत नहीं होगा की महर्षि पतंजली इसी चरक नामक नाग वंश में हुये और इनके व्यक्तित्व के कारण विद्वानों ने इन्हें अहिपति कहा हो । जिसका अनुमोदन भाव प्रकाशकार ने भी किया है ।

दूसरा कारण लोक प्रसिद्ध है कि कुछ विद्वान ऐसे भी होते हैं जो अपने कुल गोत्र से जुड़े हुये होते हैं जैसे भारत के प्रधानमन्त्री लाल बहादुर शास्त्री हुये, उन्होने तो शास्त्री कक्षा उत्तीर्ण की थी, जिससे वे विभूषित थे, परन्तु आगे उनके आत्मजो ने इसे अपने साथ जोड़ लिया । परन्तु पतंजली इससे भिन्न थे उन्होने अपने वंश की विद्वत्ता एवं महत्ता को भांप कर ही आयुर्वेद शास्त्र का नाम अपने कुल गोत्र एवं शाखा पर रखकर अपनी शाखा के लिए समर्पित किया होगा, ऐसा भी सम्मत लगता है ।

वस्तुतः देखा जाये तो योग सूत्र एवं आयुर्वेद चरक संहिता का मोक्ष प्रकरण बहुत अधिक मिलते जुलते हैं । जो बातें चरक संहिता में विस्तृत रूप से कहीं गई उन्हीं को सूक्ष्म रूप से उन्होने योग सूत्रों में कहा । जैसे वे योगसूत्र में ईश्वर प्रणिधान कहकर ईश्वर से परिचित कराते हैं वैसे ही चरक में भी

---

1. ज्योतिषाचार्य बिहारी लाल शर्मा वशिष्ठ कृत वैष्णवपञ्चाङ्ग, पृ0-39

रोग शान्त न होने की स्थिति में प्रभु भक्ति करने को कहते हैं कि 'अनन्त मस्तक वाले, चराचर जगत् के स्वामी, व्यापक भगवान विष्णु का सहस्रनाम से अर्थात् विष्णु सहस्रनाम का पाठ करने से सब प्रकार के ज्वर शान्त हो जाते हैं।'

इसके अतिरिक्त विष्णु रूप में न कर सको तो "भगवान महेश्वर की ब्राह्मी आदि अष्टमातृका, पार्वती, नन्दी आदि अनुचरों सहित सावधानी पूर्वक पूजा करने से ज्वर शान्त हो जाते हैं।"

इनके अतिरिक्त महर्षि जी ने अपनी चरक नामक कृति में कुछेक प्रातः मार्जनार्थ कृष्ण यजुर्वेद के मन्त्रों का भी उल्लेख किया है।

जिस प्रकार समाधि सुख एवं अन्तर्द्वन्द्व रूपी रोगों से छूटन के लिए योगसूत्र में कहा गया है कि मणिमन्त्र औषधी जपः से भी समाधि लाभ हो सकता है उसी प्रकार से चरक में भी मिलता है। जैसे - उत्तम-उत्तम मणि या औषधियां एवं मांगलिक द्रव्य भी रोगनाश में सहायता देते हैं। उन्हें धारण करना चाहिये।

विष्णु सहस्रमूर्धानं चराचरपतिं विभुम् ।।-311।। उत्तरार्ध च०चि० चि०३०
स्तुवन्नाम सहस्रेण ज्वरान् सर्वानपोहति ।। - पूर्वार्ध

सोमं चानुचरं देवं समातृगणमीश्वरम् ।। - 310 उत्तरार्ध
पूजयन् प्रयतः शीघ्रं मुच्यते विषमज्वरात् ।। - 311 पूर्वार्ध

मणीनामोषधीनां च मङ्गल्यानां विषस्य च यत् । -309 उत्तरार्ध
धारणादगदानां च सेवनान्न भवेज्ज्वरः ।। - 310 पूर्वार्ध

तपस्या के लिए भी कहा गया है जिससे सब रोगों की जड़ अहंकार का नाश हो सके इसके लिए सेवा करनी चाहिये जैसे योग सूत्रों में "तपः" का विधान है उसी प्रकार कहा है कि माता-पिता और गुरूजनों की भक्तिपूर्वक पूजा करने से, ब्रह्मचर्य का पालन करते हुये रहने से, तपस्या करने से, सत्य बोलने से नियमपूर्वक रहने से जप करने एवं होम करने से, दान करने से, वेदों को सुनने से और साधु पुरूषों को देखने से मनुष्य ज्वर से शीघ्र ही मुक्त हो जाता है। गंगा स्नान एवं मरूद्गणादि देवताओं की पूजा भी करनी चाहिये इस प्रकार से देखा जाये तो जिस प्रकार कठचरकाल्लुक एवं माण्वचरकाभ्याम् जैसे सूत्रों का अनर्थकारी विधान किया गया है वह इन्हीं उदाहरणों से असत्य सिद्ध हो जाता है कि चरक व्यक्तिवाची न होकर शाखा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

- ब्रह्माणमश्विनाविन्द्रं हुतभक्षं हिमाचलम्। - 312 उत्तरार्ध

गंगां मरूद्गणां श्चेष्टया पूजयज्जयति ज्वराम्।

भक्त्या मातृपितृश्चैव गुरूणां पूजनेन च।। - 313

ब्रह्मचर्येन तपसा सत्येन नियमेन च।

जप होम प्रदानेन वेदानां श्रवणेन च।। - 314

ज्वरादिमुच्यते शीघ्रं साधूनां दर्शनेन च।। - 315 पूर्वार्ध

इस समन्वित रूप से अध्ययन करने पर पता चलता है कि महर्षि पतंजली ई0 से दो सौ से तीन सौ वर्ष पूर्व हुये । तथा पाणिनि ऋषि जी से बाद में हुये ।

"एङ: प्राचां देशे" से गोनर्दीय न्याय से इन्हें गोण्डा का माना जाना या गोनर्द नामक कश्मीर का कहना आज भी सन्देह के घेरे में है ।

कृतियों के विषय में यह निर्विवाद है कि ये तीनों रूपक पातंजल योग सूत्र, व्याकरण महाभाष्य एवं चरकसंहिता तीनों ग्रन्थ इन्हीं द्वारा विरचित हैं ।

तभी तो विद्वान ने इनकी प्रशंसा में एक श्लोक गाया था जो इस प्रकार है -

योग से चित्त को पदों को शुद्ध वाणी से तथा शरीर को चरक संहिता में दिखलाये गये सिद्धान्तों को स्वास्थ्यता प्रदान करने वाले महान् उपकारी मुनियों में श्रेष्ठ महर्षि पतंजलि जी को नमस्कार करता हूं जो कि माता की अंजली में अवतरित हुये थे ।[†]

---

† योगेन चित्तस्य पदेनवाचां मलं शरीरस्यतु वैद्यकेन ।
योग्यारोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलीं प्रांजलिरातनोऽस्मि ।। भोजवृत्ति पा०४ श्लो०१
डॉ0 कुवर लाल कृत तथा भारतीय दर्शन , पृ0 - 58 ।

अतः इस प्रकार विवेचनात्मक अध्ययन से पता चलता है कि महर्षि जी ने पहले पहल पाणिनीय व्याकरण पढ़ा होगा तथा कृष्ण यजुर्वेद का भी पूर्ण अध्ययन किया होगा जिस शाखा से वे जुड़े हुये थे। पाणिनीय व्याकरण पर आगे चलकर जो काम महर्षि पाणिनी जी के बाद रूक गया था या समझना क्लिष्ट था उसे महर्षि पतंजली ने खोलकर प्रकाशित किया तथा इसी व्याकारण शास्त्र ने ही प्रेरित किया होगा कि वे भी एक इसी सूत्र बद्ध शैली में महर्षि पाणिनि की तरह सममान ग्रन्थ की रचना करे इसी विवशता एवं अन्तःस्फोट ने महर्षि से महाभाष्य के बाद पातंजल योग सूत्र नामक ग्रन्थ का निर्माण कराया जिसके रहस्यों को चरकसंहिता में खोलकर समझने का प्रयास किया अतः प्रथम रचना महाभाष्य द्वितीय पातंजलयोगसूत्र एवं तृतीय रचना चरक संहिता के रूप में की हुई लगती है। इसके लिए अनुमान सिद्ध है कि जैसे पाणिनीय व्याकरण के विषय कठिन होने के कारण महाभाष्य लिखा वैसे ही योग सूत्रों के क्लिष्ट सूत्रों को देखकर यत्र तत्र सर्वत्र चरकसंहिता में इन्हें खोलकर समझाने का काम हुआ है। जैसे स्वस्थ प्रकरण में मोक्ष प्रकरण तथा मात्रशीति अध्याय ति स्रोणीयाध्याय में धारणीय वेग वर्णन तथा सदवृत्त वर्णन में से पाठ पढ़ने को मिलता है। ये पाठ सभी यौगिक महत्व को दर्शाते हैं। जो आज के भौतिकता भरे जीवन को समझाने के लिए अति उपयुक्त एवं सरल भी है। इनसे मानव समाज हर प्रकार से लाभान्वित हो सकता है इनमें नैतिकता पर अधिक बल दिया गया है। जिसकी समाज को आज अत्यधिक आवश्यकता अनुभव हो रही है।

भाष्य

महर्षि पतंजलि विरचित तीनों ही कृतियों पर कभी न समाप्त होने वाला अध्ययन, चिन्तन एवं शोध सतत अनवरत रूप से देश एवं विदेशों में हजारों वर्ष पूर्व से चला आ रहा है एवं चलता ही रहेगा फिर भी यह वैसे के वैसे परिपूर्ण सबको अपनी ओर आकृष्ट करते रहेंगे। इन्हीं में योगसूत्र पर आज तक मुख्यत: प्रामाणिक रूप से चार भाष्य हुये हैं जो क्लिष्ट एवं अक्लिष्ट रूप से पढ़ने को मिलते हैं। ये मुख्यत: व्यासभाष्य, तत्ववैशारदी राजमार्तण्ड (भोजवृत्ति) एवं योगवार्तिक के नाम से जाने जाते हैं। जबकि हिन्दी एवं बंगला में भी बहुत काम हो चुका है।

जहाँ तक अनुसन्धान का विषय है बहुत से अनुसन्धित्सुओं ने इस पर एम०फिल० एवं पी०एच०डी० की उपाधि हेतु कार्य किये हैं।

व्यास भाष्य

पातंजलयोगसूत्रों पर सबसे प्राचीन भाष्य यदि कोई मिलता है तो वह व्यास भाष्य ही मिलता है। इस भाष्यकर्त्ता को अनुमानत: ही नहीं अपितु तथ्यात्मक रूप व्याकरण महाभाष्य का ज्ञान था जिसे पढ़ने के बाद उनके मन में आया होगा कि यदि पाणिनीय अष्टाध्यायी पर पतंजली महाभाष्य लिख सकते हैं तो स्वयं भी ऐसा ही अद्भुत शैली से किसी प्रकार से पातंजलयोग सूत्रों पर इसी शैली में भाष्य लिखने का प्रयास करना चाहिये। जिसे वस्तुत: भाष्यकार ने लिखकर व्यास भाष्य का नाम दिया। इसकी भाषा क्लिष्ट है और सामान्य विद्वद् मण्डली द्वारा समझने में भी कठिन है, परन्तु विद्वता

के क्षेत्र में कोई कमी नहीं है अपितु स्तम्भ है । अनेक उदाहरणों से सुसज्जित अलंकृत है । इस भाष्य के लेखक के जीवन समय एवं अन्य विषयों में महर्षि पतंजली जी की तरह आज भी संशय बना हुआ है । कुछ विद्वान इस भाष्यकार को पाराशर्य व्यास मानते हैं परन्तु साथ ही कुछ विद्वानों का मानना है कि यह व्यास उपाधि से विभूषित हो इसलिए इसका नाम व्यास भाष्य रहा होगा । परन्तु साथ ही शब्दार्थ को जानने वालों का मानना है कि व्यास का अर्थ विस्तृत होता है । इन योग सूत्रों पर विस्तृत बहुमूल्य व्याख्या होने के कारण हो सकता है कि इसको व्यास भाष्य का नाम दे दिया हो । परन्तु मेरे अनुमान से इनकी विद्वद शैली को देखने पर पता चलता है कि यह एक उच्च कोटि के विद्वान रहे होंगे जिन्होंने अनेक ग्रन्थों पर काम किया होगा या अनेकों की रचना की होगी जिससे इन्हें व्यास उपाधि प्राप्त हो चुकी होगी क्योंकि हमारे समाज के अन्दर जिस क्षेत्र से जो जुड़ जाता है और पारगंतता (दक्षता) प्राप्त करता है उसे उस क्षेत्र के प्रथम ज्ञाता के अनुसन्धित्सु के नाम से अलंकृत किया जाता है यह परम्परा आज भी है । ये सब अनुमानतः है क्योंकि भाष्यकार ने कहीं भी अपने जीवन एवं समय के विषय में कुछ भी नहीं बताया है । जबकि जन्म, समय बौद्ध धर्म की स्थापना के बाद का माना गया है । व्याख्याकारों एवं व्यास भाष्य पर काम करने वालों ने मत प्रस्तुत करते हुये कहा है कि इस भाष्य के अन्तर्गत बौद्ध विचारधारा की झलक अधिकाधिक मिलती है जिससे यह पता चलता है कि यह बौद्ध विचारधारा एवं समाज तथा उनके शास्त्रों के ज्ञाता रहे होंगे । कुछ भी कहा जाये इसके कर्त्ता के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है ।

तत्ववैशारदी

जैसा कि व्यास भाष्य के विषय में कहा गया है कि जितना कठिन सूत्रों को समझना था उतना ही व्यासभाष्य को जानना कठिन है । ऐसा इसलिए की यह एक पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या केवल वैयाकरणीयों की बुद्धि तक ही सीमित रही है । इसी भाष्य पर आगे चलकर श्री वाचस्पति मिश्र ने एक टीका लिखी जो कि विस्तृत तो है परन्तु साथ ही सरल भी है । इसमें अनेक पुराणों के श्लोकों को लिपिबद्ध कर उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं । जिनकी भाषा अक्लिष्ट एवं सर्वसाधारण विद्वान की पहुंच तक जानी जा सकती है । इन्होने जहां एक ओर व्यास भाष्य की कड़ियों को उद्घाटित किया वहीं उसमें अपनाये गये बौद्धमत के अनेक मतों को भी खण्डित किया है । इस विषय में एक उदाहरण है कि व्यास भाष्य जिस रज और तम के सर्वथा नाश होने पर सत्व की ही एक मात्र स्थिरता बताते हुये कहते हैं कि इस प्रकार के चित्त की दशा ज्ञान प्रसाद कहलाती है वहीं वाचस्पति मिश्र हृदय को छू लेने वाले शब्दों के माध्यम से कहते हैं कि जब सत्व गुण में रजोगुण का लेशमात्र भी अवशिष्ट नहीं रहता अर्थात् अभ्यास एवं वैराग्य की निर्मल धाराओं से रज और तम का आत्यन्तिक विनाश हो जाता है और केवल मात्र सत्व गुण ही अवशिष्ट रहता है इसी चित्त दशा का नाम ज्ञान प्रसाद है इसी प्रकार एक अन्य सूत्र की व्याख्या करते हुये लिखते हैं कि केवल "स्वरूप का साक्षात्कार कराने वाली प्रज्ञा आभोग है " इसे केवल वितर्क के अर्थ आभोग से नहीं जाना जा सकता ।

पात०योग सूत्र पा० 1, सू० 19

स्वरूपसाक्षात्कारवती प्रज्ञा आभोगः ।। - 1/17

आगे चलकर द्वितीयपाद के नौवे सूत्र जिसकी व्याख्या को व्यास भाष्य ने त्याग दिया उसी पर प्रकाश डालते हुये लिखते हैं कि यह स्वाभाविक है न कि आगन्तुक ।×

इस प्रकार शब्दों को तोड़ कर जिस साधारण शब्दों को चुनकर वैशारदी की माला पिरोई है वह सत्य ही साधारण से विद्वान के लिए भी उपयोगी है । इस तरह के अनेक सूत्र द्रष्टव्य हैं ।

इनके जन्म समय का ज्ञान कराते हुये विद्वान लिखते हैं कि यह दार्शनिक जगत् के महान स्तम्भ रहे इन्होने द्वादश दर्शन पर काम किया था जिससे इन्हें द्वादश दर्शन केसरी कहा जाने लगा । आज भी दार्शनिक जगत् इन्हें इसी उपाधि से नमन करता है । इनके जन्म के समय का ज्ञान हमें नहीं है ।

राजमार्त्तण्ड योग (भोजवृत्ति)

भारत के प्रसिद्ध धारा नगरी के अन्तर्गत परमार वंशीय महाराज भोज विद्या अनुरागी थे केवल वह ही ऐसे नहीं थे अपितु उनकी नगरी का ब्राह्मण से लेकर शूद्र वर्ग तक सभी शिक्षित थे और सबके सब लगभग व्याकरण का ज्ञान रखने वाले विद्वान माने जाते थे जिनके लिए एक उक्ति प्रसिद्ध है कि एक बार राजा ने किसी लकड़ियों का भार उठाये व्यक्ति से पूछा भारं बाधति भृत्यः तो भृत्य ने कहा भारं न अपितु भारेन बाध्यते भृत्यम् । इस तरह से पता चलता है कि तत्काल समाज विद्वान था और सबको लगभग अक्षर ज्ञान था यह एक

× स्वरसवाही = स्वरसेन वासनारूपेण वहनशीलः नपुनरागन्तुकः ।। 2/9

संस्कृत भाषा के प्रचार प्रसार तक अपितु राजकार्य में भी इसके प्रयोग को लाया जाने वाला स्वर्णिम युग था ।

इन्हीं महाराज भोज ने तीन ग्रन्थों की रचना की ये थे - सरस्वती कण्ठाभरण § व्याकरण § राजमृगाङ्क वैद्यक ग्रन्थ एवं राजमार्त्तण्ड वृत्ति योग सूत्रों पर लिखी गयी वृत्ति ।

राजा मार्त्तण्ड को ही भोज वृत्ति भी कहते हैं यह वृत्ति सुगम सरल एवं व्याकरण शास्त्र की मान मर्यादाओं को समुचित ध्यान में रखकर लिखी गयी वृत्ति है तथा प्रत्येक वृत्ति के अन्तिम पाद में संक्षेप से सम्पूर्ण पाद को किस कार्य के लिए प्रयोग में लाया गया है वर्णन प्रस्तुत कर समझाया गया है । यह वृत्ति भी व्यास भाष्य जैसी तो नहीं है अपितु बोध करवाने में उससे कहीं अधिक सरल एवं सुबोध देने वाली है ।

इस वृत्ति की विशेषता यह रही कि शेष व्यास भाष्य पर लिखी गयी जब यह एक स्वतन्त्र वृत्ति रही जिसका अनुमोदन प्रसिद्ध इतिहासज्ञ डा० दास गुप्त ने भी कहा है ।[1] योग के क्षेत्र में भोज देव प्रयाप्त माने जाते थे जैसे कि योग चिन्तामणि में लिखा है जो व्यास एवं वाचस्पति ने पातंजल योग सूत्रों पर भाष्य लिखे उनका निर्णय करने भोजदेव भी प्रामाणिक है । इनका समय 1075 से 1110 तक रहा । यह व्यास वाचस्पति भोजदेवैः पातंजलीय निरर्णीय तत्वम् ।

---

1. ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलासफी, भाग - 1, पृ० - 212
Dr. Dass Gupta

योगवार्त्तिक

योगवार्त्तिक के रचयिता प्रसिद्ध दार्शनिक 'विज्ञान भिक्षु' माने जाते हैं इन्हीं ने व्यास भाष्य पर यह टीका लिखी थी। जैसे वाचस्पति ने व्यास भाष्य को खोलने का प्रयास किया वैसे ही और भी अधिक सरलता लाने के प्रयास में विज्ञान भिक्षु ने भी तत्पर होकर संकल्प चित्त से योगवार्त्तिक लिखी जो कि एक प्रामाणिक वृत्ति मानी जाती है। विज्ञान भिक्षु का 'योग वार्त्तिक भाष्य के विवेचन में ही कृतकार्य नहीं है, अपितु तत्ववैशारदी के व्याख्यानों की भी समुचित आलोचना करता है।

विज्ञान भिक्षु जी के विषय में माना जाता है कि यह योग एवं सांख्य के सिद्धान्तों के मार्मिक (हृदयावर्जक) व्याख्याता रहे हैं। भिक्षु जी ने 'योग सार संग्रह' नामक योग सूत्रों के व्यास भाष्य पर ही एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना की जिसमें योग के सिद्धान्तों का सारांश उपस्थित है। इनका समय इतिहासज्ञों के अनुसार 16वीं शताब्दी माना गया है।

इन सबके अतिरिक्त कुछ और भी वृत्तियों के विषय में पता चलता है जैसे कि भावगणेश जी वृत्ति रामानन्द जी की मणिप्रभा। इनके अतिरिक्त अनन्त पण्डित की 'योग चन्द्रिका' सदा शिवेन्द्र सरस्वती का 'योग सुधाकर, नागोजि भट्ट द्वारा छाया वृत्ति जिसमें 'लघवी' एवं 'बृहती' वृत्तियां लोकप्रिय हैं।

मणि प्रभा एवं योग सुधाकर योगनिष्ठ पुरूषों द्वारा लिखी गयी हैं जिनमें उन विद्वानों के अपने अनुभवों का भी समुचित प्रतिपादन है जिससे योगसूत्रों के अर्थों को जानने में सरलता आ जाती है अर्थात् सूत्र के अर्थ समझने में अत्यन्त उपादेय है । इस शती (20वीं) के प्रसिद्ध विद्वान् सांख्ययोगचार्य श्री हरिहरानन्द आरण्य ने भाष्य पर 'भास्वती' नामक टीका लिखी है । इस प्रकार पातंजल दर्शन पर इतना ही साहित्य उपलब्ध एवं प्रसिद्ध है ।

xxxxx

xxx

x

तृतीय अध्याय

पातंजलयोग के प्रमुख प्रतिपाद्य विषय



पातंजलयोग के प्रमुख प्रतिपाद्य विषय

योग एवं समाधि

जैसा कि सुस्पष्ट किया जा चुका है कि योग शब्द अनेकार्थिक है। जैसे यः + अगः = योगः पर्वत इत्यादि इत्यादि = परन्तु योग दर्शन में योग शब्द का अध्यात्मपरक परिप्रेक्ष्य में लाया गया है। सुस्पष्ट अर्थ प्राप्त होता है जिसे समाधि अर्थ में जैसे - युज् धातो घञ् प्रत्यय आत्मनेपद में इस धातु से योग शब्द की उत्पत्ति (निष्पत्ति) सकल सिद्धि होती है। समाधि का अर्थ है - सकल विक्षेपों को हटाकर चित्त का एकाग्र होने को समाधि कहते हैं।

जिस अवस्था में ध्याता, ध्यान एवं ध्येय तीनों एक हो जाते हैं। और योगी मानो अपने आकार से शून्य हो जाता है और ध्येय वस्तु का आकार ग्रहण कर लेता है वही वास्तविक समाधि होती है।

इस प्रकार की समाधि एक ऐसी समाधि है, जिसे योगी प्राप्त करने के लक्ष्य से योग साधना करते हैं। इसे प्राप्त करने के बाद जीवात्मा परमात्मा में परिणित हो जाता है और योगी सर्वज्ञ की संज्ञा को प्राप्त होता है। तब ऐसी अवस्था में उसे जो धर्म, बुद्धि के परिणित होने वाले धर्म योगी अपने मानता था, तब ऐसे धर्म समाप्त हो हो जाते हैं और योगी हंस जैसा बन जाता है अर्थात् "मैं वह हूं और वो मैं हूं" की सत्ता को प्राप्त होता है।

1. सम्यगाधीयते एकाग्रीक्रियते विक्षेपान् परिहृता मनोयत्र सः समाधिः। - वाचस्पति।

उसे न तो संसार के दुःख ही उद्वेलित कर पाते है और न हीं सुख ही उसे प्राप्त होते हैं वह दोनों के मध्य में निवास करता है और दोनों को समान ही मानता है । दोनों के उद्‌गम होने का स्थान एक ही मानता है अर्थ कर्म ही मानने लगता है । जैसे कि गीता में भी मिलता है कि -

"श्री भगवान बोले - " हे पृथापुत्र अर्जुन । जब वाणी में भी घुसी हुई सभी कामनाओं को पुरूष भलिभांति त्याग देता है और आत्मा द्वारा आत्मा में संतुष्ट होता है, उस समय वह स्थित प्रज्ञ कहलाता है ।"[1] उसी को आत्माराम भी कहते हैं तथा यही अचल समाधि का अर्थ भी है । इसी समाधि को महर्षि पतंजली जी ने दो भागों में विभाजित किया है। जैसे "योग चित्त के वृत्तियों के निरोध को कहते हैं"[2] । इसे सम्प्रज्ञात योग कहते हैं । एवं उन शेष वृत्तियों के निरोध होने पर जब "अशेष वृत्तियों का भी निरोध हो जाता है,"[3] तब उस को असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं । अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधि में विवेकजन्य पुरूष अन्यता ख्याति रहती है अर्थात् ध्याता और ध्येय के बीच थोड़ी सी दूरी रहती है । केवल मात्र ध्याता को ध्येय का ज्ञान सा होता है प्राप्ति नहीं होती है । तभी इसे सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं ।

1. श्री भगवानुवाच -
प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थित प्रज्ञस्तदोच्यते ।। गीता - 2/55
2. योगश्चित्तवृत्ति निरोधः ।। - पातंजलयोगदर्शनम् - 1/2
3 - तस्यापिनिरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः ।। वही 1/51

असम्प्रज्ञात् समाधि विशेष,- योगी विशेष की इस अवस्था का नाम या ज्ञान है जिसमें ध्याता ध्येय एवं ध्यान एकाकार हो जाते हैं । गीता की तरह "आत्मा में आत्मा की संतुष्टि का नाम है अर्थात् योगी आत्मारमित हो जाता है । सम्प्रज्ञात् में जबकि वृत्तियों का सूक्ष्मतर संस्कार ज्ञान रहता है जबकि असम्प्रज्ञात् में वृत्तियों का अशेष संस्कार ज्ञान् किञ्चित् मात्र भी नहीं रहता है और योगी को परम दुर्लभ अभेदात्मक आत्म ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है ।[1]

सम्प्रज्ञात समाधि

सम्प्रज्ञात समाधि का अर्थ है सम् उपसर्गपूर्वक ज्ञान होना है अर्थात् सम्यक् रूपेण पूर्ण ज्ञान न होना है ।

योग के दो भेद बताये गये हैं एक सम्प्रज्ञात् द्वितीय असम्प्रज्ञात् । इन दोनों भेदों का रहस्य जानने के लिए कुछेक लौकिक उदाहरण बहुत ही सुन्दर एवं आकर्षक लगते हैं। जैसे ज्योति का उदाहरण । जिसमें घी और बाती (रूई) काम करते हैं और आहिस्ता- आहिस्ता रूई के साथ घी जलने लगता है, उन दोनों के संयोग से अग्नि अपना काम करती हुई प्रज्जवलित रहती है, परन्तु कुछ कालानन्तर जब घी अर्थात् रूई में भी व्याप्त घी की सत्ता समाप्त हो जाती है, तब वह रूई में लगी हुई आग शनैः शनैः बुझ जाती है और शान्त हो जाती है । ऐसे ही योग प्रक्रिया में भी होता है। चित्त वृत्ति की भी ऐसी ही स्थिति होती है । चित्त में स्थूल से लेकर सूक्ष्मतर पर्यन्त अनेक वृत्तियों का

---

1. तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः ।। - पातंजलयोगदर्शनम् - 1/51

सद्भाव बना रहता है । जब चित्त किसी एक वस्तु के ध्यान में लगाया जाता
है,तब शेष वृत्तियां क्षीण होकर उसी एक वृत्ति को ध्यान में प्रबल तथा दृढ़
बनाती हैं । तथा ऐसी स्थिति में वही एक वृत्ति मुख्य रहती है और ध्यान
के प्रकर्ष से "प्रज्ञा "कहलाती है । जिसे पतंजलि जी ने भी कहा है कि "ऐसी
ही अवस्था में जो प्रज्ञा उत्पन्न होती है उसे ऋतम्बरा कहते हैं"[1]। समाधि
वास्तव में दो वस्तुओं के घर्षण के समान है । जैसे आग दो अरणियों के मन्थन
का परिणाम है । जब आग अपने स्थूल आकार को ग्रहण करती है तब वह बड़े - बड़े
जंगलों को नष्ट करके रख देती है,ऐसे ही जब ध्यान में वृत्ति प्रबल होती हुई
प्रज्ञा का रूप धारण कर लेती है,तब उस अवस्था में शेष वृत्तियों का भी आग
से भस्म हुये जंगलों के समान वृत्तियों का नाश कर देती है और शेष रहता है
उनका परिणाम भस्म, अर्थात् वृत्तियों के संस्कार को भी नाश करती हुई
शान्त होती है । परन्तु जैसे इन्धन के जल जाने या ज्योति से घी जल जाने
के बाद भी रूई जलती है स्वयं प्रद्योतित रहती है परन्तु अन्ततोगत्वा अपने ही
आप उपशान्त हो जाती है ।

जिस समय चित्त अन्य वृत्तियों के उपक्षीण होने पर एकाग्र चित्त होकर
एकाग्र भूमि में एक वस्तु के (एक तत्व के) ध्यान में लगा रहता है, तब उसे
उस समय सम्प्रज्ञात (सम् + प्रज्ञा + त) समाधि प्राप्त होती हैं । इसी का
फल प्रज्ञा का उदय माना गया है । यही प्रज्ञा जब सद्भूत अर्थ को प्रद्योतित करती
है अर्थात् वास्तविक सत्य को प्रद्योतित(प्रकाशित)करती है एवं आत्मदर्शन तथा समस्त
क्लेशों का नाश भी करती है तथा अविद्यादि पाचों कर्म बन्धनों को शिथिल (ढीला)
करती हुई निरोधाभिमुख आसन करती है । उसे सम्प्रज्ञात ही कहते हैं[2]।

---

1. ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ।। पा०यो०सू० 1/48
2. यस्त्वेकाग्रे चेतसि समुद्भूतमर्थं प्रद्योतयति, क्षिणोति च क्लेशान्, कर्मबन्धनानि श्लथयति, निरोधाभिमुखं करोति स सम्प्रज्ञात योग इत्याख्यायते ।

प्रज्ञा जबकि स्वयं एक वृत्ति है और केवल क्लेशों का नाश एवं अविद्यादि संस्कारों को ढीला करती है, सम्पूर्णतया नाश कर पाने में असमर्थ है, जिसके कारण इसे सम्प्रज्ञात की संज्ञा दी गयी है। जब प्रज्ञा का भी निरोध हो जाता है और शेष संस्कार भी दग्ध हो जाते हैं तब उसे निरूद्ध योग अर्थात् असम्प्रज्ञात् योग कहते हैं। यही पूर्णयोग की सिद्धि है । इसीलिए योग के प्रथम तीनों सूत्रों में दो समाधियों का ज्ञान स्वयं ही अर्थ से हो जाता है जिसमें "योग चित्त वृत्तियों के निरोध को कहते हैं "[1] और निरोध होने का फल है " द्रष्टा का दृश्य में अवकाश "[2] जिन्हें अवकाश नहीं मिलता उसका कारण है "वृत्तियों के संस्कारों का बने रहना "[3] दूसरों की है । अर्थात् यहां द्रष्टा दर्शन एवं दृश्य तीनों कोटियां एकाकार हो जाती हैं और यहां स्वरूप शून्य हो जाता है । उसे असम्प्रज्ञात योग कहते हैं। जिसमें वृत्तियों के संस्कार मात्र शेष रह जाते हैं उसे सम्प्रज्ञात् कहते हैं ।

सम्प्रज्ञात् योग

इन दोनों में विशेष सम्प्रज्ञात् योग चार प्रकार है -

1. वितर्कानुगत , विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत ।[4]

इसे सापेक्ष भी कहा जा सकता है, यह स्थूल से सूक्ष्म की ओर चलती है । परन्तु मुख्यतया यह स्थूल विषयों पर से ही होकर आगे सूक्ष्म की ओर प्रस्थान करता हुआ सम्प्रज्ञान करवाता है। जिसके कारण इसे सापेक्ष माना गया है ।

---

1. योगश्चित्त वृत्ति निरोधः - पातंजलयोगदर्शनम् - 1/1
2. तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् - वही - 1/2
3. वृत्तिसारूप्यमितरत्र - वही - 1/3
4. वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात् सम्प्रज्ञातः ।। - वही - 1/17

वितर्क चित्त की उस दशा का नाम है, जिसमें योगी को वस्तु का शब्दार्थ और ज्ञान होता है। जहाँ ये तीनों प्राप्त होते हैं, उसे ही वितर्क कहते हैं। इसमें गौ नाम शब्द इसका अर्थ एवं वस्तु विशेष समक्ष रहते हैं अर्थात् गौ का आकार भी रहता है। जिससे पता चलता है कि अमुक विशेष को गौ कहते हैं और गौ का अर्थ अमुक है। इन तीनों कोटियों की समापत्ति ही वितर्क ज्ञान का बोध कराती है।

यही भाव जब समाधि अवस्था में अनुत्तर योगी के चित्त में रहते हैं तब शनैः- शनै ये भाव सूक्ष्म रूप ग्रहण करते हैं। जब रूप रंग आकार बाह्य सापेक्ष होता है, तब उसी शब्दार्थोल्लेखपूर्वक जो महाभूतादि अवयवी की भावना की जाती है, वह सवितर्क योग होता है। यहाँ वितर्क में तीनों कोटियों का ज्ञान भिन्न होकर प्राप्त हुआ था, सवितर्क में उन तीनों कोटियों की समापत्ति एकत्रित हुई एकतान हुई संवलित रूप से विद्यमान रहती है। अतः वस्तु के चिन्तन में तीनों उपस्थित रहते हैं वह सवितर्क समाधि होती है। तत्पश्चात् जब शब्द शून्य होने के अर्थ मात्र की भावना की जाती है, उसे निर्वितर्क समाधि कहते हैं। निर्वितर्क विशेषता यह है कि इसे शब्दार्थ एवं ज्ञान शून्य हो जाता है, केवल अर्थ रहता है।

---

1. वितर्क चित्त स्यालम्बने स्थूल आभोगः। - व्यासभाष्य

विचारानुगत समाधि

'चित्त के द्वारा सूक्ष्म आभोग ही विचार है'।[1] स्थूल विषयक समाधि वशीकृत होने पर, उस समाधि के अनुभव के साथ विचार विशेष से सूक्ष्मतत्व का सम्प्रज्ञान होता है । यही सविचार सम्प्रज्ञात है । शब्द की सहायता के बिना विचार नहीं होता है और यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाये, तो पता चलता है कि यह भी तीनों कोटियों शब्द-अर्थ और ज्ञान के विकल्प से किसी न किसी प्रकार से अनुविद्ध है, परन्तु इसमें स्थूल के स्थान पर सूक्ष्मता को ग्रहण किया जाता है । चित्तगत ध्यान का लीन अवस्था में विचार विशेष इसका विशेष लक्षण होता है । इसे वितर्क विकल भी कहते हैं क्योंकि यह वितर्क रूप अंग से हीन होता है । सूक्ष्मता ग्राह्य एवं ग्रहण समाधि के विषय हैं । विचारपूर्वक सूक्ष्म ध्येय के प्राप्त होने के कारण स्वरूप इसे सविचार भी कहते हैं । संक्षिप्ततरूपेण "यहाँ तन्मात्र आदि सूक्ष्म आलम्बन को ग्रहण कर भावना की जाती है, उसे सविचार समाधि और जहाँ देश काल और धर्म का परित्याग करके केवल सूक्ष्म धर्मि की भावना की जाती है, वह निर्विचार समाधि कहलाती है । ग्राह्य विषयक होने से इसका नाम "ग्राह्य समापत्ति " है ।[2] विकृति से प्रकृति में जिस विचार से जाया जाता है वह यही निर्विचार है, तथा हेय, हेय-हेतु, हान, हानोपाय इन सब विषयों का ज्ञान जिस समाधि के द्वारा सूक्ष्मतर होता है वह भी यही निर्विचार समाधि मानी गई है । जबकि तत्व और योग विषयक सूक्ष्म भाव इस प्रकार के विचार के द्वारा उपलब्ध होते हैं, अतः सूक्ष्मविषयक समाधि का नाम विचारानुगत समाधि है ।

1. सूक्ष्मो विचारः । - व्यासभाष्य - पा0यो0 सू0 - 17
2. भारतीय दर्शन । आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृ0 - 299

आनन्दानुगत

"आनन्दानुगत का अर्थ है ह्लाद ।[1] अन्तःकरण में प्रसाद चित्त का सुखमय होकर समाधि विशेष की ओर अग्रसर होना , दौड़ना जैसे कोई नई नवेली दुल्हन मायके जाने के लिए तैयार होती है और जैसे - जैसे नजदीक पहुंचती है, अत्यधिक आनन्दित होती है। ऐसे ही वितर्क और विचार को जब समाधि के धर्म पीछे छोड़ देते हैं तब उसे सुखमय आनन्द समाधि का सम्प्रज्ञान होने लगता है । यह शुद्ध होती है इसमें रज और तम दोनों दब जाते हैं और सात्विक अहंकार उत्पन्न होता है । "सात्विक अहंकार से उत्पन्न होने के कारण स्वरूप इन्द्रियां सुखात्मक होती हैं ।" अतः वह स्थूल और सूक्ष्म भूत विषयक नहीं है । स्थिरता विशेष से उत्पन्न, चित्तादि करणों में व्याप्त, सात्विक सुखमय भाव विशेष इस समाधि का आलम्बन होता है । शरीर, चित्त, ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय एवं प्राणों का अधिष्ठान स्वरूप होता है । अतः वह आनन्द सम्पूर्ण शरीर का सात्विक स्थैर्य का स्वाभाविक बोध स्वरूप है, फलतः सानन्द समाधि वस्तुतः करणविषयक या ग्रहण विषयक है । अतः इस आनन्दानुगत समाधि अवस्था को प्राप्त योगी करणसमूहों का साक्षात्कार करके उन्हें प्राणायामादि क्रियाओं के माध्यम से सदा-सदा शान्त करने में प्रयत्नशील रहते हैं । प्राणायाम विशेष के द्वारा या नाड़ीयज्ञ रूप शारीरिक मर्म स्थान के ध्यान से शरीर के सुस्थिर होने पर शरीर में व्याप्त जिस सुख का अनुभव होता है केवल उसी के सहारे ध्यान करते - करते आनन्दमय करण प्रसाद रूप भाव की प्राप्ति होती है। यही सानन्द समाधि का साधन भी है । इसे ग्रहण समापत्ति भी कहते हैं ।

1- आनन्दो ह्लादः ।। पा. योगद. व्यास भा० सू० १/१७

अस्मितानुगत

"एकात्मिका- द्रष्टा और दृश्य का एकात्मिका आत्मज्ञान जो कि संविदमात्र है, वही अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात है ।[1] इन्द्रियाँ अस्मिता से उत्पन्न होती हैं अतः कारण होने के परिणाम स्वरूप अस्मित (बुद्धि) इन्द्रियों से नितान्त सूक्ष्म है । चित्त पर प्रतिबिम्ब पड़ने पर बुद्धि अस्मिता है । इसमें ऐसी बुद्धि अहं स्वरूप अभिमानात्म मानी गयी है । इसके कारण स्वरूप ही मनुष्य (पुरुषा) के धर्मो का बुद्धि अपना धर्म मानने लगती है । अतः इस बुद्धि की भावना करने पर सास्मिता समाधि का प्रादुर्भाव होता है । बुद्धि में ग्रहीता पुरुषा के अन्तर्भाव होने से यह सम्प्रज्ञात् समाधि ग्रहीतृ विषयक मानी जाती है । इसी के कारण स्वरूप अर्थात् सास्मिता समाधि शनैः शनैः अग्रसर जब होती है, तब सास्मिता धर्म समाप्त होने लगता है और अहंकार के धर्मो को त्यागने लगती है और आत्मबोध की गुत्थी को सुलझाने मे अग्रसर होती जिससे उसे यह बोध हो जाता है कि जिसे मैं अपना धर्म मानती थी, वह नितान्त शरीर, मन एवं अहंकार से भिन्न है यही अस्मितानुगत समाधि है ।

महर्षि पतञ्जलि जी के अनुसार वितर्कादिभेद एवं व्याख्या

चित्त की जो सवितर्कादि समापत्ति है, उसका स्वरूप और विषय बताते हुये लिखते हैं कि जैसे "शुद्ध स्फटिक मणि जिस प्रकार आश्रयों से विभिन्न रूपों को प्राप्त करती है । वैसे ही क्षीण वृत्ति चित्त की उसी प्रकार ग्रहीता ग्रहण एवं ग्राह्य में जो तत्स्थतता और तदञ्जनता होती है, वही समापत्ति है[2] ।

1. एकात्मिकासंविदस्मिता ।। - व्यास भाष्य[पृ० 96], आचार्य बलदेव उपाध्याय
2. क्षीणवृत्तेरभिजातस्येवमणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः ।। - वही - 1/41

महर्षि पतञ्जली लिखते हैं कि शब्द अर्थ और ज्ञान के विकल्प से संकीर्ण वितर्क है, और मिश्रत सवितर्का समापत्ति है ।"[1]

यहाँ गौ यह शब्द है, गौ यह अर्थ है और गौ यह ज्ञान है ऐसी तीनों कोटियों का भिन्न भिन्न ज्ञान स्थूल ज्ञान वितर्क है और एक साथ मिश्रित ज्ञान सवितर्क है । जबकि वितर्क ~~के~~ ज्ञान में रहने वाले भिन्न-भिन्न धर्म समाप्त होकर शब्दार्थ ज्ञान को संकलित कर एक साथ एकत्र कर ग्रहण कर लेते हैं, उसे सवितर्क समापत्ति कहते हैं ।

सवितर्क के अनन्तर योगी को निर्वितर्क समापत्ति होती है ।

निर्वितर्का समापत्ति में योगी की स्मृति परिशुद्ध हो जाती है, शब्द को त्याग कर केवल अर्थमात्र का ही ग्रहण करने लगता है और स्वरूप से भी शून्य हो जाता है जबकि वास्तव में देखें, तो शब्द और स्वरूप तो विद्यमान होते हैं, परन्तु उनको दबा कर अर्थमात्र के चिन्तन में योगी का चित्त स्थित होता है, जिससे "स्मृति परिशुद्ध होने पर स्वरूप शून्य जैसी अर्थमात्र निर्भासा समापत्ति निर्वितर्का होती है" ।[2]

इसी प्रकार से सवितर्क का भी सूक्ष्म ज्ञान मात्र सविचार कहलाता है और निर्वितर्क का भी ~~।~~ सूक्ष्म रूप जब चित्त प्राप्त कर लेता है तब निर्विचार मानी गई है ।[3]

---

1. शब्दार्थ ज्ञान विकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः ।। -पातंजलयोगदर्शनम् एवं व्यासभाष्य 1/42
2. स्मृति परिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ।।-व्यासभाष्य, 1/46
3. एतयैव सविचारानिर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ।। -वही-1/44

सूक्ष्म के विषय में भी लिखते हैं कि "सूक्ष्म ज्ञान अलिंग पर्यन्त अर्थात् आत्मा पर्यन्त है "।[1] ऐसा मानना चाहिये जैसे पञ्चमहाभूतों गन्ध तन्मात्र पार्थिव अणु का, रस तन्मात्र जलीय अणु का, रूपत मात्र तेजस का, स्पर्श तन्मात्र वायवीय अणु का एवं शब्द तन्मात्र आकाश का सूक्ष्म विषय है। वैसे ही इन पांचों का अहंकार तन्मात्र है, अहंकार व्यक्त (बुद्धि) का तन्मात्र है अर्थात् लिंग मात्र अहंकार का सूक्ष्म विषय है और लिंग मात्र का सूक्ष्म विषय अलिंग है, इससे परे कोई सूक्ष्म ज्ञान नहीं है।

इसी तरह से स्थूल से सूक्ष्म एवं सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतम ज्ञान आत्म ज्ञान पर्यन्त माना गया है यही योग का विषय है। यहाँ ऐसा ज्ञान रहता है "उसे ही सबीज या सविकल्प समाधि भी कहते हैं।[2]

<u>असम्प्रज्ञात समाधि</u>

इस विषय में कहते हैं कि यह शुद्ध विचारों की रगड़ से उत्पन्न होती है। जैसे अरणियों के मन्थन से आग उत्पन्न होती है वैसे ही सविचार निर्विचार की पारंगतता की रगड़ से अध्यात्म प्रसाद होता है, जैसे कि –"निर्विचार विचारों से रहित समाधि भूत का वैशारद्य (ज्ञान) होने से अध्यात्म प्रसाद होता है "।[3] और "उस अवस्था में जो प्रज्ञा उत्पन्न होती है, उसे ऋतम्भरा कहते हैं "।[4]

---

1. सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम् ।। – व्यासभाष्य – 1/45
2. ता एवं सबीजः समाधिः । – वही – 1/46
3. निर्विचार वैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ।। – वही – 1/47
4. ऋतम्भरा तत्त प्रज्ञा ।। – वही – 1/48

ऋतम्बरा त्रिकाल में यथावत् सत्यभूत यथार्थ ज्ञान कराने वाली बुद्धि का नाम है ॥निश्चयात्मक अध्यवसायात्मिक बुद्धिः॥ वाली और यह वेदादि श्रवण पठन एवं मनन से तथा अनुमान से भी विशेषतया अन्य सूक्ष्म ज्ञानाभिवर्द्धिनी मानी गयी है ।[1] यह दोनों सम्प्रज्ञान समाधि के सुखात्मक संस्कारों को दबाकर ऊपर उठते हैं । निरोध समाधि के व्युत्थान संस्कार हैं । इन्हीं से पूर्व स्थित अविद्यामूलक सूक्ष्मतर सम्प्रज्ञात समाधि के संस्कार दग्ध हो जाते हैं और सम्प्रज्ञात इनके साथ निरोधाभिमुखी होती हुई बाह्य विषयक सूक्ष्मतम संस्कारों को भी रोक देती है और तदनन्तर अन्दर के स्वरूप शून्य संस्कार भी दग्ध हो जाते हैं । उदाहरण स्वरूप जैसे इन्धन की भट्टी जब जलाई जाती है तो पहले वह खुली होती तदनन्तर क्रम से शनैः - शनैः ऊपर से लेकर नीचे तक बन्द कर दी जाती है और जलैईया उसे लौकिक कृत्य के अनुसार खोलकर अपना काम लेता रहता है, परन्तु यदि उसे न खोला जाय तो ऐसा देखा गया है कि उसमें कोयला न बनकर भस्म होती है । क्योंकि उसमें लौकिकता का सम्बन्ध नहीं रहता, हवा भी स्पर्श नहीं कर पाती है और वह बन्द रहने पर अपनी अन्दर की अग्नि से इन्धन को दग्ध करती है । ऐसे ही सम्प्रज्ञान के बाद उत्पन्न अध्यात्म प्रसाद एवं ऋतम्बरा प्रज्ञा सम्प्रज्ञान के संस्कारों को बाह्य से आने वाले संस्कारों को रोक देते हैं ।[2] जो कि अत्यन्त सूक्ष्म रूप में भी रहते हैं उन्हें भी दग्ध कर देते हैं, तब सम्पूर्ण योग की उत्पत्ति होती है, जिसे असम्प्रज्ञात

---

1. श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्य विषया विशेषार्थत्वात् । - व्यासभाष्य - 1/41
2. तप्तः संस्कारोऽन्यसंस्कार प्रतिबन्धी ॥ - वही - 1/50

समाधि कहते हैं । इसीलिए इसे योगचित्त वृत्तियों का निरोध न होकर सम्पूर्ण अशेष चित्त वृत्तियों के निरोध को ही निर्बीजसमाधि या असम्प्रज्ञात योग कहते हैं ।[1]

असम्प्रज्ञात भी दो प्रकार की मानी गई है । भव प्रत्यय-युक्त एवं उपाय प्रत्यय । 'भव प्रत्यय के विषय में ग्रन्थकार ने कहा है कि ये विदेह - देवता विशेष एवं प्रकृतिलीन पुरुषों को प्राप्त होती है " ।[2] इन्हें मोक्ष प्राप्त नहीं होता और यह अष्ट प्रकृति में समाहित होते हैं और समय- समय पर पुनः पुनः जन्म ग्रहण करते हैं। इनमें सत्वांश की अधिकता पायी जाती है परन्तु इन्हें मोक्ष प्राप्त नहीं होता । अतः इस प्रकार से इसे भव प्रत्यय पूर्वक ही असम्प्रज्ञात योगी कहा जाता है । जबकि "श्रद्धावीर्य स्मृति पूर्वक जो योग बल प्राप्त करते हैं, वे दूसरे विशुद्ध सत्वगुणी योगी होते हैं "[3] और वे संसार सागर को पार कर जाते हैं । ये उपाय प्रत्यय वाले योगी जन्म मरण के बन्धन को काट कर परमशान्त ब्रह्मपद को प्राप्त होते हैं । जैसा कि गीता में भी कहा गया है कि सदा श्रद्धावान एवं विजितेन्द्रिय ज्ञान प्राप्त करते हैं और ज्ञान लाभ कर परम शान्त पद को प्राप्त करते हैं ।[4]

---

1. तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ।। -व्यासभाष्य -1/51
2. भव प्रत्ययो विदेह प्रकृतिलयानाम् । - पा० यो० सू० 1/19
3. श्रद्धावीर्य स्मृति समाधि प्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ।। - वही - 1/20
4. श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
   ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ।। -गीता - 4/39

योग एवं मनोविज्ञान

चित्त — योग स्वयं एक विज्ञान है जिसे 'चित्त' (चितेर्भव: चित्तम्) मन को केन्द्रित करने के कारण स्वरूप मनोविज्ञान भी कहा जाता है। प्रथमत: चित्त को जानने से पहले पातञ्जलयोगसूत्र का अध्ययन जरूरी हो जाता है यहां लिखा गया है कि योग की सिद्धि चित्त की वृत्तियों के निरोध से ही हो सकती है अन्यथा असम्भव है।

यह सर्वविदित ही है कि ईश्वर सांख्य एवं पातंजल योग सूत्र में साम्यता है। जबकि निरीश्वर सांख्य में ईश्वर न होने को छोड़ शेष विधि भी योग समान ही है। उसी सांख्य दर्शन से पता चलता है कि त्रिगुणात्मका प्रकृति का परिणाम महान (बुद्धि) से अहंकार अहंकार से ऐन्द्रिय मन उत्पन्न होता है, जिसे त्रिगुण सत्व रज तम रूप अहंकार का परिणाम भी कहते है। इन्हीं तीनों धर्म एवं धर्मियों की सामूहिक संज्ञा तथा चित्त मिलाकर अन्त: करण है। यहां इन्हें सामूहिक रूप से चित्त व्यास भाष्य अनुसार प्रख्याशील, प्रवृत्तिशील एवं स्थितिशील रूप से त्रिगुणात्मक है।[1]

सत्वगुण जहां अधिकतम भाव से व्याप्त रहे, उसे प्रख्याशील चित्त कहते हैं अर्थात् समत्व बुद्धि वाला चित्त प्रख्याशील होता है। इसी में धर्म मेघ समाधि उत्पन्न होती है। जैसा कि गीता में कहा गया है कि "प्रकृति और पुरूष (क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ) का जब गूढ ज्ञान से ज्ञान हो जाता है भिन्न भिन्न दिखाई देने लगते है तब प्राणी प्रकृति से मुक्त होकर पुरूष कैवल्य को प्राप्त होकर परम

1. चित्तं हि प्रख्या प्रवृत्तिस्थितिशीलत्वात् त्रिगुणम्। - व्यासभाष्य, पा०-1 सूक्त - 2

गति को प्राप्त कर लेता है ।[1] इसका केन्द्र निश्चयात्मिका बुद्धि है ।

रजो गुण की अधिकता के कारण मन चञ्चल बना रहता है तथा धर्म – अधर्म, ज्ञान – अज्ञान ऐश्वर्य-निश्वर्य एवं वैराग्य-वैराग्य से जुड़ा रहता है, जिससे वह ऐच्छिक एवं काम्य कर्म में प्रवृत्त होता रहता है । चित्तस्थितिशील होता है ।

स्थितिशील चित्त तम की अधिकता से व्याप्त होता है तथा अधर्म अज्ञान , अनैश्वर्य एवं अवैराग्य में प्रवृत्त होता है और इसका केन्द्र तामसिक अहंकार होता है ।

यद्यपि इस प्रकार की प्रवृत्ति को समझना एवं जानना आज भी पहेली बना हुआ है, जबकि आज का वैज्ञानिक जिसे पढ़ता है, उसे खोज निकालता है, परन्तु चित्त की इन वृत्तियों को ठीक-ठीक समझना आज भी उतना ही दुष्कर बना हुआ है , जितना रोगों को जड़ से समाप्त कर पाना एवं सूर्य तक पहुँच पाना । क्या यह विषय इतना गम्भीर था कि इसे लक्षणों को देखने के पश्चात् व्याख्यान किया जाये ?

परन्तु ऐसा कदापि नहीं है – इसका ज्ञान हमें वेदाङ्ग पढ़ने से ही होता है, परन्तु केवल समझने की जरूरत है । वेदाङ्ग के अन्तर्गत ज्योतिष ज्ञान एक सत्य एवं अद्भुत विज्ञान है , जो गर्भ धारण के समय ही बता देने में सामर्थ्य रखता था । आज इस तरह के अनुसन्धान न होने के कारण एवं देश पर आये दिन होने वाले आक्रमणों से होने वाली संस्कृति की हानि से यह विषय मात्र इतिहास बन कर रह गये हैं । ज्योतिष शास्त्र में कहा गया है कि अमुक समय एवं अमुक राशी एवं लग्न तथा नक्षत्र से अमुकामुक सत्व रज एवं तमो

---

1. क्षेत्र क्षेत्रयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिं मोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ।। – गी0 ,अ0 – 13, श्लो0–34

धर्मी सन्तानें उत्पन्न होती हैं । जिसको विचारपूर्वक देखें तो कश्यप एवं दिति से उत्पन्न हिरण्याक्ष एवं हिरण्यकशिपु जैसी युगल सन्तानों का उत्पन्न होना उसी ज्योतिष काल गणना का अनुमोदन करती हुई स्पष्टतः दिखाई देती है । युगल सन्तानोत्पत्ति का एक मुख्य कारण सन्ध्या समय भी माना गया है । इन दोनों दानवों की उत्पत्ति तब हुई जब सायंकालीन सन्ध्या करने के समय भगवान कश्यप समाधिस्थ थे और दिति ने काम वासना की तृप्ति के लिए उन्हें उनकी समाधि भंग करने के लिए विवश किया और समय की अवहेलना का परिणाम बालकों की उत्पत्ति से पूर्व ही वर्णन करते हुये दिति को समझा बुझा दिया था कि आपने समय की अवहेलना कर अच्छा नहीं किया, अब आप इस काल के दुष्परिणामों को भोगने के लिए तत्पर रहिये ।"[2]

ज्योतिष बताता है कि नक्षत्रों की संख्या 28 होती है, लेकिन दशाआकलन में मुख्यतः 27 ही प्रयोग में लाये जाते हैं। जिन्हें क्रमशः सत्व, रज एवं तम गुण के अन्तर्गत विभाजित करके तीन गणों में विभाजित किया गया है । ये तीनों गण हैं देव, नर, और राक्षस । एक - एक गण में नौ नक्षत्र रेखांकित हैं । ये अश्विन्यादि नक्षत्रों से लेकर रेवती पर्यन्त है । उन्हीं में तीन गुणों का बृहत्पाराशरहोरा शास्त्र से ज्ञान होता है । अहंकार तीन प्रकार का है - सत्व , रज और तमो गुणी[3] ।।

---

1. देवावैकारिका ज्जातास्तैजसादिन्द्रियाणि च ।
   तामसश्चैकभूतानि शब्दादीनि स्वशक्तिभिः ।।
   तमः शक्त्यान्वितोविष्णुर्देवः संकर्षणाभिधः ।-बृह०पा० उत्तरार्ध
   प्रद्युम्नोरजसाशक्त्याऽनिरूद्धश्च सत्वयायुतः ।।-बृह०पा०हो०शा०
   सृष्टयादिक्रम -13/14
2. श्रीमद्भागवत महापुराण स्कन्ध तृतीय अध्याय - 14
3. अहंकारस्त्रिधाभूत्वा सर्वमेतद्विस्तारद ।
   सात्विको राजसश्चैव तामसश्चैदेहकृतिः ।। — बृह० पा०हो०शा०, सृष्ट्यादिक्रम - 16

1. सत्वांश युक्त देवगण में - अश्विनी, मृगशिरा, पुनर्वसु, पुष्य, हस्त, स्वाति, अनुराधा, श्रवण एवं रेवती आते हैं।

2. रजोगुणी समुद्भूत नरगण प्रधान नक्षत्र - भरणी, रोहिणी, आर्द्रा, पूर्वफाल्गुणी उत्तराफाल्गुणी, पूर्वाषाढ़ा, उत्तराषाढ़ा, पूर्वभाद्रपद एवं उत्तराभाद्रपद हैं।

3. तमो गुण से युक्त राक्षसगण प्रधान, कृत्तिका, आश्लेषा, मघा, चित्रा, विशाखा, ज्येष्ठा मूला, धनिष्ठा एवं शतभिषा नक्षत्र आते हैं। इनमें भी सत्वांश प्रधान - पुष्य

रजो गुणी नक्षत्रों में - रोहिणी

एवं तमो गुणी प्रधान मूला का अपना ही महत्व पढ़ने एवं सुनने को मिलता है। यद्यपि ये सिद्धान्त स्वयं अनुभव जन्य हैं तथा पढ़े तो नहीं गये लेकिन चिन्तन करने पर एवं पौराणिक आख्यानों के पढ़ने से पता चलता है कि इनमें उत्पन्न व्यक्ति कैसा मनोवृत्ति (चित्त वृत्ति) को हुये एवं होगा तथा ग्रहों के बलाबल के अनुसार कितना भाग्यशाली होगा तथा कार्य में कितना निपुण होगा यह सब सही सही ज्योतिष ज्ञान बता ही देता है। इन नक्षत्रों के अन्तर्गत ग्रहों के जुड़ जाने से अनन्त धर्मात्मक अनन्त सृष्टि बनती है। कहीं सत्वांश भी निर्बल हो जाते राक्षस से पराजित हो जाता है, तो कहीं सत्वांश बलवान होकर राक्षस गण पर विजय प्राप्त कर लेता है। परन्तु रजो गुण प्रधान इन दोनों से भिन्न है, यदि ग्रह भी बलवान हों (तक विशेष होता है)। तब इस प्रकार से ज्योतिष के माध्यम योग साधना से पूर्व ही पता लगाकर मनुष्य की चित्त वृत्ति का ज्ञान कर लेने

✓ पण्ड्या देवियाल - नक्षत्र, राशि एवं योग पृ० 132 वि०सं० 2056

में जितनी अधिक सफलता मिलती है शायद ही प्रशयाशील, प्रवृतिशील एवं स्थितिशील जैसे शब्दों के पढ़ने से प्राप्त हो सके। उसी में लिखा है कि "ऐसा आरब्धक भी होता है। अर्थात् पूर्व जन्म के कर्मानुसार ही जन्म मिलता है और भाग्य भी मिलता है। परन्तु उस भवितव्यता को धर्म कर्म एवं ज्ञान से योगीजन परिवर्तन शील बना देते हैं और योग बल से उस पर विजय पताका लहरा देते हैं।[1] ऐसा हमें भगवान श्री राम श्री कृष्ण एवं भगवान परशुधारी परशुराम जी के प्रसिद्ध चरित्र के साथ ही साथ महर्षि बाल्मीकि जैसे अनेक मुमुक्षुओं के चरित्र का अध्ययन से पता चल जाता है। आज भी सप्तचिरंजीवियों का सिद्धान्त शास्त्र सम्मत है। जैसे – अश्वत्थामा, बलि, व्यास, हनुमान, विभीषण, कृपाचार्य एवं भगवान परशुराम जी के विषय एवं उस श्लोक से पता चलता है[2] " जिसकी हम जन्मदिन के पूजन में पूजा के समय बोलते हुये स्तुति करते हैं। ये सब योगज्ञ एवं आत्मज्ञानी ही तो थे जिन्हें काल भी बाधित नहीं कर सकता। इतना ही नहीं बल्कि लंकापति रावण ने भी काल पर विजय पताका लहरा रखी थी केवल अन्तर इतनी ही था कि जहां वो ज्ञानी था वहीं अधर्मी भी था। पिता ऋषि एवं माता राक्षसी दोनों ही धर्मों के बीच फंसा हुआ होने से आत्मा का साक्षात्कार करने से चूकना पड़ा। परन्तु योगज्ञों में से कम नहीं था।

---

1. नाभुक्तं क्षीयते कर्म कोटिशतैरपि। अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतंकर्म शुभाशुभम् ॥
देवे पुरुषाकारे च कर्म सिद्धिर्व्यवस्थिता। तत्र दैवमभिव्यक्त पौरुषंपौर्वदैहिकम्
–होरारत्न उपोद्घात, श्लोक – 36, 34

2. अश्वत्थामा बलिर्व्यासोहनुमानश्च विभीषणः कृपःपरशुरामश्च सप्तैते चिरजीविनः ॥

इसलिए सनकादि से श्राप ग्रस्त जय विजय को जब दैत्यत्व प्राप्त हुआ तभी "भगवान ने उन्हें क्रोधावेश रूपी एकाग्रता से पुनः प्रभु प्राप्ति का उपदेश किया।"[1] अतः एकाग्र भूमिकाचित्त वाले भी दानव हो सकते हैं।

तमोभिभूत से चित्तवृत्ति एवं रजोऽभिभूत तमो वृत्ति प्रधान दुर्निग्रह मन को योगाभ्यास के द्वारा शिथिल करना अर्थात् स्थिर करना बहुत जरूरी है। योग तब तक प्राप्त नहीं होता जब तक तीनों गुणों से ऊपर न उठा जाये और सत्व, रज, एवं तमो गुणों से ऊपर उठकर विशुद्ध सत्व गुण को प्राप्त न किया जाये। क्योंकि सभी गुणों में न्यूनाधिक रूप से आपसी तालमेल रहता है परन्तु विशुद्ध सत्व गुण सत्वातीत होता है इसी से तीनों गुण उत्पन्न होते हैं। जैसे उपनिषदों में कहा है - ईश्वर जब संकल्प लेता है कि मै बहुत हो जाऊं तो जीव की उत्पत्ति होती है और उसी जीव से मन उत्पन्न होता है अर्थात् चित्त उत्पन्न होता है। जैसे काश्मीर शैवदर्शन में पञ्चकारित्व की शक्ति भगवान में स्वतः रहती है वैसे ही जीव की भी मानी गयी है। तदनुसार जीव परमात्मा का अंश माना गया है और प्रकृति भी उसी से उत्पन्न होती है और प्रलय काल में यह पुरूष में (जीव में) एवं जीव अजीव में समाहित हो जाता है। अर्थात् प्रकृति से परे पुरूष है और पुरूष से परे परम पुरूष का ज्ञान श्रुति एवं उपनिषदों के सार भूत गीता से चलता है[2]। अतः मन की उत्पत्ति जहां एक तरफ सांख्यवादी प्रकृति से मानते हैं वहीं योग वशिष्ठ इसे जीव से उत्पन्न मानता है[2]। इसलिए

---

1. एतौ सुरेतरं गातं प्रतिपद्य सद्यः, संरम्भसम्भृत समाध्यनुबद्धयोगौ।
भूयः सकाशमुपयास्यत आशुयोवः, शापो मयैव निमितस्तदवैत विप्राः ॥
- भाग०पु० स्क० 3, अ० -16, श्लो० - 26

हिन्दी योग वशिष्ठ पृ० 180

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

मन भी परमार्थतः परमात्मा से उत्पन्न हुआ है ।[1] जैसे परमात्मा एवं जीव में भेद नहीं, वैसे ही जीव और मन में भेद नहीं है, उसी प्रकार देह और कर्म में भी भेद नहीं है । देह ही चित्त है, चित्त अहंकार विशिष्ट जीव है, अतः इस प्रकार परमात्मा जीव एवं चित्त की स्थितियों का ज्ञान होता है ।

आगे वर्णन करते हुये महर्षि वशिष्ठ बताते हैं कि जैसे एक दीपक से सैकड़ों दीपक प्रकाशित होते हैं उसी तरह एक ही परम वस्तु चेतन आत्मा अपने संकल्प से नानात्व को प्राप्त होता है । मनुष्य चित्त मात्र है चित्त के हट जाने पर यह जगत् शान्त हो जाता है । जिसका चित्त शान्त हो गया उसके लिए सारा जगत ही शान्त हो गया[1]। गीता में भी भगवान श्री कृष्ण कहते हैं कि जीव मेरा ही अंश है ।[2]

मैत्रेयी उपनिषदानुसार चित्त ही संसार है[3]। चित्त के ही भ्रमित होने के कारण स्वरूप मनुष्य दो - दो चन्द्रमाओं को देखने लगता है यह चित्त का ही तो भ्रम है । इसी चित्त भ्रम के कारण जीवात्मा परमात्मा में द्वैत देखता है । इसी चित्त वृत्ति के निरोध के विषय में योग दर्शन प्रकाश डालते हुये कहता है कि सर्वप्रथम चित्त को जानना चाहिये तदनन्तर चित्त की भूमियों अवस्थाओं का ज्ञान होना जरूरी है । तब वृत्तियों के विषय में पता लगाओ वृत्तियों का वास्तविक ज्ञान होने पर कि ज्ञानार्थ कौन सी वृत्ति है और अज्ञानार्थी कितनी है । क्योंकि चित्त से उत्पन्न जिन दो नदियों का पाठ मिलता है । वह वास्तव में गूढ़ है । जिससे अनुमान किया जा सकता है कि

1. — हिन्दी — योगवशिष्ठ — पृष्ठ — व्याख्याकार नन्दलाल दशोरा पृष्ठ — 180
2. ममैवांशो जीवः लोके जीवभूतः सनातनः ।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणिप्रकृतिस्थानिकर्षति ।। - गीता
3. चित्तमेव हि संसारः ।। मै० 30

हृदयाकाशस्था 101 (एक सौ एक) स्रोत युक्त नाड़ियें हैं जिनमें से सौ नीचे को मुंह किये हुये हैं उपर की ओर जिसने मुंह किया है वह केवल एक ही है। अर्थात् नीचे गमन करने के लिए सांसारिक पशु बने रहने के लिए अनेक मार्ग हैं अर्थात् सैंकड़ों मार्ग है परन्तु ज्ञानोपयोगी एक ही मार्ग है वह है उन सैंकड़ों मार्गों का निरोध तभी मुक्ति मिल सकती है[1]। उन्हीं सैकड़ों मार्गों के निरोध हो जाने पर राग द्वेष जो कि मनुष्य के परम शत्रु " मधुकैटभ " माने गये हैं[2]। कट जाने से (मर जाने) से मनुष्य का मन आत्मा में स्थिर हो जाता है जब चित्त आत्मा में स्थिर होगा तो उसे आत्म ज्ञानी कहा जायेगा जिसे योगसूत्र में कहा गया है ऐसा साधक अपने " स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है"[3] जिसने चित्त वृत्तियों का निरोध कर लिया हो। अर्थात् योग का केन्द्र बिन्दु चित्त है जिस पर योग बल से विजय प्राप्त की जा सकती है।

चरक ने कहा है कि - " यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसको बल से भाग्य भी बदला जा सकता है।" योग मोक्ष नहीं है बल्कि योग मार्ग से मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। अर्थात् जन्म मरण से मुक्ति के लिए योग की आवश्यकता है। योग से सभी वेदनाओं का आत्यन्तिक नाश हो जाता है और मोक्ष प्राप्त हो जाता है।"[4] अतः योग मोक्ष दिलाने वाला है अर्थात् मोक्ष का प्रवर्तक है।

---

1. चित्त नदीनाम उभयतो वाहिनी वहति पापाय वहति पुण्याय च।
   - व्यासभाष्य, पा०यो०सू०-1/2
2. मधुकैटभौ दुरात्मानावतिवीर्य पराक्रमौ ।।-श्रीदुर्गासप्तशति, अ०-1, श्लो०-92।।
   भवेतामद्यमे तुष्टौ ममवध्यावुभावपि ।।किमन्येनवरेणात्र एतावद्धि वृत मम ।।
   -वही- श्लोक- 97-98
3. तद्रष्टु स्वरूपेऽवस्थानम् । पा०यो०सू० 1/3
4. योगे मोक्षे च सर्वासांवेदनानामवर्तनम् ।
   मोक्षे निवृत्तिर्निःशेषा योगमोक्षप्रवर्तकः ।।-च०सं०भा०-2, शा०स०
   श्लोक - 136, पृ० - 830-31

चित्त के विषय में सर्वदर्शन संग्रहकार का मानना है कि आत्मा अपरिणामी है केवल चित्त ही परिणामशील है । चित्त समय समय पर बदलता रहता है । जिन वृत्तियों के निरोध के विषय में पाठ मिलता है ये वृत्तियां अन्त: करणादि (बुद्धि, चित्त, अन्त:करण) के नाम से पुकारे जाने वाले चित्त के ही धर्म मानी गई हैं । (ज्ञान, चित्त का ही परिणाम है । बुद्धि की वृत्ति में विषयों का आकार आ जाना ही ज्ञान है और विषयों आकार से उपरक्त बुद्धि की वृत्ति का प्रतिबिम्ब चित शक्ति पर पड़ता है जैसे जल में प्रतिबिम्बित होने की सामर्थ्य, रूप से युक्त स्थूल द्रव्य में है । उसी प्रकार पुरूष में प्रतिबिम्ब होने की सामर्थ्य वृत्ति से युक्त चित्त में है । उस समय बुद्धि की वृत्तियों से भेद ज्ञान न कर सकने के कारण उस प्रकार को बुद्धि की वृत्तियों से अभिन्न रूप में चित्ति शक्ति वस्तुओं का अनुभव करती है । फलत: ज्ञान वास्तव में बुद्धि का धर्म है, आत्मा का नहीं । आत्मा की कूटस्थता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता ।

ऐसा कभी नहीं समझना चाहिये कि चितिशक्ति (आत्मा) का अपरिणामी होना असिद्ध है (चितिशक्ति अपरिणामी मानने के लिए) इस प्रकार के अनुमान की सम्भावना है -

1. चितिशक्ति अपरिणामी है (प्रतिज्ञा)
2. क्योंकि यह सदा ज्ञाता के रूप में रहती है । (हेतु)
3. जो ऐसा अपरिणामी नहीं है वह वैसा (ज्ञाता) भी नहीं है जैसे चित्त आदि (व्यतिरेक दृष्टान्त)[1]

---

1. चितिशक्तिरपरिणामिनी सदा ज्ञातृत्वात् , न यदेवं न तदेवं यथा चित्तादि - सर्वद० संग्रह, पृ० - 579

[illegible]

श्रुति भी कहती है कि "वृत्तियां चित्त के धर्म हैं काम, {इच्छा} संकल्प {नीलादि}, सन्देह, {विचिकित्सा} श्रद्धा, {आस्तिक बुद्धि} अश्रद्धा, धैर्य, अधैर्य, लज्जा, बुद्धि एवं भय ये सभी मन ही हैं।"[1]

पञ्चशिखाचार्य ने भी "चित्त को अपरिणामी बतलाया है वे कहते हैं कि भोक्तृशक्ति अपरिणामी है।[2]

महर्षि पतञ्जली कहते हैं कि चित्तवृत्तियां सदा ज्ञात रहती हैं कारण यह है कि उनका भोक्ता पुरुष परिणामी नहीं है[3]।

" चित्त परिणामी है – ज्ञात अज्ञात विषय होने से जैसे – श्रोत्रादि इन्द्रियां।

इसके जानने के लिए तीन प्रमाण बतलाये गये हैं जो निम्न प्रकार से हैं – धर्म परिणाम, लक्षण परिणाम एवं अवस्था परिणाम।

1. जैसे सोने के कुण्डल आदि बना लेने से केवल आकृति बदलती है लेकिन सोना सोना ही रहता है।
2. कुण्डल को तोड़ कर आप झुमके या सोने की माला बना लो लेकिन सोना नहीं बदलता।

आभूषण अब पुराने हो गये लेकिन सोना तो वही रहा यह उसी प्रकार है जैसे आत्मा की अवस्था नहीं बदलती लेकिन मनुष्य की अवस्थायें दिन प्रतिदिन बदलती रहती है"।[4]

1. कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव ॥ बृ० उ० १/५/३
2. अपरिणामिनी भोक्तृशक्तिरिति ॥ पा० यो० सू० २/२० व्या० भा०
3. सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात् ॥ पा० यो० सू० ४/१८
4. परिणामश्च त्रिविधः प्रसिद्धो धर्मलक्षणावस्थाभेदात् । धर्मिणश्चित्तस्य --- एवेति न किञ्चिदनुपपन्नम् ॥ सां० द० [illegible] पृ० ५८३

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

निष्कर्षतः चित्त चिति का ही अंश है जैसे प्रकाश स्वरूप किरणें सूर्य का अंश है परन्तु उन्हें हम सूर्य नहीं कह सकते । हम देखते हैं कि जैसे एक पत्थर पर दूसरे पत्थर से रगड़ लगाई जाये तो उसमें से अनेक चिंगारियां निकलती है। जबकि पत्थर एक ही है ऐसे ही दूसरा उदाहरण जैसे जलती अग्नि से हम अनेक चिंगारियां उड़ती देखते हैं ऐसे सूर्य एवं अग्नि के समान आत्मा मनुष्य के भीतर २८४। है जो कि परिपूर्ण है, जबकि चिंगारी स्वरूप चित्त सूर्य की किरणों के सदृश सम्पूर्ण देह में विद्यमान रहता है। ऐसा इसलिए कि यह जिस अंग से अपनी सत्ता हटा लेता है, वहाँ मन भी जीवन प्रदान नहीं कर सकता, जबकि मन उस अंग से जुड़ा हुआ है । बुद्धि देखकर लज्जित होती है विकृत अंग मनुष्य की आकृति बिगाड़ कर उसके अहंकार को ठेस पहुंचाता है, परन्तु ये सब चित् के कारण क्रिया करने में सामर्थ्यवान् है अन्यथा ये प्रकृति के परिणाम होने से जड़ ही हैं। इसलिए चित्त चिति का अभिन्न अंश है जिसे जानकर साधक मन को स्थिर कर चित्त का ज्ञान करता है और चित्त के ज्ञानानन्तर ही चित्त चिति का, स्वयं प्रकाश नित्य शुद्ध बुद्ध आत्मा स्वरूप परमात्मा का दर्शन करवाता है। जिसे परमार्थ लाभ कैवल्य या मोक्ष भी कहते हैं । जैसे कि गीता में भी कहा गया है कि "जिस प्रकार वायु रहित स्थानस्थ दीपक चलायमान नहीं होता ऐसे ही योग युक्त योगी का चित्त स्थिर हो जाता है जिससे आत्मदर्शन का लाभ होता है"।[1] ऐसे ही विज्ञान भिक्षु ने भी चित्त चतुर्विध माना है।[2]

---

1. यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
   योगिनो यत चित्तस्थ युज्जतो योगमात्मनः ।। - गीता - 6/19

2 - चित्तमन्तः करणसामान्यमेकमप्येकान्तः करणस्य वृत्तिभेदमात्रेण चतुर्धा विभक्तं दर्शने विभागात् ।। यो०वा० पृ०92 (डॉ० पवन कुमारी गुप्ता)

चित्त की भूमियां

अथ योगानुशासनम् सूत्र में ही भोजवृत्ति ने तो नहीं परन्तु व्यासभाष्य में चित्त की भूमियों का पाठ मिलता है जिनका नाम है - 1. क्षिप्त, 2. मूढ़, 3. विक्षिप्त, 4. एकाग्र एवं पांचवी वृत्ति निरूद्ध। जबकि भोज वृत्ति के दूसरे सूत्र का विषय रही है।+

जो सबसे बड़ी बात सामने आती है वह यह है कि व्यास भाष्य ने पूर्व की तीनों को योग के अयोग्य माना है और कहा है कि इन तीनों में योग नहीं होता जबकि एकाग्र एवं निरूद्ध दोनों योग प्रदात्री है इनमें ही योग हो सकता है। समाधि चित्त का सार्वभौमिक धर्म है। तदनन्तरगापि व्यासभाष्य क्षिप्त, मूढ़ विक्षिप्त को योग के पक्ष में नहीं मानते हैं। इन तीनों को भोज ने अपने शब्दों में निम्न प्रकार से प्रकाशित किया है।

क्षिप्त भूमि - रजो गुण - दानव - दैत्य

मूढ भूमि - तमो गुण प्रधान होती है - राक्षस पिशाच

विक्षिप्त - रजो गुण प्रधान सत्वगुण

एकाग्र - सत्व गुण प्रधान रजोगुणी भूमि सम्प्रज्ञात समाधि योग वाली होती है और

निरूद्ध - विशुद्ध सत्वगुण प्रधान मानी गई है यह असम्प्रज्ञात अवस्था का ही ऊपर नाम है। चित्त भूमियों का अपर नाम अवस्था विशेष भी है।

---

1. विक्षिप्त चेतसि विक्षेपोपसर्ज भूतः समाधिर्न योग पक्षे।-व्यासभाष्य, पा०यो०सू० 1/1

2. चित्तस्य भूमयश्चित्तस्यावस्थाविशेषः। - भो० वृ०, " 1/2

चित्त की भूमियां ही चित्त की अवस्था विशेष है ऐसा भोजवृत्ति ने भी स्पष्ट किया है[2]। ये तीनों ही मनुष्य के ध्यान में विघ्न कारक मानी गई हैं।

मूढ

जो चित्त किसी इन्द्रिय विषय में मुग्ध होकर तत्व चिन्तन से विमुख हो जाता है उसे मूढ भूमिक चित्त कहते हैं।

क्षिप्त

इसमें कामिनी - कांचन के अनुराग से इन विषयों में ध्यानमग्न हो जाते हैं अर्थात् इसमें सांसारिक भोगों की लालसा अधिक होती है।

विक्षिप्त

क्षिप्त से विशिष्ट। इस अवस्थामे चित्त कभी- कभी स्थिर एवं कभी- कभी अस्थिर हो जाता है वह विक्षिप्त भूमिक चित्त है। ऐसी अवस्था वाले श्रवण करते समय उत्साहित होते हैं परन्तु अनुगमन करते समय भटक जाते हैं।

परन्तु इन पर विजयी पायी जा सकती है ऐसा श्रीमद्भागवत् पुराण का मानना है। शुकदेव परीक्षित को उपदेश करते हुये कह रहे हैं कि[16] "हे राजन्। यदि भगवान का ध्यान करते समय मन रजोगुण से विक्षिप्त या तमो गुण से मूढ़ हो जाये तो घबराये नहीं। धैर्य के साथ दृढ़ता से योग धारणा के द्वारा उसे वश में करना चाहिये, क्योंकि धारणा उन दोनों गुणों के दोष को मिटा देती है।

धारणा के स्थिर हो जाने पर ध्यान में जब योगी अपने परम मंगलमय आश्रय को देखता है तब उसे तुरन्त ही भक्ति योग की प्राप्ति हो जाती है[1]। जबकि एकाग्र भूमि चित्त सुगमता से योग योग्य है, परन्तु इसमें भी सर्ववृत्तियों का निरोध नहीं होने से, इसे सम्प्रज्ञात समाधि की श्रेणी में ही रखा गया है। इसमें विशेषता यही है कि यह इन्द्रियों के केवल सूक्ष्मतर ज्ञान तक ही सीमित है। इसमें ध्याता और ध्येय, साधन-साध्य के सम्बन्ध में अभी भिन्नता रहती है, कुछ शेष रहता है, जिसके कारण इसमें साधक परम सत्ता को प्राप्त नहीं कर पाता है। और सर्व वृत्तियों के निरोध को असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। इस समाधि में ध्याता-ध्यान एवं ध्यात्म ध्येय एक हो जाते हैं, तथा संसार के किसी भी पदार्थ से साधक का लेश मात्र भी सम्बन्ध शेष नहीं रहता है। जीवात्मा और परमात्मा का संयोग होता है ऐसी चित्त भूमिक अवस्था को निरूद्ध कहते हैं[*]।

वृत्तियां

योग शास्त्र का मानना है कि वृत्तियां द्विविध होती है एक अक्लिष्टा दूसरी क्लिष्टा अक्लिष्टा (क्लेश रहित वृत्ति योग पक्षीय है और क्लिष्टा = क्लेशात्मक वृत्तियां योग में बाधक मानी गयी हैं।

---

1. रजस्तमोभ्यामाक्षिप्त विमूढं मन आत्मनः।
यच्छेद्धारणया धीरोहन्ति या तत्कृतं मलम् ।।-श्रीमद्भा०पु०, स्कन्द -2 अध्याय-1, श्लोक -20

यस्यां संधार्यमानायां योगिनोऽर्मलक्षणः।
आशुसम्पद्यतेयोग आश्रयं भद्रमीक्षतः ।। - भा० पु० (2/1/20-21)

शास्त्रों का कथन है कि जब मनुष्य जन्म लेने से पूर्व गर्भ में स्थित होता है तब वह सतोगुणी होता है और उसको घोर कष्ट अनुभव होता है । इसी कष्ट के कारण वह वहाँ गर्भ स्थित हरि का स्मरण करता है और बारंबार इस कष्ट से छुटकारे के लिए अपने प्रभु से विनति करता है ।"भागवत महापुराण एवं गरूड़ पुराण बार-बार संकल्प करता है कि मुझे इस गर्भ से प्रभु मुक्ति दिलाओ मैं आपका स्मरण करूंगा कभी नहीं भूलूंगा ।" परन्तु जैसे ही वह जन्म लेता है तो उस पर प्रभु की अनुपायिनी माया अपना पाश डाल लेती है और वह क्षुधा पिपासा से रोने लगता है तो हंसते हुये जन्म लेते हैं । तदनन्तर उसमें ममता का विकास होता है । यह ममता भी द्विविध है एक लौकिक और एक अलौकिक । अलौकिक ममता केवल भरत जैसे मुमुक्षुओं में होती है जिनका किसी कारणवश ध्यान भगवान के साथ-साथ कुछ काल के लिए हरिणमय हो गया और देहावसनान्तर उन्हें हरिण का रूप मिला लेकिन स्मृति परिशुद्ध होने एवं वृत्तियों के संस्कारों के दग्ध होने से उन पर माया का प्रभाव नहीं पड़ सका । ऐसे ही शुक देवादि के उदाहरण भी देखे जा सकते हैं ।

जबकि लौकिक ममता का कारण अज्ञान है, अविद्या है । और इसी अविद्या के कारण उस का जन्म जन्मान्तरों के विकास में अधिक से अधिक अवनति होती जाती है जिसका एक स्वरूप आज के लौकिक जगत में भी देखा जा सकता है । यहाँ माता-पिता पाखण्ड रहित सद्कर्म करते हैं वहाँ अच्छी-अच्छी सन्तानोत्पत्ति होती है । दूसरा पक्ष जिन माता-पिताओं के ज्योतिष ज्ञान के अनुसार अच्छे ग्रह होते हैं उनकी सन्तति उनसे भी अच्छी होती है । अर्थात्

उनके सद्कार्य एवं गुणों का सुप्रभाव अपने आत्मजों पर पड़ता है । दूसरी ओर जहां माता-पिता पाप कर्म करते हैं और रुग्ण होते हैं उनके बच्चे आजन्म रोगी होते हैं । माता-पिता में हो सकता है कि रोगोत्पत्ति जन्म के दस वर्ष या किञ्चिद कालान्तर हुई हो परन्तु आत्मजों में गर्भ में ही विकसित हो जाती है । जैसे एड्स । ऐसे ही वृत्तियां भी अपने पूर्व जन्म के साथ ही साथ सम्बन्ध रखती हैं जिन्हें जानकर ऋषि मुनियों ने वेदों के ज्ञान एवं योग शास्त्रों को रचित कर मुक्ति के लिए दुःखमय संसार से छुटकारा दिलाने के लिए ज्ञान प्राप्त करने का उपदेश किया ताकि दुःखी संसार परम सुख को प्राप्त हो सके । उन्हीं में वृत्तियों का उल्लेख भी मिलता है । जिनका उल्लेख महर्षि पतञ्जलि जी ने अपने पातञ्जलयोगदर्शन में निम्न प्रकार से किया है ।

क्लिष्टाऽक्लिष्टा वृत्तियां प्रधानतया "पांच[1] ही मानी गई हैं" - प्रमाण, विपर्यय , विकल्प , निद्रा एवं स्मरण[2] । प्रमाणान्तरगत वृत्तियां ज्ञान ज्ञान प्रदायिनी एवं अक्लिष्टा मानी गई हैं "जिनका ज्ञान प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाण से प्राप्त होता है और यह यथाभूत समाधि की सहायिनी मानी गयी है वे अक्लिष्टा है । जबकि क्लिष्टा अज्ञान प्रदायिनी है । क्योंकि इनके मूल में अहंकार रूपिणी अविद्या का निवास रहता है जो केवल भोगों को ही महत्व देता है न कि भोक्ता को वह यह नहीं जान पाता कि मै भोगों को भोग रहा हूं या भोग मुझे भोग रहे हैं । ऐसी अवस्था को प्राप्त प्राणी को योग

---

1. वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाश्चति ।।-पा०यो०सू० 1/5

2. प्रमाणविपर्यय विकल्पनिद्रास्मृतिः - वही - 1/6

की प्राप्ति ही नहीं हो पाती है और वह आवागमन के चक्र में घूमता रहता है। जिसका कारण विपर्ययादि ही है।

विपर्यय का अर्थ है "मिथ्याज्ञान"[1] किसी वस्तु का अयथार्थ ज्ञान को विपर्यय कहते हैं जिसके अन्तर्गत संशय भी माना जाता है। इसका मुख्य कारण अविद्या आदि पाँचों संस्कार आते हैं "अविद्या अस्मिता राग द्वेष और अभिनिवेश।[2] यही ऐसे कारण हैं जो विद्या के विरोधी हैं।

अविद्या का अर्थ ही अज्ञान है अनात्म को आत्म मानना अनित्य को नित्य एवं अशौच को शौच मानना ही अविद्या है।

द्रष्टा एवं दृश्य नितान्त भिन्न है परन्तु उन्हें एक मानना अस्मिता है। लौकिक भोगों में डूबे रहना लौकिक क्षुधा पिपासा की तृष्णा की शान्ति को ही सुखी मानना सुख है।

दुःख - पुत्रादि की प्राप्ति को सुख मानना परन्तु उनके खो देने को दुःख मानने लगना क्रोधादि की ज्वाला में प्रवेश पाना ही दुःख है।

मृत्यु को नजदीक जानकर डरना या मृत्यु को बुरा मानना अभिनिवेश है यही विपर्यय है जबकि भेदात्मक रूपेण इसकी संख्या पांच न होकर पच्चास है। परन्तु सभी का विपर्यय वृत्ति के इन पांचों के अन्तर्गत समावेश हो जाता है।

ऐसे ही विकल्प विपर्यय का परम मित्र है जो केवल सुन्दर शब्दों को बनाता है परन्तु अर्थ की दृष्टि से शून्य होता है। यह वैसे ही निष्फल होता है जैसे ईख से फल। "विकल्प का अर्थ ही यथार्थ ज्ञान से रहित शब्द ज्ञान जैसे बन्ध्या का

---

1. प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि। - पा० यो० सू० - 1/7
2. विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठितम् ॥ -वही - 1/8

पुत्र, शशशृंग, खपुष्प, इसने एक ऐसा सिंह (शेर) देखा जिसके सिर पर शृंग थे।[1]

"तम के आधिक्य से आलम्बित वृत्ति निद्रा है"[2] इसमें मनुष्य को प्रातः उठने पर लगता है कि मैं सुख से सोया इसे ज्ञान शून्य समय कह सकते हैं। व्यर्थ काल जिसमें मनुष्य की देह और चेतना शक्ति पृथक्-पृथक् हो जाते हैं।

"कामिनी काञ्चनी अनुराग एवं लौकिक भोगों की स्मृति की बुद्धि में प्रधानता का रहना ही स्मृति वृत्ति कहलाती है।"[3]

इन वृत्तियों को क्षीण करके प्रज्ञा को प्रकृष्टतम बनाना ही योग का परम लक्ष्य है। परन्तु ऐसा देखा गया है कि ये वृत्तियां पंच महाभूतों (तत्वों) की तरह ही स्थूल से सूक्ष्म रूप में विद्यमान रहती हैं। जैसे इन्द्रिय ज्ञान के सूक्ष्म रूप को तन्मात्रा कहते हैं, वैसे ही वृत्तियों के सूक्ष्म रूप को संस्कार कहते हैं। 'जैसे इ को यण एवं यण को इ" ये संस्कार तब तक विद्यमान रहते हैं जब तक योगी को असम्प्रज्ञात योग की प्राप्ति नहीं हो जाती। जब तक उसकी अध्यात्म प्रसाद से प्रज्ञा सत्य को नहीं जान लेती और जब तक ध्येय के साथ एकीकरण की प्राप्ति नहीं हो जाती। संस्कारों के विषय में लौकिक उदाहरण स्पष्ट रूप से देख सकते हैं। जैसे एक वृक्ष की जड़ें उसके संस्कार होते हैं सूखने पर जिन्हें सींचने से वृक्ष प्रफुल्लित हरा भरा होने लगता है। जबकि वृक्ष बाहिर से सूखा हुआ अनुभव तो क्या पूर्ण रूप से लग रहा होता है परन्तु कई बार तो क्या बहुत बार

---

1. शब्दज्ञानानुपातित वस्तुशून्यो विकल्पः ।। - पा०यो०सू० 1/9
2. अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ।। - वही - 1/10
3. अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः ।। - वही - 1/11

देखने में आया है कि ऋतु के आते ही उसमें प्राण संचार होने लगते हैं और वह पहले जैसे हरा भरा हो जाता है । ऐसे ही वृत्तियाँ एवं संस्कार हैं जो समय के साथ पुनः पनप उठते हैं । वृत्तियों का सूक्ष्म रूप संस्कार है और संस्कारों की स्थूलता ही वृत्तियाँ है । संस्कार अविछेद्य है । इनका परस्पर सम्बन्ध इन्धन एवं अग्नि का है । जो कि योग के विघ्न रूपिणी है इन्हीं वृत्तियों के वास्तविक रूप को जानकर योगी योग के प्रति अग्रसर होता है ।

वृत्तियों के सारभूत संस्कार सम्प्रज्ञात में निहित रहते हैं और असम्प्रज्ञात योग में जाकर नष्ट हो जाते हैं । सम्प्रज्ञात् अर्धसुषुप्त वृक्ष है और असम्प्रज्ञात पूर्णसुषुप्तक है । आगे इसी से कैवल्य की प्राप्ति होती है । जब असम्प्रज्ञात योगी अनन्त काल तक उसी निरूद्धावस्था में निरत रहता है तो अन्ततः कैवल्य को प्राप्त होता है । अर्थात् कैवल्य को प्राप्त होने के लिए असम्प्रज्ञात का बने रहना ही महत्वपूर्ण है जैसे असम्प्रज्ञात को प्राप्त होने के लिए सम्प्रज्ञात की सत्ता का बने रहना मुख्य माना गया है और इन वृत्तियों के निरोध का उपाय है योगाभ्यास और वैराग्य से तथा दीर्घकाल तक पुनः पुनः इनको अपनाना ।

वृत्ति का सामाजिक महत्व भी बहुत ही महत्वपूर्ण है । वृत्ति का अर्थ है ✦ कर्म। जैसे वृत्तियाँ योग शास्त्र में क्लिष्टा एवं अक्लिष्टा मानी गयी हैं, ऐसे ही समाज में भी द्विविध कर्म प्रधान है, एक सद्कर्म, दूसरा असद्कर्म प्रधान वृत्ति ।

---

1. अभ्यासवैराग्याभ्याम् तन्निरोधः ।। - पा० यो०सू० - 1/12
2. तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ।। - वही - 1/13

हम देख सकते हैं कि जैसे योग में क्लिष्टा वृत्तियों का आधिपत्य रहते हुये वह अन्तत: संस्कार सामग्री रहती हैं। ऐसे ही समाज के अन्तर्गत असद् कार्य करने वालों का बोलबाला है और सद्कार्य करने वाले अल्प संख्या वाले हैं। आज चोरी सीनाजोरी अधिक है, लेकिन गुणवत्ता कम है। क्योंकि असद् कार्य पाप की तरह शीघ्रातिशीघ्र प्रफुल्लित होता है और समाप्त भी शीघ्र ही होता है जैसे जरसी बैल। सद्कार्य नियमानुसार ईश्वरीय धर्म का पालन करते हुये शनैः शनैः बढ़ता है और वह चिरकाल में पकता है और उसकी आयु सीमा भी लम्बी होती है, सुख-दुःख, धूप-छाया को वह सहन करने में भी सामर्थ्य रखता है। उसे न तो अधिक गर्मी ही तड़पा पाती है, न अधिक सर्दी, ऐसे ही जैसे देसी गाय। भाव यही है कि वृत्तियां मनुष्य के कार्य को निश्चित करती है और सामाजिक रूप में उसकी पहचान को बनाती है। जैसे कुछ लोग समाज की सेवा करते हुये योग के आसनों को न कर पाने वाले परम गति प्राप्त करते हैं तो कुछ दानादि से। अन्य असद्कर्त्ता लूटपाट से तम मोह महामोह तामिस्र अन्धतामिस्र रूपी नरकों को प्राप्त होते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि योग शास्त्र में वृत्तियां योगक्षेत्र की वस्तु है और लोक शास्त्र में मनुष्य के कर्म क्षेत्र की पहचान है। अत: इनकी समाज में महत्वपूर्णता को अनदेखा नहीं किया जा सकता और इसी प्रकार की योग शिक्षा का प्रचलन समाज के हितकारी रूप से प्रसारित होना ही लाभदायक हो सकता है।

क्लेश

जैसा कि हम देखते हैं कि प्रत्येक क्षेत्र के अन्तर्गत तीन उदाहरण सही बैठते हैं जैसे प्रकृति के तीन गुण (सत्व, रज एवं तम) तीन तरह के देश विकसित विकासशील एवं अविकासशील (अमीर, मध्यम एवं निर्धन) ऐसे तीन प्रकार के उनमें लोगों की भी कल्पना की जा सकती है। ठीक ऐसे ही किसी भी धर्म के अन्तर्गत भी तीन श्रेणियों में विभाजित धर्मी रहते हैं। कुछ भौतिकवादी हैं। कुछ भौतिकता के साथ - साथ अध्यात्मवादी है और कुछ केवल अध्यात्मवादी हैं।

इनमें अध्यात्मवादियों के लिए योग एक आसान क्रिया एवं दर्शन है, जबकि मध्यम मार्गियों के लिए तो एक आकर्षण का केन्द्र है, परन्तु संशयात्मक है, जिनमें क्लेशों को तनू शिथिल करने के लिए "क्रिया योग"[1] का आश्रय लेने को कहा है। उसे ऊपर उठने के लिए अपने भौतिक सुखों का त्याग करना पड़ता है, जो कि उसके लिए कठिन हो जाते हैं इन्हें योग में क्लेशों की संज्ञा दी गई है। योग इन अध्यात्मवादियों, सत्वगुण सम्पन्न योगियों का तो अनादि गुरू ही है, परन्तु मध्यमार्गियों के लिए एक श्रेष्ठ साधन अर्थात् गुरू बनकर उभरता है और वह वास्तविक सत्य को पहचानने में सहायता प्रदान करता है। परन्तु जब भौतिक वादियों की बात आती है, तब वे इससे मुख मोड़ने लगते हैं। भौतिकवाद प्रमाद आलस्य एवं अविरति को लोलुप है। ये तीनों ही मिलकर उसे व्यसनी बना देते हैं और योग धर्म के परम शत्रु है, क्योंकि संशय पर नियन्त्रण पाया जा सकता है परन्तु प्रमाद आलस्य और अविरति पर नियन्त्रण कर पाना अधिक

---

1. तप: स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोग: ।। - 2/1

कठिन है परन्तु असम्भव नहीं है । लेकिन यह बात वैसे ही प्रत्युत्तर रूपेण समक्ष आती है, जैसे किसी से हठपूर्वक {बलात्} कार्य करवाना । अतः वास्तविक रूपेण क्लेशों का यथार्थ रूपेण निवास वही भौतिकता है, जो सर्वत्र राग द्वेष से संलिप्त और कर्म तथा देह को प्रधान मानती है और मृत्यु से डरती है । इन्हीं को क्लेश कहते हैं । तथा क्लेशों की गणना महर्षि पतञ्जली जी के पातञ्जलयोगसूत्र में पांच हैं -

"अविद्यास्मिता सुखं दुःखाभिनिवेश ।"[1]

अविद्या की यहां तक व्यवस्था है, " वह वास्तव में विद्या की विरोधिनी परम शत्रु है और अज्ञानान्धकारिणी जड़ात्मिका है । जिसका अन्य नाम विपर्यय मिथ्याज्ञान है । यह छल कपट अभिमानात्मिका है । यही उत्तरोत्तर क्रमेश अवशिष्ट अस्मितादि चारों प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न एवं उदार क्लेशों की उत्पादिका जननी है ।[2] परन्तु यदि उनमें भी गहनता से चिन्तन करके देखें तो पता चलता है कि केवल नाम का परिवर्तन है वास्तव में अविद्या ही है ।

अविद्या का अर्थ अनात्म देह एवं मन को आत्मा मानना अनित्य में नित्य को देखना, अशौच में शौच का ज्ञान करना , देह को शाश्वत समझना तथा मल मूत्र से व्याप्त देह को शुद्ध जानने में पारदर्शिता दिखाने के लिए सुन्दर सुन्दर उदाहरण देना नैमित्तिक यज्ञ योगों में नित्यत्व की प्राप्ति की इच्छा रखना इत्यादि ।[3] अस्मितादि के सदृश ही अविद्या के रूपान्तर चार भेद हैं -प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न एवं उदार ।

---

1. अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः ।। - 2/2
2. अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनु विच्छिन्नोदाराणाम् ।। - 2/4
3. अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचि सुखात्मख्यातिरविद्या ।। -2/5

प्रसुप्त का भाव है = बीज या शक्ति रूप में स्थिति । प्रसुप्त क्लेश आलम्बन पाने पर पुनः उत्थित = उदय होते हैं जैसे - संस्कार ।

तनु = शिथिल = क्रिया योग से प्रक्षीण (नष्ट) हुये क्लेश । जिन को नष्ट कर केवल चरम रूप देह की ही सत्ता रहती है और योगी केवली होता है ।

विच्छिन्न = रागात्मक है यह दोनों प्रसुप्त एवं तनु से भिन्न है यही भवचक्र के कारक हैं एवं विच्छिन्न में तनु क्लेशों का मूलतः सूक्ष्म रूप विद्यमान रहता है । जैसे वृत्तियों के मूल में संस्कार रहते हैं । जैसे एक व्यक्ति का मन कुछ काल के लिए एक वस्तु में रम जाता है और दूसरी से हटता भी नहीं है केवल कुछ काल के लिए ऐसा हो जाता है कि वह अन्य को भूल सा जाता है लेकिन वास्तव में उसे भूलता नहीं है ।

उदार = व्यापार युक्त है इसका कारण राग है जब कोई अनुरागी का रागात्मक स्त्री से वियोग हो जाता है या कोई छीन लेता है तब वह क्रोधी हो जाता है और तमोभूत होता है जैसे क्रोध से द्वेष उदार है और राग विच्छिन्न है ।[1] संस्कार वियोगात्मक तथा वैराग्य से दमित राग को तनु कहा जाता है । संस्कार अवस्था प्रसुप्ति है । ज्ञायमान धर्म से हीन जो संस्कार वर्तमान में फलवान् न होकर भविष्य में होंगे, वे प्रसुप्त हैं । क्लेशावस्था का अर्थ है " एक क्लिष्ट वृत्ति । "अस्मिता का भाव है बुद्धि (द्रष्टा) आत्मा (दृश्य) को एक जान लेना । अभिन्न समझना ही अस्मिता है ।"

---

1. दृग्दर्शनयोरेकात्मतेवास्मिता ।। - 2/6

अस्मिता से युक्त बुद्धि को ही आत्मा समझ लेता है । अस्मिता अविद्या का ही अणु रूप है ।

सुख = सुख का अर्थ है लौकिक राग । सुन्दर - सुन्दर लुभायमान भोगों की ख्याति रूप । राग रूपा कुयें में गिरे रहना । सुख साधनों में जो गर्द्ध (स्पृहा) तृष्णा या लोभ होता है वही राग है ।[1] इसी से सम्मिलित संकीर्णात्मक रूपेण अवस्थित है - द्वेष । द्वेष ही दुःख है और दुःख ही द्वेष है ।[2]

पुत्र पत्नी की मृत्यु रूपी दुःख की स्मृति या अपनी प्रिय वस्तु के वियोग की स्मृति का त्याग नहीं कर पाता है । अर्थात् अनित्य वस्तु के वियोग से जो कि एक लोभ से उत्पन्न होती है उसका जब वियोग होता है तो लौकिक संसारी को दुःख होता है । वह संसारी रोता चिल्लाता हुआ कहने लगता है कि मेरा तो सर्वस्व लूट गया परमात्मा ने मेरे साथ धोखा किया मैंने परमात्मा तेरा क्या बिगाड़ा था अर्थात् वह परमात्मा से भी द्वेष करने लगता है । "सुख दुःख एक दूसरे के उत्पादक हैं जैसे लोभ से क्रोध, क्रोध से संमोह एवं सम्मोह जीवन का नाशक है ।"[3]

अभिनिवेश - सत्य धर्म रूपी मृत्यु से डरना घबराना एवं मृत्यु को समीप जानकर बेचैन सा होना और बचने के लौकिक उपायों को ढूंढना " ।[4]

---

1. सुखानुशायी रागः ।। - 2/7
2. दुःखानुशयी द्वेषः ।। - 2/8
3. क्रोधाद् भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
   स्मृति भ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।। - गी0 2/63
4. स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ।। 2/9

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

जन्म ही ... मृत्यु का कारण है और मृत्यु जन्म का"।[1] तदनन्तर ... मृत्यु को सत्य न मान कर प्राणाभ्यास न कर पाना ही अभिनिवेश है। ऐसे साधारणतः बड़े - बड़े विद्वानों के चित्त में भय समाहित रहता है। इन्हीं बातों को कहा गया है अर्थात् "जो स्वजात प्राणों के साथ ही साथ अविद्वानों के सदृश विद्वानों में भी प्रारब्ध है वह ही अभिनिवेश है।"[2] इस प्रकार से यह योग के अन्तराय में रहते हुये हमेशा योग में विघ्न कारी बनते हैं उन्हीं को समाप्त करने के लिए क्रियायोग को पातंजल योग दर्शन ने यथा प्रदर्शित किया है।

योग के विघ्न — रोग और उपचार !

योग के विषय में ऐसा कि माना जाता रहा है कि योग वही कर सकता है जो हृष्ट पुष्ट होता है। जो हृष्ट पुष्ट नहीं था योग का अधिकारी नहीं। परन्तु गहन अध्ययन एवं चिन्तन से पता चलता है कि सम्यक् योग से शारीरिक बल एवं पुष्टि को प्राप्त किया जा सकता है। इसी कारण ऐसा कहा जा सकता है कि योग में शारीरिक पुष्टि की अत्यधिक आवश्यकता नहीं है और न ही यह योग में अर्थात् समाधि के अयोग्य ही है। यदि कोई समाधि में विघ्नों का कारण है तो वह मानस बल है। योग विशेष रूप से मानस बल पर ही आश्रित है और विघ्नों का कारण भी मानस ही है। यदि मुमुक्षु का मानस बल प्रबल एवं अभ्यासी है और श्रद्धा एवं विश्वास से परिपूर्ण है तो छोटी मोटी शारीरिक दुर्बलता पर विजय पाकर विघ्नों से बचा जा सकता है

---

1. जातस्य ध्रुवो मृत्युः मृत्यु ध्रुवं जन्म मृतस्य च ॥
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ - गी0 2/27

2. तम मोह महामोहतामिस्रान्धतामिस्राः इति, ऐते चित्तमलप्रसङ्गेनाभिधास्यन्ते
पा0यो0सू0 1/8
तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः । - वही - 2/1

और विघ्नों का नाश किया जा सकता, विघ्नों पर विजय प्राप्त की जा सकती है परन्तु यदि मन श्रद्धा और विश्वास से हीन है और आलस्य युक्त है, प्रमादि है, संशयात्मक है, तब ऐसी स्थिति में शरीर चाहे हृष्ट-पुष्ट क्यों न हो योग प्राप्त करना कठिन ही नहीं असम्भव हो जाता है। अतः विघ्नों के नाशार्थ मन को बलवान बनाना चाहिये जिसमें एक स्थिर एवं संकल्प भय भावना को पैदा करना होता है, कि चाहे मुझे समाधि की प्राप्ति हो या न हो पर मुझे इसी रास्ते पर नित्य नियमित रूप से चलते ही रहना है अन्ततः विजयी अवश्य मिलेगी जैसा कि हितोपदेश में लिखा है कि - "कार्यों पर विजय उद्यम से ही प्राप्त की जा सकती स्वयं कुछ भी नहीं मिलता" अतः मन पर विजय पाने के लिए दृढ़ संकल्प की अत्यधिक आवश्यकता होती है जिससे विघ्नों से निकला जा सकता है जिन्हें महर्षि पतञ्जलि ने योग देव में शत्रु माना है। इनकी संख्या अविशेष रूप से 9 (नव) माना है। 1. व्याधि, 2. स्त्यान 3. संशय, 4. प्रमाद 5. आलस्य 6. अविरति, 7. भ्रान्ति दर्शन, 8. अलब्ध भूमिकता और 9. अनवस्थितता। ये नव संख्यक अन्तराय हैं जो चित्त वृत्तियों के साथ उत्पन्न होते हैं और इनके अभाव में चित्त वृत्तियाँ उत्पन्न नहीं होती हैं अर्थात् समाधि के मार्ग को बदल कर दुःख में ले जाने वाले अर्थात् पुनः-पुनः भवचक्रों में डालने वाले होते हैं। यदि इन पर मनुष्य विजय प्राप्त नहीं कर पाता है तब तक वह समाधि भाव प्राप्त नहीं कर सकता है।

---

1. उद्यमेन हि सिध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः।
न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ।।
2. व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वान - वस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ।। -पा०यो०द० - 1/30

व्याधि [illegible] – [illegible] कफादि विकारों की विषमता ।

स्त्यान – [illegible] पैदा [illegible] योग को व्यर्थ अर्थहीन समझकर [illegible] करना, [illegible] छोड़ देना ।

संशय – योग [illegible] अनात्मता जैसे भावों का पैदा होना अर्थात् [illegible] रहे [illegible] किनारे न लगना तथा योगाभ्यास के लिए [illegible] करना और कभी-कभी बीच में त्याग देना ।

प्रमाद – समाधि के साधन समूह की भावना न करना ।

आलस्य – आज नहीं कल करेंगे जैसी भावना में रहना (कहना छोड़ो कल करेंगे) अर्थात् शरीर एवं चित्त की गुरुताजन्य प्रवृत्ति ।

अविरति – विषय भोगों की तृष्णा [illegible] रहना तथा भोगतृष्णा जैसी भावनाओं के [illegible] में डूबे रहना ।

भ्रान्ति दर्शन – विपरीत ज्ञान [illegible] रहना और कुछ सीमित समाधिभूत सिद्धियों एवं [illegible] के प्राप्त कर लेने मात्र से ही अपने को समाधि लाभ समझना ।

अलब्धभूमिकत्व – समाधि का लाभ न हो पाना । इसमें मुख्य कारण मन से योगाभ्यास न करना ही रहा है ।

अनवस्थितत्व – समाधि प्राप्त होने पर भी उसमें प्रतिष्ठित नहीं रहना और प्राप्त होते - होते [illegible] जाना है ।

इन्हीं के साथ-साथ दुःखादि चार अन्तराय इनके अतिरिक्त इनसे सम्बन्धित और भी है जिन्हें विक्षेप कहते हैं । - दुःख, दौर्मनस्यता, अंगमेजयत्व एवं श्वास-प्रश्वास ।

<u>दुःख</u> – दुःख आध्यात्मिक, आधिभौतिक एवं आधिदैविक से उनसे उद्विग्न होकर मुक्ति का प्रयत्न करना । [illegible] सोचना पर अभ्यास न हो पाना ।

<u>दौर्मनस्य</u> – इच्छा की पूर्ति न होने के कारण चित्त का क्षोभ होना ।

<u>अंग मेजयत्व</u> – आसन करने से बहुत देर तक होना कांपने लगना और समाधिभूत आसनों में [illegible] हो जाता है । इसमें योगी मन एवं शरीर को [illegible] नहीं रख पाता । बार – बार उठना बैठना एवं घबराहट अनुभव करना बैचेनी की अनुभूति का होना इसके लक्षण देखे गये हैं ।

<u>श्वास-प्रश्वास</u> – समाधि के लिए बैठने के समय को भांप कर अचानक सांस की प्रक्रिया का [illegible] हो जाना । जैसे आज भी सर्व साधारण समाज में प्राणियों में देखा जा सकता है कि जब प्रातः ईश्वर स्मरण एवं पूजा का समय होता है, तब वे मन चुराने लगते हैं, यदा कदा नियम बद्ध होने के कारण स्वरूप सन्ध्यादि करते हैं या करने के [illegible] देता है, पूजा से पहले कहने वाले की पूजा कर डालते हैं । जिससे अनुमान लगाया जा सकता है कि वह नित्य अभ्यासी न होकर [illegible] करने जा रहे हैं । इसी का नाम है समाधि के लिए यथा तथा तैयार करने में शारीरिक एवं मानसिक आदि जैसी कठिनाईओं का सामना करना होता है और जब तक प्राणी इन पर विजय प्राप्त नहीं कर लेता है, तब तक समाधि प्राप्ति के लिए सोचना भी निरर्थक है । यही नवअन्तराय एवं चार विक्षेपों सहित त्रयोदश विघ्न हैं । इनके प्रतिषेध करने का एक मात्र मार्ग नित्य योगाभ्यास है । जैसे महर्षि पतंजलि ने स्वयं भी कहा है कि अन्तराय या विक्षेपों से निकलने के लिए प्रातः नियमपूर्वक एकतत्त्व का अभ्यास करना चाहिये । अर्थात् एक इष्ट अपना कर अभ्यास करना है[2] । जैसे गुरु या[1] परमात्मा[3] या निज आत्मा को प्रथम मान कर अभ्यास करते रहना है मात्र योगाभ्यास है ।

---

1. दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ।। – यो०सू०–1/31
2. तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ।। – वही – 1/32

[illegible] मों के विषय में पुराणों से ज्ञानप्राप्त होता है । जैसे – लिंग पुराण में [illegible] के विषय में स्पष्ट किया गया है कि ये विघ्न [illegible] नाशकों को योगाभ्यास करने से [illegible] लिंग पुराण में क्रमशः कहा गया है कि प्रथम आलस्य [illegible], [illegible], प्रमाद संशय अनवास्थता , अश्रद्धा भ्रान्तिदर्शन त्रिविध दुःख दौर्मनस्य [illegible] और [illegible] आलस्य एवं विषयासक्ति शरीर के भारीपन से [illegible] चित्त की दुर्बलता से उत्पन्न होते हैं । अतः मनन शील योगाभ्यासियों को नित्य एकतत्व का अभ्यास एवं ईश्वर प्रणिधान से इन्हें मूल से उखाड़ फैंकना चाहिये तभी योग लाभ हो सकता है ।

शिव पुराण में बताये गये यह विघ्न भी लिंग पुराण से [illegible] समान मिलते जुलते हैं । इनकी संख्या 10 कही है । आलस्य व्याधि प्रमाद, संशय अनवस्थित चित्त में अश्रद्धा भ्रान्ति दर्शन दुःख , दौर्मनस्यता, विषयोलोलता (अविरति) ये दश अन्तराय हैं ।

1. आलस्यं प्रथमं पश्चाद्व्याधिपीडा प्रजायते ।
प्रमादः संशयस्थाने चित्तस्येहानवस्थितिः ॥ 1 ॥
अश्रद्धा दर्शनं भ्रान्तिर्दुःखं च त्रिविधं ततः ।
दौर्मनस्यमयोग्येषु विषयेषु च योगता ॥ 2 ॥
दशधाभिप्रजायन्ते मुनेर्योगान्तरायकाः ।
आलस्यं च प्रवृत्तिश्च गुरुत्वात्कायचित्तयोः ॥ 3 ॥
–योग मार्ग के विघ्न – लिङ्ग पुराण योग में विघ्न, पृ0 – 88

2. आलस्यं व्याधयस्तीव्राः प्रमादः स्थानसंशयः ।
अनवस्थितचित्तत्वमश्रद्धा भ्रान्तिदर्शनम् ॥
दुःखानि दौर्मनस्यं च विषयेषु च लोलता ।
दशैते युंजतां पुंसामन्तरायाः प्रकीर्तिताः ॥–शि0पु0वा0
– [illegible] – 38, श्लो0 – 1–2

ज्योतिषीय सम्बन्ध

इन्होंने किसानों कुछ समाजजन्य स्वानुभव भी है और कुछ ज्योतिष ज्ञान से भी प्राप्त किया है जो शास्त्रों से न होकर स्वयं सिद्ध एवं प्राप्त हुआ है ।
जैसे कि –

व्याधि – व्याधि का कारणभूत है मनुष्य को स्वयं की सात्म्य प्रकृति का ज्ञान न होना कि मैं कफ प्रधान हूं , पित्त प्रधान हूं या वात प्रधान हूं या श्लेष्म वाला हूं । जिसके कारण स्वरूप विरुद्ध सात्म्य प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाली वस्तुओं के सेवन से ही व्याधियां उत्पन्न होती है । इनमें ग्रहों का भी मुख्य सम्बन्ध है जो कि हमारे समाज का प्रधान अंग माने जाते हैं उनसे भी रहा है । जैसे शुभ बृहस्पति पित्त नाशक एवं अशुभ पित्त का रक होता है । यही आज गैस का कारण है । शनि वात शामक एवं उत्पादक है जिससे शरीर में जकड़न होती है अंग सो जाते है जिसे डोगरी में री बाईं की पीड़ा भी कहते हैं ।

शुक्र – कफ नाशक है और कफ वर्द्धक भी है । कारण धातु का अधिक क्षय होने से शरीर में कफाधिक हो जाता है जिससे टी0बी0 हो जाती है ।

बुध – श्लेष्म उत्पन्न भी करता है और शान्त भी करता है इस को स्वयं ज्योति ज्योतिष सम्बन्धीपुस्तक में स्वयं दिखाया गया है ।

सत्यान – बिना कर्म के भौतिक साधनों की सम्पन्नता मनुष्य को इस ओर निर्दिष्ट कर देती है और मनुष्य कहता है कि राम नाम या पूजा पाठ से देखो उसे क्या मिला और हमने तो कभी नाम भी नहीं लिया यहां सब कुछ है । अन्यत्र इसके विरुद्ध मन्द बुद्धि योगाभ्यासी जब अपने समक्ष अपने से निर्धन को

[illegible]

कभी अपने से ज्यादा धनी हुआ देखता है , तब उसमें उपरिलिखित भाव पैदा होते हैं परन्तु दोनों भूल रहे हैं उस रहस्य को जिसने निर्धन को धनी बनाया और स्वयं को नीचे रखा इसका पता योगाभ्यास से चलता है या शास्त्रों से जिनमें लिखा गया है कि मनुष्य को पूर्वजन्मों का फल अवश्य मिलता है । इसका ज्योतिष पक्ष ग्रहों की विरूद्ध स्थिति है ।

गुरू आदि उच्च ग्रहों का भी नेष्ट फल मिलना

संशय – ईश्वर किसने देखा छोड़ो भाई यह काम ज्ञानियों का है दुनिया को गलत कार्यों का अशुभ फल न मिलने से निरीश्वर बनना शुरू हो जाना कारण गुरू ग्रह है यदि शुभ है तो प्रभु की सत्ता पर पूर्ण आस्था यदि अशुभ है तब कभी बहुत आस्था और कभी अवज्ञा जैसे भाव अनास्था स्वयं उत्पन्न होती है ।

प्रमाद – प्रमाद का कारण पाप पुण्य की ओर ध्यान न देना और अशुद्ध भोजन का सेवन करते हुये शरीर का अनावश्यक एवं अप्राकृतिक रूपेण वृद्धि को प्राप्त होना होता है । इसमें ज्योतिषान्तर्गत राक्षस गण एवं शुभ ग्रह और देव गण और बृहस्पति आदि ग्रहों का अशुभ हो जाना जोता है । तथा जगत में संगति भी रंग लाती है ।

आलस्य – जब तक कोई कार्य न हो तब तक पूजा पाठ दिन रात एक करके करना और लौकिक कार्य होने पर मन चुरा लेना है । शय्यासन से उठने की कोशिश करना परन्तु जागृत होने के पश्चात् भी उठकर खड़े नहीं हो सकना होता है । ग्रह ज्ञान की दृष्टि में शनि के नेष्ट होने से ही ऐसा होता है । कभी टांग सो रही है, कभी सिर भारी हो रहा है, कभी पीठ दर्द होती है और कभी समाधि में बैठे-बैठे अचानक निद्रा आने लगती है । कारण शनि ।

अविरति – विषय भोगों की स्मृति का यथा वत बने रहना और निद्रा में भी वैसे ही स्वप्न लेना होता है । कारण बृहस्पति ग्रह की दुर्बलता होती है । विषय भोगों को भोग – भोग कर मन कभी प्रसन्न ही नहीं होता ।

भ्रान्तिदर्शन – भगवान की सत्ता में भी भ्रान्त भावना रखने वाले अहन्ताच्छादित तथा तान्त्रिक इत्यादि लोग इस में आते हैं । ग्रह की दृष्टि से नीच ग्रहों का होने जिससे नीच विद्या सीखते हैं और तान्त्रिक बनकर अपने को गुरू के रूप प्रकटित करने लगते हैं ।

अलब्धभूमिकता – जब उपार तथ्यों में एक भी जब तक विद्यमान रहेगा तब तक समाधि की स्थिति बन ही नहीं सकती । ज्योतिषानुसार ग्रहों की दुर्बलता ।

अनवस्थितता – समाधि का न बने रहना । इसमें जगत में देखने से पता चलता है कि कुछ लोग अभिचार कर्म कृत्यों से अन्य समाज को हानि पहुंचाते जिनमें उनका लक्ष्य एक कमजोर और अविचलित योगी भी होता है तथा उनकी साधना में विघ्न बनते हैं । विशेषकर जिनके साथ ऐसी घटनायें घटित होती हैं ऐसे लोग नर गण वाले होते हैं और ग्रह भी दुर्बल होते हैं फिर भी वह उद्यम रत रह कर आगे बढ़ने का प्रयास तो करते हैं परन्तु ग्रहों की दुर्बलता के कारण अभिचार कर्म की लपेट में आ ही जाते हैं और समाधि बीच में ही छूट जाती है । दूसरा देवता भी अप्रत्यक्षरूपेण विघ्न डालते हैं ।

दुःख – त्रिविध आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक तो होते ही है, परन्तु जगत् के अन्दर कुछ लोग भगवान की अनदेखी करके केवल परिश्रम को महत्व देने लगते हैं और जब उन्हें सफलता हाथ नहीं लगती तब वह उद्वेलित हो उठते हैं, मायूस होने लगते हैं और तब भगवान का ध्यान करने लगते हैं, तब ध्यान

हो पाना कठिन हो जाता है क्योंकि उनका ध्यान असफलता में ही डूबा रहता है । कारण शनि आदि की दृष्टि साढेसाति एवं जन्म समय दुर्बल ग्रहों की प्राप्ति तथा गोचर में तत्काल की निर्बल ग्रह स्थिति । ऐसी अवस्था में तब समाज भी विरूद्ध हो जाता है यदि ग्रह अच्छे हैं तब समाज भी पीछे - पीछे अनुसरण करता है और बिन मांगे सहायता करता है , परन्तु अच्छे ग्रहों में जन्म न हो तब सब कुछ विरूद्ध हो जाता है चाहे वो कितने भी समृद्धशाली घर में उत्पन्न क्यों न हो । इनके दोषों के यथार्थ ही योग साधना करनी चाहिये एवं ईश्वर प्रणिधान से इन दोषों का शनैः-शनैः अभाव भी हो जाता है ।

दौर्मनस्यता - समाज के अन्दर रहते हुये कई बार देखने में आया है कि जब मनुष्यों की कुछ स्वार्थहितरत साधकों की इच्छाओं की पूर्ति तत्काल नहीं हो पाती है तब वह इस नित्य कृत्य से मुंह मोड़ने लगते हैं ।

अंग मेजयत्व

अंग में जयत्व का कारण मानसिक दुर्बलता है मन चुराना है । जिसमें मुख्य भूमिका चन्द्रमा की है । चन्द्रमा जन्म कुण्डली में जब 4-8-12वें स्थानों में होगा तब मन द्विविध वृत्ति वाला बना रहेगा जिसे आंगल भाषा में "डबूल माईण्डर " भी कहते हैं ।

श्वास प्रश्वास

मनुष्य की उस अवस्था का दोष है जब किसी गृह का वृद्ध या ज्ञानी साधना के लिए आत्मजों या अन्यों को इस ओर मुड़ने के लिए विवश करता है तब वह विवश होकर लम्बी - लम्बी सांसें लेते हैं और यथा - तथा बैठते हैं परन्तु उन्हें 10 मिन्ट का समय एक-एक घण्टे जितना लगने लगता है, शरीर भारी महसूस होने लगता है जिसका कारण मनुष्य के पाप होते हैं , कुकर्म होते

हैं एवं मानसिक दुर्बलता होती है । जबकि ऐसा करने से उनके पापों का नाश हो सकता है और साहस की प्राप्ति भी जल्दी होने लगती है इसकी प्राप्ति के लिए मनुष्य को अपने - आप को साधनास्थल में जोड़ना अवश्य हो जाता है ।

विघ्न एवं विक्षेपों का पारस्परिक सम्बन्ध

व्याधि-स्त्यान-संशय-प्रमाद-आलस्या विरति - भ्रान्ति दर्शनालब्ध - भूमिकत्वानवस्थिता नौ अन्तराय एवं दुःख दौर्मनस्यम् अंगमेजयत्व श्वासप्रश्वास ये चारों विक्षेपों के सहचारियों का परस्पर उत्तरोत्तर क्रम से घनिष्ट सम्बन्ध है क्रमशः अध्ययन एवं अनुभव करने पर पता चलता है कि इन सबका मुख्य कारण विपरीत क्रम में श्वास प्रश्वास ही है । ऐसा इसलिए कि जो मनुष्य या योगी अपने श्वास पर विजय प्राप्त नहीं कर सकता है, उसे कभी भी समाधि प्राप्त नहीं हो सकती और वह संसारी बनकर रह जायेगा । संसारी का अर्थ दुःख पाश में जकड़ा जायेगा, जिसमें क्रमशः उत्तरोत्तर क्रमेण, अंगमेजत्व, दौर्मनस्यता, दुःख, अनवस्थितता, अलब्धभूमिकता - भ्रान्तिदर्शन - अविरति - आलस्य- प्रमाद- संशय सत्यान एवं अन्ततः व्याधि उत्पन्न होगी । जिन्हें हम पूर्व जन्म कारण भी मानते हैं और यदि हम सीधे भी चले तो तब श्वास प्रश्वास तक इनकी उत्पत्ति देख कर अनुमान लगा सकते हैं । जैसे -

व्याधियां उत्पन्न इसलिए हुआ करती हैं कि मनुष्य अपने शरीर को हिला कर राजी नहीं अर्थात् व्यायाम करना नहीं चाहता । अर्थात् उसमें सत्यान = अकर्मण्यता है अकर्मण्यता ही संशय का कारण है और संशय ही अकर्मण्यता का कारण है जो एक वस्तु स्थिति पर विश्वास उत्पन्न नहीं होने देता । संशय ही जड़ है प्रमाद की, जब मनुष्य को बिना प्रयत्न के परिश्रम से मिलता है, त[illegible]

वह प्रमादि हो जाता है । और प्रमाद ही संशय का मूल कारण है । ऐसा इसलिए कि मनुष्य ईश्वर की सत्ता की ओर ध्यान ही नहीं देता, क्योंकि उसे बिना पुरुषार्थ अर्थात् परिश्रम के सब कुछ मिल रहा है । प्रमाद का कारण है, आलस्य का, जिसमें मनुष्य कल पर काम छोड़ने लगते हैं, तब घर के अन्य सदस्य अपने साथ-साथ उसका भी कर देते हैं, तब मनुष्य और अधिक आलसी हो जाता है । तदनन्तर वह जब किसी की बिन माँगे सहायता से सम्पन्न हो जाता है, तब प्रमाद स्वतः उत्पन्न होना स्वाभाविक है ।

आलस्य = शनैः शनैः अविरति का कारण बनता है और अविरति आलस्य का । अविरति आलस्य का कारण इसलिए बनती है कि उसमें विषय भोगों की अधिकता रहती है और आलस्य की उत्पत्ति होती है ऐसा इसलिए कि मनुष्य सामान्य से अधिक जब विषय वासनाओं का आदी (आसक्त) बन जाता है, तब शरीर दुर्बल एवं कुरूप हो जाता है, जब शरीर से सामान्य से अधिक ऊर्जा निःसृत होगी, तब स्वास्थ्य यथावत नहीं रहेगा और आलस्य की उत्पत्ति होगी । आलस्य मनुष्य की दुर्बलता है । जिससे केवल अविरति ही उत्पन्न होगी ।

अविरति भ्रान्ति का कारण बनती है । ऐसी स्थिति मे मनुष्य भोगों को भोगना ही आनन्द मानने लगता है, दूसरा यह कि उसकी बुद्धि कमजोर पड़ जाती है और उसे केवल भोग ही दिखाई देने लगते हैं । जैसे एक सामान्य मनुष्य में जब व्यसन अतिशयात्म घर बना लेते हैं, तब हम देखते हैं कि वह बार बार उसी ओर भागता है, जबकि उसे पकड़ कर जकड़ कर भी बाँधते हैं । उससे अच्छे कार्य करने का संकल्प लेते हैं, तदनन्तर मणि जब उस प्राणी का नशा टूटता है, तब उसे संकल्प भूल जाते हैं और वह बार-बार वासनाओं की ओर भागने लगता है या चिल्लाने लगता है यही कारण है आलस्य का एवं अविरति

का, तथा अविरति से भ्रान्ति के उत्पन्न होने का भी आपसी कारण है। भ्रान्ति ही आगे बढ़ती हुई अलब्ध भूमिकता का कारण बनती है। जहाँ विषयों के संयोग का अंश रहेगा वहाँ भ्रान्ति रहेगी और यहाँ भ्रान्ति रहेगी, वहाँ योग भूमि का मिलना असम्भव बना रहेगा, इसमें भी मनुष्य की विचारधारा भ्रान्तिमय द्वैतात्मक बनी रहती है और यहाँ द्विविध भाव रहता है वहाँ योगोपलब्धि का सोचना भी असम्भव है, क्योंकि मनुष्य सांसारिक सुखों को ज्यादा महत्व देता है। एक दूसरे को देखता हुआ ज्यादा आकर्षित होता है और ऐसी स्थिति में वह यदि प्रयास करता भी है तो उसे उसके पूर्व के सांसारिक भोग याद आते हैं जिन्हें अनुभूत विषय असम्प्रमोषा स्मृति भी कहते हैं जिनके कारण वह अलब्ध भूमिकता का शिकार हो जाता है। "अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः"
—पा०योग सू०

अलब्ध भूमि ही कारण बनता है अनवस्थितता की जब भूमि पर अपना अधिकार ही नहीं रहेगा अर्थात् मन पर नियन्त्रण ही नहीं रहेगा तो इन्द्रियां स्वच्छन्द विचरेंगी कहीं उल्टे सीधे शब्द बोलेगी तो किसी की वस्तु चुरायेगी किसी को ठोकरें मारेंगी। जिसके कारण उसे उसकी स्थिति अधिकार पर नहीं बन पाती है। अर्थात् अनवस्थित दोष उत्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त अनवस्थितता ही कारण है अलब्ध भूमिकता का ऐसा इसलिए कि जब मनुष्य की स्थिति अर्थात् एक जगह स्थिरता नहीं होगी तब ऐसी स्थिति में उसे कुछ मिल पाये अनुमान लगाना ही असंभव हो जाता है।

अनवस्थितता ही दुःख का कारण बनती है जब कभी मनुष्य अपने आप को अस्थिर समझने लगता है जब उसे अन्यों को देख देख करके दुःख होता है । और दुःख का कारण अनवास्थिता बनती है ऐसे ही दुःख भी अनवस्थितता का कारण बनता है जब कभी उसकी इच्छा पूरी नहीं होती है तो वह उस काम को ही छोड़ जाता है वह भूल जाता है कि मनुष्य यहां से आया है वहीं जाता है और फिर वहीं से पुनः जन्म लेकर आता है ।

दुःख कारण है दौर्मनस्यता का और दौर्मनस्यता कारण है दुःख का लोभ एवं मोह के कारण दुःख उत्पन्न होता है लोभ लालच जब पूरा नहीं होता है तब मोह की उत्पत्ति होती है और मोह ही लोभ लालच कारण बनता है । अतः दोनों का सम्बन्ध घनिष्ठ है । मोहग्रस्त मनुष्य में क्रोध की ज्वाला भड़क उठती है । शरीर कांपने लगता है तब अंग में जयत्व की उत्पत्ति दिखाई देती है अंग मे जयत्व भी मोह का कारण बनता है जब वह अपने आप पर अपने क्रोध पर नियन्त्रण नहीं रख पाता है जब मोह की उत्पत्ति होती है और मोह से स्मृति भ्रष्ट हो जाती है जो आगे दुःख का कारण बनती है । तथा अंग में जयत्व श्वास और प्रश्वास का कारण बनता है और श्वास प्रश्वास अंगमेजयत्व का कारण बनते हैं जैसे अंगमेजत्व से क्रोध उत्पन्न होता है और मनुष्य थर-थर कांपने लगता है तदनन्तर उसकी श्वास की ग्रहण एवं प्रश्वास छोड़ने की गति अतितीव्र हो जाती है जिसे श्वास प्रश्वास की संज्ञा दी जाती है इसी प्रकार से श्वास प्रश्वास ही इन सब विघ्नों के कारण हैं । यदि मनुष्य अपने प्राणवायु पर नियन्त्रण कर लेता है तो उसे कभी समस्याओं का सामना नहीं करना पड़ता , और यदि वह श्वास पर विजय पाने में असमर्थ रहता है तब वह अंग मे जयत्व से लेकर आधि व्याधि

पर्यन्त दुःखों का शिकार बनता है । इसलिए ही योग में प्राणायाम को
अत्यधिक महत्वपूर्ण माना गया है जो बाह्य समाधि का प्रधान अंग भी है और
आभ्यन्तर का भी । जब मनुष्य प्राणायाम में अपनी सत्ता दृढ़ कर लेता है
तब उसका मन स्थिर हो जाता है और जिसका मन स्थिर है उसे दुःख और
सुख लुभा नहीं सकते जब लोभ पैदा नहीं होगा तब व्याधि का सोचना ही
निर्मूल है । तथा समाधि का प्रादुर्भाव होने लगता है । इनसे यदि लौकिक
भाषा या अलौकिक भाषा में देखें तो पता चलता है कि इनका सम्बन्ध पूर्व
जन्मों से भी है । जैसे कई मनुष्य कहते हैं कि मैंने यहां कोई असद्कार्य नहीं किया
फिर भी व्याधियां उत्पन्न हो गई आप ठीक कहते हैं परन्तु आपने पूर्व जन्म में
तो कोई अच्छा कार्य भी तो नहीं किया ऐसे ही शंका का विचार हो जाता
है । यहां तक पूर्व जन्म की बात आती है वह भी द्विविध है । हर पल मरता
है एवं जन्म लेता है जैसे – जो काम हम आज कर रहे हैं उसी के आधार पर
हमारा कल आयगा अर्थात् जो हम आज और अब कर रहे होते हैं उसका फल आज
और अभी प्राप्त नहीं होता किञ्चिद् काल के बाद ही होता है तत्समय केवल
आशा और विश्वास से ही सन्तोष करना पड़ता है । आने वाला समय
बताता है कि आपने कितने परिश्रम एवं संलग्नता से कार्य किया था जिसका
फल आपको आपके परिश्रम के अनुसार मिल रहा है । जैसे एक व्यक्ति एम०ए० करके
में अच्छे अंकों से उत्तीर्ण होता है तो दूसरा सामान्य से उत्तीर्ण होता है ।
हरेक कार्य का फल हमें पश्चाद् मिलता है जो पूर्व के कर्म का अनुमान मापक
होता है । परीक्षा आज हुई अर्थात् इस जन्म में हुई परिणाम कल अर्थात् दूसरे

जन्म में निकलता है यही सम्बन्ध है कि यदि हम अपने श्वास प्रश्वास पर विजय पाते तब कभी भी व्याधि तक की लम्बी रेखा त्रयोदश डिब्बों से रेल नहीं बनती । जिसे सामान्य संसारी खींचता है । इन्हीं दुःखों से बचने के लिए योग दर्शन का निर्माण हुआ है और इन पर अर्थात् श्वास प्रश्वासादि विक्षेपों पर विजय पाने के लिए योगदर्शन " प्राणायाम करने को कहता है एवं एक तत्त्व का अभ्यास का मार्ग प्रशस्त करता है जिससे सामान्य संसारी को भी दुःखों से छुटकारा मिल सके यही पातञ्जल योगदर्शन का मत है " ।

अष्टांग योग

आत्मलाभ (विवेक सिद्धि) के लिए पांजल योगदर्शन में योग के आठ अंगों का सम्यक रूपेण वर्णन किया गया है । वह तो निर्विवाद है ही कि जब तक आत्मा का मन और बुद्धि पर एकाधिकार नहीं हो जाता तब तक उसमें निश्चिन्तता एवं समाधि योग की योग्यता नहीं आती है । जिससे वह ऋतम्भरा प्रज्ञा को प्राप्त हो सके । अतः शरीर, मन इन्द्रियों एवं बुद्धि की शुद्धि के लिए ही साधनों का निर्माण किया जाता है । जिससे द्रष्टा एवं दृश्य की भेदकता समाप्त हो सके अर्थात् आत्मा का साक्षात्कार कर सके । जिसके विषय दक्ष स्मृति में कहा गया है कि -

"जिस राजा ने सम्पूर्ण विश्व को क्यों न जीत लिया हो वो विश्वजीत उपाधि से चाहे विभूषित हो । परन्तु वह वास्तविक रूपेण विश्व-विजेता नहीं है । विश्वविजयी वही है जिसने मन को जीता है ।"[2]

---

1. तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः । - पा० यो० सू० - 1/32

2. बलेन पर राष्ट्राणि गृह्णन् शूरस्तु नोच्यते ।
जितो येनेन्द्रिय ग्रामः स शूरः कथ्यते बुधैः ।। - द० स्मृ०, अ० - 7, श्लोक 18

तभी तो कहावत है कि "मन के जीते जीत है, मन के हारे हार" । योगोपलब्धि के लिए मन को जीतना ही महान उपलब्धि है इस पर विजय के बाद आत्म ज्ञान का शेष कार्य सरल हो जाता है । इस पर विजय पाना इसलिए कठिन है क्योंकि यह योग बाधि है और सबसे बड़ा वीर (योद्धा) है । जिसे स्मृतिकार ने कुछ निम्न प्रकार से स्पष्ट किया है कि "प्राणायाम से वचन को, प्रत्याहार से इन्द्रियों को और धारणा की क्रियाओं से इस दुर्धर्ष मन को वश में करना चाहिये "[1] ताकि द्रष्टा का दृश्य से संयोग होने का मार्ग हो सके इसी क्रमोपलब्धि एवं पतंजली अनुसार "द्रष्टा और दृश्य के संयोग की उस अवस्था का नाम योग है जब द्रष्टा का दृश्य से तार जुड़ जाता है[2] ।" और वास्तव में इसमें यदि कोई बाधक है तो "वह अविद्या ही है, अज्ञान ही है । जिसके विषय में ग्रन्थकार ने स्वयं अपने ही शब्दों में भी स्पष्ट कर दिया है कि "ज्ञान प्राप्ति एवं द्रष्टा दृश्य के संयोग न होने देने का मुख्य कारण अविद्या ही है .[3]

अविद्या को दूर करने के लिए ही महर्षि पतंजली जी ने बहुत ही विचार विमर्श से एक मार्ग का अनुसन्धान करके प्रकट किया, जिससे अविद्या जैसे विद्या के घोर शत्रु का नाश हो सके, ताकि मनुष्य जीवन सार्थक बने, तो वह ग्रन्थकार के अनुसार योग के अंग है, जिनसे "द्रष्टा और दृश्य का विवेक से संयोग हो सके "[4] ।

---

1. प्राणायामेन वचनं प्रत्याहारेण चेन्द्रियम् । धारणाभिर्वशे कृत्वा पूर्व दुर्धर्षणं मनः ।।—हा०स्मृ०, अ० - 7, श्लोक-4
2. स्वस्वामि शक्त्योः स्वरूपोपलब्धि हेतुः संयोगः ।।—पा०यो०द० अ०-2, सू -23
3. तस्यहेतुरविद्या ।। — वही -, सूत्र - 4
4. योगांगानुष्ठानाद शुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ।।—वही-, सू०-28

योगांगों की संख्या

महर्षि पातंजलि अनुसार योगांगों की संख्या आठ है -
यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि[1]
इसी प्रकार से शिव पुराण में आठ अंग ग्रहण किये गये हैं।
यम का अर्थ शुद्ध धार्मिक होना है। धर्म का पालन करते हुये योग पाना है और इनकी संख्या पांच है - अहिंसा सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह।

अहिंसा -

मन, वाणी, कर्म से अहिंसक बनना, न स्वयं हिंसा करना, न करवाना एवं न ही अनुमोदन ही करना। चाहे धार्मिक हिंसा ही क्यों न हो महर्षि पतंजली अनुसार तर्क वितर्क से उससे बचे रहने में ही श्रेयस्यता है।
सत्य - मन कर्म वचन से यथार्थ प्रतिपादन करना ही सत्य है।
अस्तेय - मन - कर्म - वचन से कभी भी चोरी न करना ही अस्तेय है।
ब्रह्मचर्य - वीर्य पर विजय प्राप्त करना (तेजस को प्राप्त करना) ही ब्रह्मचर्य है।
अपरिग्रह - कभी भी किसी भी प्रकार किसी भी विकट परिस्थिति में किसी भी वस्तु की अभिलाषा न रखना एवं धन-अन्न सञ्चय न करना अपरिग्रह है।

1. क) यम नियमासन प्राणायाम प्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोष्टावांगानि ।।
- पा0यो0द0 अ0-2, सू0 - 29
ख) शि0पु0 वायु सं0 अ0 - 37, श्लोक अन्त में उद्धृत है।

समीक्षा

वस्तुतः व्यास भाष्य में लिखा गया है कि " शास्त्र की आज्ञा के बिना कभी भी किसी की वस्तु को न लेना अस्तेय है ।"[1] एवं सत्य की व्याख्या में भी उन्होंने ऐसा ही विवेचना की है कि "सब भूतों के उपकार के लिए प्रवृत्त हुई हो तो सत्य है । न कि भूतों के नाशार्थ जो वाणी कही गई हो तो वह सत्य है ।"[2] परन्तु योगी के लिए परमार्थतः शास्त्र विधि का पालन करने के लिए कहना चतुराई है । क्योंकि व्यास ने अहिंसा में तो ऐसी शास्त्राज्ञा का उपदेश तो नहीं किया है । परन्तु सत्य एवं अस्तेय में प्रतिपादित किया है और यह शास्त्र सम्मत जो सत्य की बात कही है यह ठीक "अश्वत्थामा मारा गया नर या कुञ्जर है । यह पता नहीं "[3] जानते हुये भी ऐसी चतुराई योग सम्मत नहीं है । हाँ शास्त्र सम्मत हो सकती है । परन्तु शास्त्रों ने प्रथमतः मुख्य रूपेण वास्तविक सत्यादि का ही पालन करने को कहा है यहाँ तक कि योग पक्ष में ब्रह्मचारी को विवाह भी वर्जित है । जबकि शास्त्र सम्मत या0 वल्क्य के अनुसार "ऋतुगामी भी ब्रह्मचारी होता है "।[4] अतः शास्त्र ज्ञान की अपेक्षा आत्मज्ञान ही सच्चा ज्ञान है । इसी छद्म धर्म से तंग आकर व्यास जी ने नारद जी से प्रश्न किया था और उन्होंने श्रीमद्भागवत महापुराण की रचना की थी ।[5] जिसमें उन्होंने आत्म ज्ञान के अनेक सुझाव दिये हैं ।

---

1. स्तेयमशास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतःस्वीकरणं तत्प्रतिषेधः ।।-पा0योग द0 भोजवृत्ति, पृ0 - 223
2. सर्वभूतोपकारार्थप्रवृत्ता न भूतोपघाताय ।।-पा0यो0द0भो0वृ0, पृ0- 223
3. अश्वत्थामा हतो व नरो व कुञ्जरो वा ।। म0 भा0 - द्रो0पर्व
4. षोडशर्तु निशास्त्रीणां तस्मिन् युग्मासु संविशेत । - या0स्म0आ0या0 अ0-79
ब्रह्मचार्येव पर्वण्याद्याश्चतस्र स्तु वर्जयेत । श्लो0 -79
5. भा0 म0 पु0 स0 1, अ0 5

व्यास भाष्य ने हिंसा मुख्यत 81 प्रकार की गिनाई गई है ।

"हिंसादि वितर्क कृत = (स्वयं की हुई । कारित = करवाई गयी ।

अनुमोदित = हिंसक का अनुमोदन करना हिंसा करने वाले की प्रशंसा करना रूप

भी हिंसा होती है । लोभ क्रोध एवं मोह पूर्वक की गई हिंसा भी हिंसा ही

होती है और इन तीनों का योग मन्द - मध्य एवं तीव्र तीन भेदों से है और

यह मुख्यत: नव प्रकार की एवं भेदपूर्वक 81 (इक्यासी) प्रकार की हिंसादि

कर्म अनन्त दु:ख एवं अज्ञान फल वाले हैं अत: प्रतिपक्ष का चिन्तन करना चाहिये"।[1]

मृदु + मृदु । मृदु - मध्य । मृदु - तीव्र ।। मध्य मृदु । मध्य मध्य ।

मध्य तीव्र तीव्र मृदु । तीव्र मध्य । तीव्र तीव्र ।

इनके सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रत्येक के नौ - नौ भाग बनते हैं जिनके गुणा करने से

81 की संख्या का योग बनता है । अत: किसी भी प्रकार की हिंसा आदि से

बचने में ही मुमुक्षु की योगसाधना में सरलता एवं सुगमता आती है । यही

सद् कर्म पूर्व जन्म के कृत्यों को भी शिथिल करते हैं, जिनके शिथिल होते ही

इह जन्म में ही योगी योग को प्राप्त होकर परमात्म तत्व में अपने को विलीन

कर लेते हैं ।

क - अहिंसा   यम विशेष

महर्षि पतंजली कहते हैं कि - "अहिंसा को प्राप्त योगी के समीप

निर्वैरता का वातावरण बन जाता है ।"[2]

अन्यत्र भी बहुत से शास्त्रकारों ने अहिंसा पर बल दिया है परन्तु जैसा

बल एवं सुस्पष्ट भाव से महर्षि पतंजली जी ने अपने पातंजल योग दर्शन में वर्णन

---

1. वितर्का हिंसादय: कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दु:खाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ।।-पा०यो०द० अ०-2, सूत्र - 34
2. अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैर त्याग: । -वही- सूत्र - 35

किया है वैसा हो सकता है कि किसी ने किया हो । म0 पतंजली किसी प्रकार की भी हिंसा क्यों न हो, उसे योग पक्ष में स्वीकार नहीं करते हैं । जबकि अन्य शास्त्रों में धार्मिक हिंसा को हिंसा नहीं माना है । जैसे कूर्म पुराण में स्पष्टत: प्रतिपादित है कि "अहिंसापरम धर्म है अहिंसा से परे सुख भी कोई नहीं है । परन्तु विधिपूर्वक अर्थात् धार्मिक होने वाली हिंसा को भी अहिंसा मान लेना चाहिये ।[1]"

इसी प्रकार याज्ञवल्क्य स्मृति में भी पाया गया है कि "जब (अन्न के अभाव में या रोग में) मांस के बिना प्राण बचना कठिन हो , श्राद्ध में , प्रोक्षण नाम के (श्रौत संस्कार) में देवताओं की आहुति से अवशिष्ट, ब्राह्मण के भोजन या देवता के निमित्त या पितर के लिए बनाये गये मांस को देवता और पितरों की अर्चना करके खाने वाला दोष का भागी नहीं होता है ।[2]" परन्तु साथ ही अगले ही श्लोक में याज्ञवल्क्य लिखते हैं कि " जो किसी भी प्रकार से चाहे देवता या पितर के निमित्त ही क्यों न हो जो अहिंसा का व्रत ग्रहण करता है वह विप्र साक्षात् गृह में रहते हुये भी मुनितुल्य पूजनीय है ।[3]

---

1. अहिंसा परमो धर्मः नास्त्यहिंसापरमसुखम् ।
विधि या भवे हिंसा त्वहिंसैव प्रकीर्तिता : ।। -कू0पु0अ0-30, श्लो0-15

2. प्राणात्यये तथा श्राद्धे प्रोक्षिते द्विज काम्यया ।
देवान् पितृन्समभ्यर्च्य खादन्मासं न दोषभाक् ।।या0 स्मृ0 आ0अ0 - 179

3. सर्वान् कामानवाप्नोति हयमेधफलं तथा ।
गृहेऽपि निवसन्विप्रो मुनिर्मासदोषविवर्जनात् ।।या0 स्मृ0 आ0अ0 - 181

जब हम वेद में प्रतिपादित पुरूष सूक्त या रूद्राष्टाध्यायी का पाठ करते
हैं तब वहां पर जो मन्त्र हमें अर्थ ज्ञान करवाते हैं उनसे पता चलता है कि
हम एक ही परमपिता परमात्मा की सन्तान है जैसे इस चराचर जड़ चेतन जगत्
में जो भी उत्पन्न हुआ है वह परम पुरूष परमात्मा से ही उत्पन्न हुआ है
अतः भगवान कहते हैं कि यह सारी रचना एवं प्राणी समुदाय मेरे ही से उत्पन्न
हुआ है ऐसा जानना चाहिये । चाहे उसमें दो चरण वाले प्राणी व मनुष्य है या
पक्षी पशु या चतुष्पाद पशु विशेष या जो भी सकल जगत् में दृश्यमान है वह
मुझसे ही उत्पन्न हुआ है और सबका कर्त्ता मैं ही हूं ।"[1] फिर भी प्राणी
समुदाय एक दूसरे से वैर करता हुआ दिखाई देता है और इस तरह की वैरता
की समाप्ति तब तक असम्भव है जब तक कड़े निर्देश न दिये जायें जो धर्म से
भी श्रेष्ठ हों । इसलिए पतंजलि जी ने अहिंसा की विशद व्याख्या से पूर्व ही
उन पर नियन्त्रण लगा दिया । अंकुश लगाते हुये निर्दिष्ट कर दिया था ।
ताकि मनुष्य या योगी यहां भी अन्य शास्त्रों में निर्दिष्ट धार्मिक हिंसादि
को न जोड़ने पाये और मुमुक्षु को मोक्ष प्राप्त हो सके । इसलिए यम नियम की
विवेचना से पूर्व "जाति, देश, काल एवं समय आदि को भी बाधित करके रख
दिया कि चाहे कुछ भी हो योगी को किसी भी प्रकार की हिंसा स्वीकार्य
नहीं होनी चाहिये । इन्हें अहिंसादि पांचों तत्वों के लिए सुकृत्य सार्वभौम
महाव्रत मानना चाहिये ।"[2] ऐसा ग्रन्थकार का मानना है । यह सच्चाई

---

1. ॐ एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्चपुरूषः पादोस्यविश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतन्दिवि ।। - रू० अ० - 2पु० सू० मं० - 3
2. जातिदेशकाल समयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् । -पा०यो०द० अ० - 2, सू० - 3।

भी है कि प्रभु का वास कण - कण में है हर जगह स्थान पर है । "हरेक मनुष्य पशु - पक्षी में तदनन्तर ब्राह्मण चाण्डाल भी तो उसके लिए समान है कोई भी स्थान उससे भिन्न नहीं है" और कोई भी समय उनसे परे नहीं है ।"[1] तब ऐसे धार्मिक कृत्यों का प्रतिपादन कहां तक उचित हो सकता है अतः हिंसा हिंसा ही कहलाती है, चाहे वो धार्मिक ही क्यों न हो । इसलिए अहिंसा का पालन सबके लिए न सही परन्तु मुमुक्षु के लिये अनिवार्य है ।

सत्य

महर्षि पतंजली जी का कहना है कि "सत्य की प्रतिष्ठा से वाक् शक्ति अमोघ होती है" उसमें क्रिया - व्यापार की प्रतिष्ठा पैदा हो जाती है जिसे जो भी आशीर्वादात्मक वचन बोलदिये जायें वह सत्य हो जाते हैं चाहे वह उसका अधिकारी है या नहीं परन्तु सत्य के सेवन वाले योगी के वचन अमोघ ही होते हैं ।[2]

जबकि सत्य भी जाति देश काल समय से अबाधित होना चाहिये । छल कपट से रहित एवं यथार्थ होना चाहिये । युधिष्ठिर के सत्य जैसे सत्य को यहां बिल्कुल स्थान नहीं है ।

---

1. विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनी । शुनि चैव श्वपाके च पण्डिता समदर्शिनः ।। - गीता - 5/18
विष्णोर्नुकं वीर्याणि प्रवोचं ... विष्णोर्धुवोऽसि
ऊं विष्णो रराटमसि विष्णोःश्नप्त्रेस्थो विष्णोः स्यूरसि ... शु० यजु० वे० अ० - मं०
वैष्णवमसि विष्णवेत्वा । - रु० अ० स्व० प्रार्थना० अ० मं० - 3
इदं विष्णु विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् । समूढमस्य पां सुरे ।।

2. सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ।। -पा०यो०द० अ० -2, सूत्र - 39

सत्य मनसा वचसा कर्मणा एवं व्यवहारिक सर्वत्र समदर्शी होना चाहिये। जैसा देखा गया हो जैसा आप्त वाक्य पढ़ा हो और जैसा आप्त पुरूषों से ग्रहण किया गया है। वैसा ही व्यावहारिक भी होना चाहिये। क्योंकि सत्य को परमात्मा का रूप ही मानते हैं।

श्री बाल्मीकि रामायण में बाल्मिकी लिखते हैं कि "यथार्थ सेवन ही सत्य धर्म है। छद्म धर्म मुमुक्षु तो क्या सामान्य नागरिकों के लिए भी पथ्य होता हुआ भी अपथ्य है[1]।

सत्य का पालन ही राजप्रधान एवं दया प्रधान धर्म है, सत्य सनातन आचार है। सत्य में ही सम्पूर्ण लोक प्रतिष्ठित हैं[2]।।

इस लोक में ऋषियों और देवताओं ने सदा सत्य का आदर किया है[3]। कभी भी झूठ नहीं बोलना चाहिए। सत्यवादी मनुष्य अक्षय परमधाम में जाता है। जैसे सांप से। झूठ बोलने वाले मनुष्य से सब लोग उसी तरह डरते हैं जैसे सांप से। संसार में सत्य ही धर्म की पराकाष्ठा है और वही सब का मूल है[4]।

1- अधर्म धर्म वेषेण यद्यहं लोक सङ्करम् ।
अभिपत्स्येशुभं हित्वा क्रियां विधिविवर्जितम् ।।
-बा०रा०अ०का० सर्ग- 109, श्लो० -6

2- सत्यमेवानृशंसं च राजवृत्तं सनातनम् । तस्मात् सत्यात्मकं राज्यं सत्ये लोकः प्रतिष्ठितः ।। - वही - श्लो० - 10

3- ऋषयश्चैव देवाश्च सत्यमेवहि मेनिरे ।
सत्यवादी हि लोकेऽस्मिन् परं गच्छति चाक्षयम् ।। - वही- , श्लोक-11

4- उद्विजन्ते यथासर्पान्नरादनृतवादिनः ।
धर्मः सत्यपरो लोके मूलं सर्वस्योच्यते ।। - वही - , श्लो० - 12

जगत् में सत्य ही ईश्वर है । सदा सत्य के आधार पर धर्म की स्थिति रहता है । सत्य ही सबकी जड़ है (मूल है) । सत्य से बढ़कर दूसरा कोई परमपद नहीं है । दान, यज्ञ, होम, तपस्या और वेद इन सबका आधार सत्य ही है । अतः सबको सत्यपरायण होना चाहिये[1]।

जो अपनी प्रतिज्ञा को झूठी करता है वह धर्म से भ्रष्ट हो जाता है और उसका किया हुआ यज्ञ देव एवं पितर भी स्वीकार नहीं करते हैं[2]।

पृथ्वी, कीर्त्ति - यश एवं लक्ष्मी - ये सब की सब सत्यवादी पुरुष को पाने की इच्छा रखती है और शिष्ट पुरुष सत्य का ही अनुसरण करते हैं । अतः मनुष्य को सदा सत्य का ही सेवन करना चाहिये[3]।

श्री मद्भागवत महापुराण में लिखा है कि "सत्य और मधुर भाषण को ही महात्माओं ने ऋत कहा है[3]।

कूर्म पुराण भी यथार्थ सत्य के पालन पर बल देता है "उसमें स्पष्ट लिखा गया है कि सत्य यथार्थ होना चाहिये मन, वाणी कथनी एवं व्यावहारिक दृष्टि से समान होना चाहिये "[4]।

1- क सत्यमेश्वरोलोके सत्ये धर्मः सदाश्रितः । सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम् ।।
ख दत्तमिष्टं हुतञ्चैव तप्तानि च तपांसि च । वेदाः सत्यप्रतिष्ठानास्तस्यात्सत्यपरोभवेत् ।।
2- असत्यसंधस्य सतश्चलस्यास्थिरचेतसः । नैव देवान पितरः प्रतीच्छन्तीति नः श्रुतम् ।।
3- भूमिकीर्त्तिर्यशोलक्ष्मीः पुरुषं प्रार्थयन्तिहि । सत्यसमनुवर्तन्ते सत्यमेव भजेत् ततः ।।
-वा० रा० अ० काण्ड-सर्ग - 109, श्लोक - 13-14, 18/22
3- ऋतं च सूनृता वाणी कविभिः परिकीर्त्तिता: ।।-श्री मद्भा० म० पु० स्क० - ।। अ० - 19, श्लोक- 38 पूर्वार्ध
4- सत्येन सर्वमाप्नोति सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम् । यथार्थकथनाचारः सत्यप्रोक्तंद्विजातिभिः ।। - कूर्मपुरा० अ०-30, श्लो०-16

मनु स्मृति कहती है कि "सत्य बोलना चाहिये परन्तु अप्रिय नहीं । जब कि प्रिय लगता हुआ भी झूठ नहीं बोलना चाहिये । आगे एक कदम बढ़ाते हुये साथ ही लिखती है कि सत्य, मौन से भी श्रेष्ठ है एवं विशेष महत्वता रखता है ।"[1]

इसी प्रकार से सुस्पष्ट होता है सर्वसाधारण मनुष्य एवं विशेष मुमुक्षुओं को सदैव मनसा वचसा कर्मणा यथार्थ सत्य का प्रतिपालन करना चाहिये ।। इससे मनुष्य को योग साधना में आने वाले कष्टों से छुटकारा मिल सकता है ।

अस्तेय

महर्षि पतंजली के अनुसार " अचोरी करने वाले व्यक्ति एवं मुमुक्षुओं के पास सभी दिशाओं से अच्छे - अच्छे सद्गुणोपेत रत्न पुरूष रूपी धन एवं ज्ञान रूपा धन स्वतः प्राप्त होता है ।"[2] उन्हें किसी भी वस्तु को पाने के लिए उद्योग नहीं करना पड़ता है । उन्हें यदि उद्योगरत रहना भी हो तो केवल अस्तेय बने रहना चाहिये । यही उनका उद्योग है ।

---

1. सत्यब्रूयात्प्रियं ब्रूयात् ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
सत्यब्रूयात्प्रियं ब्रूयात् ब्रूयात्सत्यमप्रियम् । -म०स्मृ० अ०-4, श्लो०-138
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेषधर्म सनातनः ।। -म०स्मृ० अ-2, श्लो० - 83
मौनात्सत्यं विशिष्यते ।। - पा०यो०द०, अ०-2, सूत्र-37
2. अस्तेय प्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ।। -

स्तेय कर्म सर्व प्रकार से निन्दक कर्म है एवं अस्तेय सर्वत्र प्रशंसनीय है । अस्तेय का अर्थ किसी भी प्रकार से चोरी नहीं करना है । जैसे कि कूर्म पुराण में लिखा हुआ है कि "किसी के द्रव्य का बलपूर्वक या अन्यायपूर्वक अपहरण करना ही स्तेय है और उससे मनसा वचसा कर्मणा विरक्त रहना ही अस्तेय धर्म है ।"[1]

महर्षि याज्ञवल्क्य स्मृति में तो चोरी से होने वाले दोष ब्रह्म हत्या तक का निरूपण है और मनुष्य के अगले जन्म का वृत्तान्त भी बड़ा भय कारक स्पष्ट प्रतिपादित किया है । जैसे " पर द्रव्य एवं पर स्त्री अपहारक ब्रह्म हत्या से युक्त ब्रह्मराक्षस होता है ।"[2] आगे लिखते हैं कि "जैसी चोरी मनुष्य करता है वैसा ही निषिद्ध योनि को प्राप्त होता है ।"[3]

मनुस्मृति भी कहती है कि "जिस प्रकार से मनुष्य दूसरों का द्रव्य चोरी करते हैं या बलात् लेते हैं । वह अवश्य ही मर कर तिर्यक् योनियों को प्राप्त होते हैं ।"[4]

---

1. परद्रव्यापहरणं चौर्याद्वाऽथाबलेनवा ।
स्तेयं तस्यानाचरणादस्तेयं धर्मसाधनम् ।।-कू0पु0अ0 - 30, श्लोक- 17
2. परस्य योषितं हृत्वा ब्रह्मस्वमपहृत्य च ।
अरण्ये निर्जले देशे भवति ब्रह्मराक्षसः ।। - या0स्मृ0प्रा0अ0 - 212
3. प्रदर्शनार्थमेतत्तु मयोक्तं स्तेय कर्मणि ।
द्रव्यप्रकारा हि यथा तथैव प्राणिजातयवा ।। -या0स्मृ0 प्रा0 अध्याय-4 श्लोक- 216
4. यद्वा तद्वा परद्रव्यमपहृत्य बलान्नरः ।
अवश्यं याति तिर्यक्त्वं जग्ध्वा चैवाहुतं हविः ।। मनुस्मृ0,अ0-12, श्लोक-68

अतः चोरी कर्म महान धूर्त एवं सर्वत्र निन्दक है । जिससे समाज में भी उद्विग्नता आती है । जिस समाज में ऐसी कुसंस्कृति रहती है, वह कभी भी उन्नति एवं विकास की गति को प्राप्त नहीं हो सकता है । इसी प्रकार से जिस मुमुक्षु के अन्दर भी ऐसी लेशमात्र भावना भी रहती है, वह चाहे लक्ष कोटि प्रयत्न क्यों न करे कभी भी योग को प्राप्त नहीं हो सकता है । इसीलिए महर्षि पतंजली जी का अष्टांग योग आज भी प्रशंसनीय स्थान पर विराजमान है । दार्शनिक जगत् में ऐसी उपलब्धियां पढ़ने को बहुत कम मिलती है । यहां पर बलपूर्वक निर्देश किया गया है । धर्म से ऊपर उठकर बोलने एवं लिखने का प्रयास किया गया हो , मनुष्य एवं मुमुक्षु को पराकाष्ठा की प्राप्ति के लिए सदा अनवरत सम्यक् रूपेण यम पालन करना चाहिये । क्योंकि मनुष्य मरण धर्मा है और उसका लक्ष्य केवल निःश्रेयस की प्राप्ति होनी चाहिये । तदनन्तर उस निःश्रेयस मार्ग पर चलते हुये चाहे कितनी भी अड़चनें एवं विघ्न पैदा क्यों न हों उनसे कभी भी डगमगाना नहीं चाहिये । यही उसका वास्तविक धर्म है । तभी मोक्ष को प्राप्त हो सकता है । यही पातंजल योग दर्शन का भी विषय है जिस पर चलकर मनुष्य निःश्रेयस कैवल्य को प्राप्त होता है । अतः अस्तेय बने रहना चाहिये ।।

५ - <u>ब्रह्मचर्य</u>

ब्रह्मचर्य रूपी समृद्धि को प्राप्त होने का अर्थ है अद्भुत तेज की प्राप्ति । सर्वप्रथम यह जानना जरूरी हो जाता है कि ब्रह्मचर्य क्या है ? और कितने प्रकार का है ?

पातंजल योग दर्शन के अनुसार ब्रह्मचारी कैसा होना चाहिये ? विवाहित या अविवाहित ।

ब्रह्मचर्य से समाज को कौन - कौन से लाभ मिल सकते हैं ।

पा० योग सूत्र अनुसार ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा से वीर्य लाभ होता है ।[1] वीर्य का अर्थ - शूर वीरता बल पराक्रम बहादुरी - शक्ति - ताकत (धातु)

उत्तर - 1 ब्रह्मचर्य द्विविध पढ़ने को मिलता है - एक तपोनिष्ठ नैष्ठिक ब्रह्मचारी । आजन्म जीवन यापन करने वाले वे ब्रह्मचारी जो सदा अपने आचार्य के समीप या आचार्य पुत्र, पत्नी या होमाग्नि के समीप वेदाध्ययन पूर्वक व्यतीत करें ।[2]

उत्तर - 2 "द्वितीय श्रेणी में वे आते हैं जो गृहस्थी होकर ऋतु धर्म के पालन की विधि अनुसार समय तिथि आदि विचारपूर्वक स्वस्त्री संग ऋतुगमन करते हैं ।"[3]

---

1. ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्य लाभः ।। - पा० यो० सू० - 2/38

2. नैष्ठिको ब्रह्मचारी तु वसेदाचार्य सन्निधौ ।
तदभावेऽस्य तनये पत्न्यां वैश्वानरेऽपि वा ।।
अनेन विधिना देहं सादयन्विजितेन्द्रियः ।
ब्रह्मलोकवाप्नोति न चेह जायते पुनः ।।-या०स्मृ० आचाराध्याय : 49,50

3. षोडर्तुनिशाः स्त्रीणां तस्मिन्युग्मासु संविशेत ।
ब्रह्मचार्येव पर्वाण्याद्याश्चतस्रस्तु वर्जयेत ।।-अ०अ० 79 या०स्मृ०

पातंजल योग दर्शन के अनुसार केवल योग के योग्य नैष्ठिक ब्रह्मचारी ही लिये गये हैं । क्योंकि महर्षि पतंजली जी ने अहिंसादि इन पांचों धर्म साधनों को वर्णन करने से पूर्व ही जाति देश काल समय से अनवच्छिन्न कहकर प्रतिबन्ध लगा दिया है, जिसके कारण द्वितीय श्रेणी के ब्रह्मचारियों के विषय में पातंजल योग दर्शन के अनुसार योग योग्य मानना सदा सर्वदा दुष्कर है त्याज्य है । अतः केवल वही योग योग्य है जो सम्पूर्ण रूप से नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं । उन्हीं को दुर्लभ्य वीर्य शक्ति प्राप्त हो सकती है जिससे वे योगबल को प्राप्त कर सकते हैं और ब्रह्म लोक की प्राप्ति भी होती है । इसी नैष्ठिक ब्रह्मचारी के समर्थन में ही कूर्मपुराण में मिलता है । जैसे -

"ब्रह्मचर्य का प्रतिपालन कर्म, वचन, मन से सदा सर्वदा सभी अवस्थाओं
सभी प्रकार के मैथुन त्यागादि से दूर रहते हुये व्रत पालन करना चाहिये ।"

ऐसी ही विधि से रक्षित ब्रह्मचर्य योग साधना में बल प्रदान करता
है जिसे भगवान श्री कृष्ण जी ने भी भागवत् महापुराण में इस प्रकार से वर्णन किया
है -

"यदि ब्रह्मचारी का विचार हो कि मैं मूर्तिमान वेदों के निवास स्थान
ब्रह्मलोक में जाऊं, तब उसे आजीवन नैष्ठिक ब्रह्मचर्यव्रत ग्रहण कर लेना चाहिये।
और वेदों के स्वाध्याय के लिए अपना सारा जीवन आचार्य की सेवा में ही
समर्पित कर देना चाहिये । ऐसा ब्रह्मचारी सचमुच ब्रह्म तेज से सम्पन्न हो
जाता है और उसके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं । उसे चाहिये कि अग्नि, गुरू

---

1. कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा ।
सर्वत्र मैथुन त्यागं ब्रह्मचर्यप्रचदाते ।। - कू०पु० अ० - 30 श्लोक - 18

अपने शरीर एवं समस्त प्राणियों में मेरी ही उपासना करे और यह भाव रखे कि मेरे तथा सब के हृदय में एक ही परमात्मा विराजमान है। ब्रह्मचारी वानप्रस्थ एवं सन्यासियों को चाहिये कि वे स्त्रियों को देखना स्पर्श करना, उनसे बातचीत करना, या हंसी मसखरी आदि दूर से ही त्याग दें और भूत प्राणियों पर मैथुन करते देखकर भी दृष्टिपात न करे ध्यान न दें। तथा शौचादि नियमों का पालन करें। शौच, आचमन स्नान, सन्ध्योपासन, सरलता, तीर्थ सेवन, जप समस्त प्राणियों में मुझे ही देखना। मन, वाणी एवं शरीर का संयम, ये ब्रह्मचारी के लिए परम नियम है। अस्पृश्यों का न छूना, अभक्ष्य को न खाना और जिनसे बोलना हो, न बोले, ये भी नियम हैं। नैष्ठिक ब्रह्मचारी ब्राह्मण इन नियमों का पालन करने से अग्नि के समान तेजस्वी हो जाता है। तीव्र तपस्या के कारण उसके कर्म - संस्कार भस्म हो जाते हैं, अन्त: करण शुद्ध हो जाता है और वह मेरा भक्त होकर मुझे प्राप्त कर लेता है अर्थात् ऐसा नैष्ठिक ब्रह्मचारी ही परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।"[1]

1.

यद्यसौ छन्दसां लोकमारोक्ष्यन् ब्रह्मविष्टपम्।
गुरवे विन्यसेद्देहं स्वाध्यायार्थं बृहद्व्रत: ।।

अग्नौ गुरावात्मनि च सर्वभूतेषु मां परम्।
अपृथग्धी रुपासीत ब्रह्मवर्चस्व्यकल्मष: ।।

स्त्रीणां निरीक्षणस्पर्शसंलापक्ष्वेलनादिकम्।
प्राणिनो मिथुनीभूतानगृहस्थोऽग्रतस्त्यजेत् ।।

शौचमाचमनं स्नानं संध्योपासनमार्जवम्।
तीर्थसेवा जपोऽस्पृश्याभक्ष्यासंभाष्यवर्जनम् ।।

सर्वाश्रमप्रयुक्तोऽयं नियम: कुलनन्दन।
मद्भाव: सर्वभूतेषु मनोवाक्कायसंयम: ।।

एवं बृहद्व्रतधरो ब्राह्मणोऽग्निरिव ज्वलन्।
मद्भक्तस्तीव्रतपसा दग्धकर्माशयोऽमल: ।। - श्रीमद्भा०म०पु० स्क०-11, अ०-17, श्लोक- 31-36

ब्रह्मचर्य एवं रोग

घ-। ब्रह्मचर्य के नष्ट होने से शारीरिक रोगों की उत्पत्ति होती है जैसे –

शुक्र के अधिक पतन से शीघ्र बल नाश, ऊरू शिथिलता, शिर, मूत्राशय गुदा मूत्रेन्द्रिय, वंक्षण प्रदेश, ऊरूजान, जंघा और पैरों में शूला, हृदय में अधिक धड़काहट, नेत्रों में वेदना, अंग में शिथिलता, शुक्र मार्ग से रक्त निकलना, थूकने से रक्त निकलना, शुष्क श्वास रोग, खांसी, कमर का कमजोर होना, कब्जीयत, जड़ता, शरीर का कांपना, गुदा का खींचा जाना, मूत्रेन्द्रिय में कमजोरी, मानसिक वेदना, हृदय का कांपना, सन्धि यों में पीड़ा होती नेत्रों के आगे अन्धकार छा जाता है।

1\. व्यवायादाशुबलनाशो .... अवलुप्यतइतिगुदः। तादयत् इव मेढ्रं उवसी दमी मनो, वेपते हृदयं पीड्यन्ते सन्धयः तमः प्रवेशयतइव च ।। – चरक उत्तरवस्ति सिद्धिरध्याय : 12 गद्य च।

5-2 योग, ब्रह्मचर्य एवं समाज

शुक्ल यजुर्वेद के इस मन्त्र से ब्रह्म तेज की सम्पन्नता का पता चलता है । इससे स्पष्ट होता है कि जो देश राष्ट्र वीर्य बल से सम्पन्न होता है वहां की प्रजा स्वस्थ रहती है । सभी का मन ॥अनड़वान ॥ एवं धेनु-इन्द्रियां सुस्वस्थ होती हैं । स्त्रियां ॥युवतियां ॥ अच्छे- अच्छे बलशाली युवकों का वरण करके अच्छी - अच्छी पुत्र रूपी सन्तानों की वर्षा करती हैं और उन युवतियों के स्तनों में दुग्ध रूपी औषधियां भी तेज से सम्पन्न होती हैं जिनका पान करके पुत्र रूपी फल विकसित होते हुये युवावस्था को प्राप्त होते हैं ।

जिस देश में बलशाली वीर्यवान पुत्र उत्पन्न होंगे और उनसे रक्षित सीमाओं को बलपूर्वक शत्रु कैसे लांघ सकता है ? वेद भगवान कहते हैं कि हे यजमान ! तुम ब्रह्मचर्य का गृहस्थ धर्म के अनुसार पालन करते हुये आनन्द को लूटो और प्रशंसनीय बनने का सतत प्रयास करते रहो, यही मेरा अर्थात् वेद भगवान का उपदेश है, तेरे लिए आशीर्वाद है ।

---

1. ॐ आब्रह्मन् ब्रह्मवर्चसि जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूरइषव्योति
व्याधिमहारथोधेनुर्वोनड़वानाशुः पुरन्धिर्योषा जिष्णु रथेष्ठाः ।
सभेयो युवास्य यजमानस्य जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो
ऽभिवर्षतु फलवत्यो न औषधयः पच्यन्तां योगक्षेमोनः कल्पताम् ॥

- शु० यजुर्वेद ॥ अ० 22 मं०22

प-3- ब्रह्मचर्य विशेष —

आज हम इस भौतिक जगत् में देख सकते हैं कि जितनी इस जगत् में विज्ञान के क्षेत्र में उन्नति की है उससे कहीं अधिक मनुष्य के जीवन क्षेत्र में अवनति को प्राप्त हो चुका है । आज से कुछ वर्ष पूर्व फिर भी मनुष्य सुख चैन से नींद ले कर सोता था , काम करता और आज से कहीं ज्यादा प्रसन्न चित्त था । परन्तु आज ऐसा कोई विरला ही पुरूष दिखाई देता है जो अपने आप को स्वस्थ कह सकता है । जैसे जैसे विज्ञान ने नये - नये क्षेत्रों में उन्नति की वैसे - वैसे नये - नये रोगों ने मनुष्य को घेर लिया । ऐसा नहीं है कि ऐसे रोग पहले नहीं हुआ करते थे और उनका उपचार नहीं होता था । आयुर्वेद की सम्यक् पद्धति तब आज की अपेक्षा कहीं अधिक कारगर थी । परन्तु कालक्रम में चलकर उसका अतिशयात्मक लोप होना मनुष्य जीवन के लिए अति दुःखदायी बन चुका है । गांव - गांव मे निष्पक्ष भाव रखने वाले निस्वार्थ सेवारत नाड़ी परीक्षक वैद्य (हकीम) लुप्त प्रायः देखे जा सकते हैं । जिसका कारण राज्य सरकार एवं केन्द्र सरकार दोनों ही है । दूसरा कारण पाश्चात्य वैद्य रहे जिन्होंने इस पद्धति की अवहेलना की और अपने सिक्के को स्थापित करने के लिए प्रशासन को बाध्य कर दिया ।

आयुर्वेदिक पद्धति में अन्तर इतना ही मात्र था यहां आज विज्ञान शल्य चिकित्सा में अग्रसर था वो इतनी सक्षम नहीं थी । परन्तु यदि उसे समर्थन मिलता तो वह भी इसमें उन्नति प्राप्त करती परन्तु उसे अवसर ही नहीं दिया गया । जबकि सब जानते हैं कि सत् तो सत् ही होता है । असत्य का समाज बहुत देर तक जीवित नहीं रह सकता है ऐसे ही है आयुर्वेद भी जो आज पुनः काल क्रमानुसार

पुनः विकसित हो चुका है जिसकी आवश्यकता केवल भारतवर्ष, एशिया में ही नहीं समझी जा रही है अपितु सकल जगत् इस पद्धति के प्रति आशावान् दिखाई दे रहा है। शेष बात आती है शल्य-चिकित्सा एवं यन्त्र परीक्षण सेवा की तो उसे आज पूर्णतया विकसित कहना अनुचित ही लगता है। बहुत से उदाहरण (आज भी) वर्तमान हैं जो परीक्षणों में पूर्णतया स्वस्थ दिखाई देते हैं, परन्तु वास्तव में रोगी होते हैं जिनका उपचार रोगी के कहने पर आज के ऐलोपैथिक वैद्य को अनुमान के आधार पर करना पड़ता है जो कि अनुचित सा लगता है।

हम मानते हैं कि कोई भी नई वस्तु उत्पन्न होती है तो उससे घृणा नहीं करनी चाहिये। सद् असद् दोनों में कहीं न कहीं कोई न कोई भाव छुपा होता है सद् पूर्ण स्वस्थ होती है परन्तु सूक्ष्म होती है जबकि असद् भारी होती है ऐसे ही जैसे देव एवं राक्षस। लेकिन हम देवताओं के साथ-साथ राक्षसों के बल एवं शौर्य की अनदेखी नहीं कर सकते। उनके मदमस्त शरीरों का भी हमें पूर्ण परिचय होना चाहिये कि ये कैसे विकसित हुये? इनका पथ्य क्या है और पाचन प्रक्रिया क्या है। ये दोनों ही महत्वपूर्ण तथ्य हैं जो मानव के लिए आज बहुत ही लाभदायक सिद्ध हो सकते जिनका उल्लेख सविस्तार आयुर्वेद शास्त्रों के अन्तर्गत आज भी पढ़ने को मिलता है। जिनकी टिप्पणी में यह पाया जाता है कि राक्षस लोगों को बलशाली करने वाले द्रव्यों में एक तिल का तैल भी था, जो शरीर को स्वस्थ बनाये रखने में महत्वपूर्ण होता था। जिस का आज भी भारतीय समाज के अन्तर्गत महत्वपूर्ण स्थान है। जिस वातविकार की चर्चा करना चाहते हैं वह रोग और रोगों के कारण।

रोग एक ऐसा पद है जिसे शरीर का अन्दरूनी शत्रु कह सकते हैं जो बिना गाली गलौच [दुरूक्ति] के मनुष्य को उकसाता है और बिना शस्त्र अस्त्र के घायल करके या तो तड़पने के लिए विवश कर देता है या काल का ग्रास बनता है। यह एक ऐसी नामुराद नाम है जो बड़े - बड़े योद्धाओं एवं वैज्ञानिकों एवं बड़े-बड़े बुद्धिजीवि डाक्टरों को भी नहीं जीने देता है। किसी को अर्बुद का आखेट मृगी बनाता तो किसी को हृदय रोग से ग्रस्त कर लेता है। किसी को एच वी आई के संक्रामक विषाणुओं [ऐड्स] आदि से ग्रस्त कर जीवन लीला को काल कवलित कर रहा है। इससे अतिरिक्त आज हिप्पो नाईटिटस रोग का भी नाम सुनने को मिल रहा है परन्तु हम ऐसा नहीं कर सकते हैं कि ये आज के युग की देन है या पूर्वकाल में नहीं रहे होंगे। ये पूर्वकाल में भी थे परन्तु नामों में [संज्ञा में] अन्तर रहा होगा। जिसे आज का विज्ञान ऐड्स संज्ञा देता है। वह वास्तव में पहाड़ी रोग के ही समतुल्य तो है जो कि स्त्रियों एवं पुरुषों दोनों को हुआ करता था जिसका उपचार विरला होता था। परन्तु आज उससे साधारण वैद्य विमुख है। हिन्दी एवं हमारी लौकिक भाषाओं का स्थान जबसे आंग्ल भाषा ने लिया है तब से सबसे अधिक हानि यदि किसी देश को हुई है तो वो वास्तव में भारतवर्षियों को हुई एवं उन्हें भी हुई जिन्होंने अपनी भाषा एवं संस्कृति से वंचित होना पड़ा है। यह भी एक रोग है जिसे समाज की एवं प्रशासन की कमजोरी भी कह सकते हैं। कमजोर उसे ही कहते हैं जिसमें शक्ति कम हो जाती है जिसे संस्कृत भाषा में वीर्य-तेज-ब्रह्मचर्य एवं आंग्ल भाषा में weakness, Hrosment of Power

यह एक ऐसा तथ्य है जो दृश्य होता हुआ भी अदृश्य है और जिसका
ज्ञान मात्र संगिनी एवं स्वयं पुरुष को होता है । या उसे होता है जो समाज
के स्वास्थ्य की शुभ कामना करने वाला मनोयोगी एवं निस्वार्थ शास्त्रवेत्ता
हो । इनमें भी विशेषकर ज्योतिष एवं योग का मुझे पूरा - पूरा साथ मिला
और सबसे अधिक सहयोग प्रभु एवं लोक सेवा से मिला जिसके कारण यहां पूर्ण
विश्वास से अनुभव को उपस्थित करने में बल भी मिला । सबसे बड़ी उपलब्धि
का कारण है लोगों से सद्द सम्पर्क । जो कि मात्र 25 से 35 वर्षों के आसपास
लोगों के सम्पर्क सूत्र में बन्धना था । यह भी आज के वैज्ञानिकों की भूल ही
कही जायेगी कि यह रोग केवल उन्हीं को होता है जो वैवाहिक योग्य या
सूत्र में बंधे हैं तो ऐसा मानना अनुचित है । यह रोग मात्र आजन्म भी होता
है और आनुवंशीय भी हो सकता है । जिसे डोगरी में दखोंततरा या अवस्था
के अनुसार आगे चल मेह-प्रमेह-मधुमेह की संज्ञा दी जाती है कारण एक ही होता
है वीर्य की कमी का होना या विकरित (विकीर्णता) को प्राप्त होना
इत्यादि । यह रोग अपने रंग रूप को बदलता रहता है और अनेक संज्ञाओं
को प्राप्त होता है । जो असमय सुखी जीवन को बर्बाद (समाप्त) करके
रख देता है । वीर्य रत्न एक ऐसा अनमोल रत्न है जो अमूल्य है हरेक वस्तु या
अंग मनुष्य में प्रत्यारोपित होता है खून, मज्जा, मांस, नाड़ियें, बाल,
हृदय, टांगें, अण्डकोष (गुर्दे) इत्यादि परन्तु वीर्य की कमी को कोई पूरा कर
सकने वाला द्रव्य जो मनुष्य में डालकर यथावत् बनाया जा सके अभी तक प्रदर्शित
नहीं हो सका है । यह वैसा ही तत्व है जैसे गाड़ी में ग्रीस जो गाड़ी के कलपुर्जे
के बार-बार शुष्क होने पर बार-बार आरोपित की जाती है । ग्रीस के

समाप्त होने पर पुर्जे आपस में रगड़ खाते हुये घिसने लगते हैं एवं लोहा पतला पड़ जाता है ०1० ऐसे ही वीर्य की कमी के कारण हड्डियों एवं शरीर के जोड़ों में शुष्कता आ जाता है और कड़ाक - कड़ाक के शब्द जोड़ों से उत्पन्न हो जाते हैं जो शनैः- शनैः शारीरिक वायु एवं कफ को अतिशयात्मक रूपेण प्राप्त होकर एवं पित्त के विकारित होने पर शुक्र रोग (वीर्य रोग) रूपी महामारी का शिकार होकर देहावसान का कारण बनते हैं। यह रोग केवल पुरूषों में ही नहीं होता है अपितु स्त्रियां भी इस रोग से ग्रसित होती हैं। पुरूष तत्व को वीर्य कहते हैं तो स्त्री तत्व को रज की संज्ञा प्राप्त है। परन्तु काम दोनों का एक ही है। जब यह स्त्री जाति से अधिक निःसृत हो जाता है तो उसे कमर में पीड़ा उत्पन्न हो जाती है। भोजन अरूचि कर कहते हैं। वास्तव में रोग भी वहां उत्पन्न होते हैं जहां वीर्य में कमजोरी निर्बलता दिखाई देती है। अतः इसे हम संक्षेप यही कह सकते हैं कि जिसमें वीर्य की हीनता है कमी है वही रोगी है और कमज़ोर है। इस कमजोरी या निर्बलता का शिकार केवल मानव ही नहीं है बल्कि वो समाज भी है जिसने अपने बल को न समझ कर और दूसरी संस्कृति के आगे झुक कर समर्पण कर दिया। जिसका मुख्य कारण था समाज, भाषा, एवं संस्कृति की पूर्णतया अविकसितता जिस समाज की भाषा एवं संस्कृति विकसित होती है एवं जिसके संरक्षक चुस्त दुरूस्त होते हैं वह कभी रोग का शिकार नहीं होती है। काल ग्रसित वही होती है जो अविकसित है और जिसके संरक्षक निर्बल हैं। ऐसे रोगी भी वही है जिसमें वीर्य की कमी है। ऐसा हो ही नहीं सकता है कि जो वीर्यवान है उसे कोई रोग हो। जिसका समर्थन हमारे शास्त्र भी करते हुये कहते हैं कि "रोगी वही होता है जो अधातु होता है।

विद्वान वही है जो अर्थात् शब्दों को प्रयोग में लाता है । नास्तिक वह है जो प्रभु पर विश्वास नहीं करते और चन्द्रमा केवल अमावस्या के पश्चात् पड़ने वाली प्रतिपदा को दिखाई नहीं देता है " धातु एवं शब्द निर्माणार्थी उत्पन्न व्याकरण सूत्र हमें उपरिलिखित तथ्यों की जानकारी भी उपलब्ध कराते हैं जिनमें कुछेक मुख्य हैं ।" इसी प्रकार से ज्ञात होता है कि जीवन को स्थिर यदि रखना है तो वीर्य पर नियन्त्रण रखना परमावश्यक है । परन्तु यह भी सत्य है कि आज भी वैद्य इस धर्म पर प्रकाश नहीं डाल सका है । आज भी उनकी यांत्रिक प्रयोग शालायें जितनी अधिक अन्य क्षेत्रों में विकासदर से ऊंची है उतनी ही नहीं बल्कि इस क्षेत्र में बिल्कुल ही नहीं शत प्रतिशत असफल है जिसमें स्वयं का अनुभव पूर्णतः लिखने तक जीवित है । बहुत से परिवार [कुटुम्ब] [गृहस्थी] ऐसे हैं जिनके सन्तान न हो रही है । जबकि डाक्टरीय परीक्षणानुगत वह पूर्णतः उत्तीर्ण हैं । परन्तु वे उत्तीर्ण होते हुये भी अनुत्तीर्ण है जिसको स्वयं यदि समाज चाहे तो व्यक्तियों को उपस्थित रखा जा सकता है । कारण वीर्य की क्षति को प्राप्त होना , वीर्य का पतला पड़ जाना, पूर्णतः सम्भोग से पूर्वपतित हो जाना ऐसे ही जैसे अश्वाक पर बीज पड़ा रहे अर्थात् प्रसव उत्पत्ति स्थल से पूर्वमेव पतित होना एवं वीर्य में विकार उत्पन्न होना पाये गये हैं जिसका ज्ञान हमें गुह ज्ञान ने करवाया है तथा हमारी परिस्थितियों ने अर्जित करने के लिए न चाहते हुये भी विवश किया है ।

उक्त विद्वान की दृशो वचन ब्रूते को रोगी कश्च नास्तिकः ।
की दृश चन्द्रं न पश्यन्ति पाणिनि तत् सूत्रं वद् ।
[अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् ।। अर्थवत्-अधातुः-अप्रत्यय-प्रातिपदिकम् ।
- पाणिनीय व्याकरण ल॰ सि॰ कौ॰ अ॰ पु॰ 1/2/45

समय पर क्षुधा नहीं लगती असमय भोजन एवं मुख सूखने लगता है । गले से नीचे पीड़ा उत्पन्न हो जाता है । वक्षस्थल में भी पीड़ा उत्पन्न होती है । वैद्य यंत्रों से अदृश्य रहती है । शुष्क कफ का वेग बढ़ जाता है व्यक्ति रोगग्रस्त होता है परन्तु वैद्य विशारद (डाक्टर) रोगी को वहमी कहने लगते हैं । यही रोग आगे बढ़ता हुआ यकृत रोग, प्लीहा रोग, यक्ष्मा रोगादि का कारण बनता है । इसके अतिरिक्त उन्माद रोग का भी कारण बनता है जब यही वीर्य प्राकृतिक अवस्था से शरीर में अधिक बढ़ जाता है जब भी यदि कम हो जाये तब भी । दोनों ही प्रकार से उन्माद का कारण बन जाता है । जिसका उल्लेख स्वयं लिखित जीवशतकम् में परीक्षित रूपेण संकलित हो चुका है । परन्तु इतना ही नहीं बल्कि गल्त उपचार एवं निदान से यही वीर्य रोग कुष्ठक को अर्बुद (कैंसर) या व्रण रोग का भी कारण बनता है । जैसा कि पूर्व लिखा जा चुका है कि इसका पता लगाने में आज भी वैद्य चिकित्सा पद्धति एवं यांत्रिक प्रणाली अधिकाधिक रूपेण असफल सी दिखाई देती है । दूसरा कारण इस पर अनुसंधान न होना है । यही तेज है जो चराचर जगत् को प्रकाशित करता है । इसे सूर्य भी कह सकते है जैसे सूर्य प्रकाश के बिना सकल जगत् अन्धेरे की चपेट में आ जाता है ऐसे ही वीर्य की कमी के कारण भी सकल शरीर में अन्धेरा छा जाता है । यद्यपि सौर ऊर्जा या विद्युत प्रकाश से हम प्रकाश पाते है परन्तु उतना नहीं जितना सूर्य देव प्रकाशित करता है अर्थात् जो ईश्वरीय प्रकाश है वह सत्यभूत सम्पूर्ण जगत् को आलोकित करने वाला सूर्य देव में ही विद्यमान है । मनुष्य मात्र द्वारा निर्मित एक जुगुनु के तुल्य ही तो है । ऐसे शरीर में भी होता है ।

ऐसा नहीं कि इस तत्व का देह से नाश हो जाता है बल्कि जैसे बादलों के छा जाने से कभी कभी हम देखते हैं कि दिन में अन्धेरा छा जाता है वैसे ही मनुष्य जीवन में भी इसकी कमी से एवं रोगों के छा जाने से होता है। उसकी ही न्यूनता से मनुष्य की प्राकृतिक नेत्र दृष्टि में कमजोरी आ जाती है। वही मनुष्य जो अपने पुत्रों को कभी अच्छी तरह पहचानता था आज पहचानने में असमर्थ हो जाता है, श्रवणेन्द्रिय कमजोर पड़ जाती है, दांतों की चर्बन क्षीण हो जाती है। दान्त टूटने का कारण भी प्रमुख रूपेण यही है एवं मनुष्य की सांस अधिक फूलने लगती है। घबराहट आती है रात को सुख से नींद नहीं आती बुरे - बुरे स्वप्न देखता है, जिसमें मृत शरीरी बच्चे, रात को स्वप्न में दुराचार से ग्रसित होना जल में नहाना, भोग करना अग्नि इत्यादि का दर्शन होना एवं डर के मारे दौड़ना पहाड़ों पर चढ़ना चढ़कर गिरना, गिर कर घबराना इत्यादि सब कुछ अशुभ घटित होने लगता है यह एक ऐसे तथ्य हैं जो सर्वत्र समाज में उपलब्ध है परन्तु महत्वपूर्ण होते हुये भी इन पर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया जा रहा है।

ऊपर चर्चा अधिकतर स्वप्न की हुई जबकि दिन में भी जागते समय बैठे बिठाये इन्हें मृत प्राणियों के दर्शन होने लगते हैं चलते - चलते गिर जाना, अधिकतर एक स्थान पर बैठ नहीं सकना, चले -फिरते रहना, हर कार्य तेजी-तेजी से करना, जल्दी - जल्दी बोलना धैर्य की कमी (सहिष्णुता का नाश) निरर्थक बहस करना असमय कार्य करना, विस्मृति को प्राप्त होना, सही उपचार को न निभा पाना एक कार्य पर से सहसा मन का घुराना,

देखा देखी करना अपने पर स्थिर न रहना इत्यादि ही नहीं बल्कि और भी

बहुत से दोष हैं जिनका अनुमान कमजोरी है सबसे बड़ी बात अपने आप में

विश्वास की कमी एवं मानसिक दुर्बलता है । यह मानसिक दुर्बलता एक देश में

ही नहीं बल्कि हर एक क्षेत्र में देखी जा सकती है । ऐसे लोगों के पास उत्साह

अधिक एवं बल कम होता है । यही कारण है कि बहुत जल्दी लड़ाई - झगड़ों

का शिकार हो जाते हैं । आप देख सकते हैं कि मस्त सांड की अपेक्षा निर्बल बैल

ज्यादा जोश दिखाता हुआ हुंकार नाद करता है । ऐसे ही मनुष्य की निर्बलता

है । यही लोग ऐसे होते हैं जो अन्ध विश्वास का शिकार हो जाते हैं । इन्हें

ही हत्या लगती है अभिचार कर्म से ग्रसित हो जाते हैं और समाज के कुछ तांत्रिकों

के द्वारा ठगे जाते हैं । मूल रूपेण कारण एक ही है वह है इस ओर समाज के

वैद्य विशारदों का ध्यान न होना । अन्ध विश्वास में इस कारण भी पड़ते हैं ।

इनका लोक में कोई प्रत्यक्ष उपचार ही दिखाई नहीं देता वास्तविकतया न तो

स्वयं ऐसा समाज ही उगलना चाहता है और न ही इस ओर वैद्य विशारदों का

ध्यान ही जाता है । यह बातें सब बाह्यकरणीय न होकर अन्त:करण से सम्बन्ध

रखती हैं और अन्त:करण का ज्ञान यन्त्रों के माध्यम हो कहना असम्भव है यही

कारण है कि आज अल्ट्रा साउंड एक्सरे तक भी कुछेक पीडाओं का पता लगाने

में असमर्थ दिखाई दे रहे हैं । इसका पता लगाने के लिए वेदांग में आने वाले

शास्त्रों के साथ-साथ मनोयोग का ज्ञान होना भी वैद्य विशारद के लिए परमावश्यक

हो जाता है । मनोयोगी इन सब बातों को एकत्र कर लेता है जब वह अपने मन

को नियन्त्रित करता हुआ अपने वश में की हुई इन्द्रियों (बुद्धि - इन्द्रियों)

को आदेश देता है और नुकीली इन्द्रियों से मनुष्य की वेदना का पता लगाते हुये वेदना को भी समाप्त कर देता है।

बाह्य करणों का इलाज (उपचार) सम्भव है परन्तु अन्तःकरण का उपचार कठिन है परन्तु असम्भव नहीं है। इसमें अनुमान प्रमाण एवं शब्द प्रमाण प्रत्यक्ष के साथ-साथ अधिक सक्षम दिखाई देते हैं। अतः वीर्य शक्ति अन्तः करणीय है जिसका पता हमें शब्द प्रमाण से चलता है जैसे श्रुति कहती है कि हे वीर्य (शुक्र)। तुम तेज हो, शुक्र हो, अमृत हो धामनामसि सांस लेने वाली धमनियां हो, देवताओं में देवता हो अदृश्य हो अतः हे दिव्य गुणों से युक्त तेज में आप (तुम) यजनशील हो (यज्ञशील हो) अतः हे मनुष्यों जितेन्द्रिय बनकर इसका यज्ञ करो और तुम्हें भी तेज प्राप्त हो। ताकि तुम सौ सौ वर्षों तक सुख से मन्त्रों का उच्चारण कर सको, बलशाली बने रहो, सुखपूर्वक देख सको, सुखपूर्वक सुन सको, वंश की वृद्धि कर सको प्रवर को बढ़ाने वाला है और इसकी शिक्षा सबको समान दो ताकि सब प्राणी शतजीवि होये। तथा इसी सत्ता को बनाये रखने के लिए वहीं सर्वोत्तम औषधी का भी वर्णन मिलता है जो वसा एवं धमनियों के लिए सम्यक् स्वास्थ्य लाभ प्रदान कर सकती है। इसी के विषय में आगे श्रुति कहती है। इस स्थिति को यथावत् बनाये रखने के लिए गौ का घृत सर्वश्रेष्ठ औषधी है - कैसे ? "ॐ घृत सर्वश्रेष्ठ औषधी है, इसके पान से वसाओं में सर्वश्रेष्ठ मानवीय वसा शुद्ध एवं स्वस्थ होती है जब इसे मनुष्य पीता है तो उसका अन्तःकरणीय क्षेत्र शुद्ध होता है और जब इसे हवन के माध्यम से अन्तरिक्ष पी लेता है तो अन्तरिक्ष में रहने वाली

---

1. तेजोऽसि शुक्रमसिअमृतमसि धामनामसि प्रियदेवानामनाधृष्टं देवयजनमसि ।। शु० य० अ० 1/31
   ....स्वाहा ।।
   -शुक्ल यजुर्वेद अ० 6 मं० 19

घृतं - घृतं पावानः ....

दशो दिशायें, प्रदिशायें आदिदशायें -विदिशायें एवं उद्दिशायें जो कि बिल्कुल नासिका के निकट बहने वाला वायु है वह भी शुद्ध हो जाता है इससे मधुर रस युक्त वर्षा भी होती है अतः वीर्य का दूसरा नाम घृत भी है {घृतमायुः} । अतः वीर्य की पुष्टि के लिए घृत का सेवन करना चाहिये । यदि मनुष्य समय रहते इस ओर ध्यान नहीं देता है तो उसे वैसे ही अग्नि जलाकर भस्म कर देती है जैसे प्रचण्ड अग्नि समिधाओं को जलाती हैं जब देह में वे समिधायें हड्डियां विशेष ही होती हैं । हम देखते हैं कि जैसे समय रहते हवन की अग्नि में घी को आहुति न जाता रहे तब समिधायें अधिक जलती हैं और जब घी की आहुति चलती रहती है तब समिधायें मात्र प्रज्वल्लन का काम करती है और घी अग्नि के माध्यम से आकाश चारी हो जाता है जैसा कि स्वयं लिखित पुस्तक में लिखा जा चुका है । इसी को कमी के कारण प्राणी गैस { एस०डी०टी० } अपाचनता का शिकार हो जाते हैं । जो कि आज महामारी बन चुकी है ऐसा कोई भी प्राणी नहीं दिखाई देता जो इस बिमारी से ग्रसित न हो । परन्तु आयुर्वेद शास्त्रों का कथन है कि समय रहते इस पर घी के माध्यम से नियन्त्रण पाया जा सकता है । क्रम से अनुमात्र के सेवन की विधि पूर्वक प्रयोग में लाना चाहिये ऐसे ही जैसे प्रज्जवलित मन्द पड़ती हुई अग्नि में क्रमशः बूंद- बूंद {स्वेद-स्वेद} अणुमात्र घी डालने से जैसे अग्निपूर्व जैसी सत्ता को लौट आती है वैसे ही समय रहते मनुष्य को घी का अल्पमात्रा से प्रारम्भ कर क्रमश बढ़ते हुये सेवन करना चाहिये । जिससे बलवीर्य को पुनः प्राप्त किया जा सके । इसका महत्व जितना लौकिक जगत् में मनुष्य के लिए है उतना ही अलौकिकता की प्राप्ति हेतु भी है बलहीन मनुष्य योग को प्राप्त नहीं कर सकता है वह स्वाध्याय भी कर पाने में असमर्थ है । वह तो जितेन्द्रिय भी तो नहीं बन सकता ।अतः ब्रह्मचर्य को

विधिपूर्वक पालन करना चाहिये ताकि उआदि सिद्धियों पर प्रतिष्ठा नियन्त्रण पाने के लिए वीर्य का लाभ उठाया जा सके ।

परन्तु ब्रह्मचर्य और ब्रह्मचारी शब्द आज समाज में रूढ़ी वादी हो चला है । यही कारण रहा जिसके कारण हम लोग योग से शनैः शनैः पीछे हटते गये । आज जो ब्रह्मचारी का अर्थ निकाला जाता है वह अविवाहित अर्थ में प्रतीति होती है । परन्तु क्या यही वास्तविकता है कि जो अविवाहित है वही ब्रह्मचारी होता है । परन्तु ऐसा नहीं है । इसमें भी भिन्न श्रेणियां आती हैं । एक गृहस्थी भी ब्रह्मचारी होता है । जो समय का प्रतिपालन करता हुआ योग धर्म का पालन करता है । जैसे कृषक पृथ्वी में बीज वपन कर डाल देकर रुक देता है ऐसे ही जो गृहस्थी इस नियम का पालन करता हुआ जीवन व्यतीत करता है वह ब्रह्मचारी होता है जैसा कि स्मृतियों का भी वचन है । जिसमें याज्ञवल्क्य का कथन है कि -

ऋतुमति स्त्री षोडश दिनों (सोलह) दिन तक आद्रता में रहती है और ऋतु दर्शन के पूर्वक चार दिनों को त्याग करते हुये पति को युग्म दिनों में अर्थात् छठे, आठवें, दसवें, बारहवें, चौदहवें दिन ब्रह्मचर्यपूर्वक संभोगानन्द समाधि आनन्द लेना चाहिये । इससे अतिरिक्त दिनों का सेवन नहीं करना चाहिये यही ब्रह्मचारी धर्म है ।

1- षोडशर्तुनिशाः स्त्रीणां, तस्मि युग्मासुसंविशेत ।
ब्रह्मचोर्यव पर्वण्याद्याश्चतस्त्रस्तु वर्जयेत ।। -याज्ञवल्क्य स्मृति, आचाराध्याय, 7।

दूसरा पक्ष नैष्ठिक ब्रह्मचारी का है जिसके लिए कहा गया है कि
"नैष्ठिक ब्रह्मचारी आचार्य के निकट रहते हुये उसके परलोक गमनान्तर
आचार्य पुत्र, आचार्यपत्नी या वैश्वानर अग्नि की सन्निकट धर्म पूर्वक जीवन
व्यतीत करना चाहिये। पूर्व वर्णित दोनों ही ब्रह्मचारी हैं[1]। जिनमें पौराणिक
सनकादि से नारद पर्यन्त एवं रामायण महाकाव्य में वर्णित "ऋष्य श्रृंग" इत्यादि
तथा आधुनिक युग में स्वामी विवेकानन्द का भी ब्रह्मचर्य वर्णनीय बन जाता है।
अतः जो आज समाज इस कुकृत्य के रोग से ग्रसित है। इससे मुक्ति के लिए भी
ब्रह्मचर्य का पाठ आवश्यक बन जाता है। जिस समाज का ब्रह्मचर्य क्षीण होगा
उसकी आने वाली पीढ़ी उससे भी क्षीण होती चली जायेगी। इसकी जानकारी
एवं संरक्षण के उपायों पर जैसे कि चाणक्य ने कौटिल्यार्थ शास्त्र में निर्देश किये
हैं उनका प्रतिपालन आवश्यक हो जाता है। क्योंकि कामुकता के रोग से ग्रस्त
बहुतायत रूप में पशुओं से लेकर मनुष्य सब एक जैसे उदाहरण देखने पढ़ने एवं सुनने
को मिल रहे हैं। इसीलिए चाणक्य ने कहा था कि युवावस्था युवकों को
ज्ञानवृद्धों के सन्निधि में ज्ञान प्राप्त करते हुये व्यतीत करनी चाहिये"[2]।

1- नैष्ठिक ब्रह्मचारी तु वसेदाचार्यसन्निधौ।
तदभावेऽस्य तनये पत्न्यां वैश्वानरेऽपि वा ॥ -याज्ञवल्क्य स्मृति,
आचाराध्याय, 49

2- ब्रह्मचारिणः स्वाध्यायोऽग्निकार्याभिषेकौ भैक्षव्रतत्वमाचार्ये प्राणान्तिकी
वृत्तिस्तद् अभावे गुरूपुत्रे सब्रह्मचारिणी वा ॥ चाणक्यः ॥
कौटिल्य अर्थशास्त्र, द्वितीय अध्याय प्रकरण - 1, पृ0 - 13

यह एक ऐसा धन है जो व्यक्ति को मदमस्त बना देता है ऐसे ही जैसे धन का नशा या दूसरी सम्पदा एवं स्वामित्व का नशा मदमस्त बना देता है इनमें भी यौवन का नशा अति महत्वपूर्ण एवं प्रथम स्थान पर स्थित है[1]। भारवि। जो सदाचार का पालन नहीं करते हैं वह साक्षात् पशु है[2]। परन्तु तदनन्तरमपि बलात्कार जैसी घटनायें बढ़ती हुई जनसंख्या के साथ- साथ बढ़ती ही चली जा रही हैं। जो कि समाज के सभ्य वर्ग की भी निद्रा में भंग डालती चली जा रही हैं। ब्रह्मचर्य का पालन सुस्वस्था एवं स्वच्छ समाज की स्थापना के लिए महत्वपूर्ण बन जाता है।

अतः इन सब तथ्यों से पता चलता है कि जो योग शिक्षा आधुनिक युग में पुनः उभर कर सामने आयी है, वह ज्ञानपरक न होकर शारीरिक सौंदर्यपरक है। योग की शिक्षा तब तक न्यायोचित नहीं लगती, जब तक इसमें यमान्तर्गत सदाचार का पालन नहीं होगा, जिनमें ब्रह्मचर्य भी महत्वपूर्ण है, जो लोक के साथ-साथ अलौकिक ज्ञान में भी महत्वपूर्ण स्थान रखता है। जैसे लोक में स्वास्थ्य के क्षेत्र की दृष्टि से महत्वपूर्ण है, वैसे ही मोक्ष विषयक ज्ञान में भी महत्वपूर्ण स्थान रखता है। विशेषकर योगासनों में विजय एवं अहादि शब्द सिद्धियों के लिए भी महत्वपूर्ण है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है उपस्थेन्द्रिय पर नियन्त्रण करना है और इसे आठ प्रकार से किया जा सकता है जैसे - दर्शन, स्पर्शन, स्मरण, क्रीड़न, कीर्तन, एकान्तास, गुह्य भाषण, क्रियानिवृत्ति।

---

1 - यौवन धन सम्पत्ति प्रभुत्वमविवेकिता। एकैकमप्यनर्थायकियुयत्र चतुष्टयम्॥ भारवि
2 - आहारनिद्राभयमैथुनञ्च सामान्यमेतद् पशुभिर्नराणाम्।
ज्ञानंहि तेषां अधिकं विशेषो ज्ञानेन हीना पशुभिः समाना॥ हि० २३

जिसे महर्षि पतंजली जी ने अपने सूत्र शैली में गूंथित किया है ।
महर्षि पतंजलि लिखते हैं कि ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा (प्राप्ति) से वीर्य शक्ति
का लाभ होता है । जिससे योग साधनों में प्राप्ति हेतु तीव्रता आती है और
रामबाण की तरह काम करता है जिसके छोड़ने संधान करने मात्र से "मरीच एवं
समुद्र भी डरते हैं ।" ऐसे ही ब्रह्मचर्य का वीर्य लाभ भी कैवल्य में लक्ष्य वेधक
होता है । अन्य भक्ति योग एवं क्रिया योग के साथ साथ इस तथ्य को सामने
रखकर भी ईश्वर प्रणिधान को उन्होंने पुनः पुन कहा होगा क्योंकि निर्बल
व्यक्ति योग लाभ में असमर्थ दिखाई देता है और जो निर्बल होता है वह केवल
राग अलापता है , प्रायश्चित करता हुआ अपने दुखड़े रोता हुआ अपने प्रभु के
आगे रोता है । जो वीर्यवान है वह प्रभु को विवश कर देता है । ऐसे ही जैसे
अर्जुन जैसा मेधावी शिष्य गुरुद्रोणाचार्य को पूर्णतः दिल से सम्यक शिक्षा देने के
लिए विवश करता है । विवेक ज्ञान भी तभी प्राप्त होता है जब व्यक्ति सुस्थिर
हो और सुस्थिरता का रहस्य छिपा हुआ है वीर्य लाभ में, जिसका ज्ञान हमें यम
साधन के अन्तर्भूत योग से मिलता है । भगवान श्री कृष्ण ने स्वयं गीता में कहा है
कि - मैं हे अर्जुन मैं हमेशा अपने शिष्य के वश में रहता हूं । इनमें ऐतिहासिक
धन्नाजट्ट - भक्त नृसिंहदास, मीरा बाई एवं तुलसीदास सूरदास जैसे भक्तों को
भी प्रभु प्राप्ति वर्णनीय है ।।

16 वर्ष से पूर्व एवं 80 वर्ष बाद कभी भी भोग नहीं करना चाहिये इससे मनुष्य वीर्यहीन सा होता है। और सूखे काष्ठ की तरह हो जाता है ~~यह इक्षुरस इव दोधि के नी के समान सम्पूर्ण देह में रहता है~~[2]

1 - ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ।। - पा० यो० सू० - 2/38

अहादि शब्द सिद्धयः ।। - व्यासभाष्य ।।

2 - नर्तेव षोडशाद्वर्षात् सप्तत्या परतो न च । चरक संहिता चि० स्थान -2/4/40

आयुष्कामो नरः स्त्रिभिः संयोगं कर्तुमर्हति ।। स्पष्टमाभुर्विशीर्यत तथा वृद्धः

शुष्कं रूक्षं यथाकाष्टं जन्तुदग्धं विजर्जनम् । क्षयंगच्छत्यनशनात् स्त्रीणां

स्त्रियो व्रजन् ।। - चरक सं० 2/4/42

जरया चिन्तय शुक्रं व्याधिभिः कर्मकर्षणात् । सर्वत्रानुगतं देहे, शुक्रं संस्पर्श नेत्रथा ।।
चरक सं० 2/4/46

वातिनोवनात् । - चरक सं० 2/4/43

रस इक्षौ यथा दध्नि सर्पिस्तैलं तिले यथा ।

[illegible]

ड़. – अपरिग्रह

अहिंसादि धर्म साधनों में यदि सबसे उत्तम व्रत कोई है तो वह अपरिग्रह ही है । इस व्रत की विशेषता मनुष्य की उदर से संयोजित है । मनुष्य सब कुछ सहन कर सकता है । अहिंसा को अपनाकर जीवन व्यतीत किया जा सकता है । सत्य के बल पर जीवन यापन हो सकता है । अस्तेय बने रहने में कोई कठिनाई नहीं और ब्रह्मचर्य धर्म का पालन भी गुरूजनों के समीप रहकर एवं उन गुरूओं की सेवारत रहते हुये सुखी जीवन व्यतीत किया जा सकता है परन्तु अपरिग्रह मनुष्य की वास्तविक परीक्षा है । यह ऐसी परीक्षा है जिसने बड़े-बड़े विद्वानों एवं सुदामा जैसे स्वाभिमानियों को भी हिलाकर रख दिया विवश किया श्री कृष्ण जी से मिलने के लिए । वो चाहे बाहिर से माने या न माने परन्तु आभ्यन्तर से तो कुछ याचना एवं सहायता के लिए ही तो घर से पत्नी के कथनानुसार निकले थे । जिनके भावों को योगीश्वर श्रीकृष्ण जान गये थे तथा जो चाहते थे उससे कहीं अधिक अच्छा प्रदान किया । ऐसे ही अनेक उदाहरण मिलते हैं ।

इसलिये महर्षि पतञ्जली जी ने इस अपरिग्रह को अति महत्वपूर्ण व्रत कहा है जिसके प्रतिपालन से मनुष्य को त्रिकाल का ज्ञान हो जाता है[1] । मैं कौन हूं, कौन था, क्यों आया हूं, कौन, कौन से पाप किये थे एवं इनकी निवृत्ति कैसे होगी इन सबका पता ज्ञान अपरिग्रह से ही चलता है और योग में इसी बात का पता लगाना तो मनुष्य का प्रयास रहा है क्योंकि इससे परिचित होने पर मनुष्य सुगमता से विजितेन्द्रिय रहकर गर्भ में कृमि बनकर आने से बच सकता है अर्थात् मुक्ति के मार्ग को अपनाकर (ग्रहण कर) मुक्त हो सकता है ।

1 – अपरिग्रहस्थैर्य जन्म कथन्ता सम्बोधः । पा० यो० सू० पा० 2 सू० 39

इन सबके अतिरिक्त इस विधि के नियम भी कठोर हैं । जैसे कूर्म पुराण में लिखा गया है कि - "आपत्ति काल में भी इच्छापूर्वक द्रव्य का ग्रहण न करना अपरिग्रह कहा जाता है[1]"

इन सब व्रतों का पालन एवं विधान क्रमशः एक दूसरे से अभिन्न सम्बन्ध रखता है । तथापि इन सबका प्रतिपालन जितनी सुगमता से ब्रह्मचारी कर सकता है, इतना अधिक गृहस्थी नहीं । गृहस्थ नाम बहुत बड़ी संस्था का है, वहाँ सबको साथ लेकर चलना पड़ता है । वहाँ पर समय असमय विपत्तियाँ आती जाती रहती हैं कोई अपने लिये चाहते हुये भी न करे परन्तु पत्नी एवं परिवार, न चाहते हुये भी करने के लिए विवश करके रख देता है । इसलिए उनके लिए दान तपस्या, जप होम व्रत इत्यादि सुकृत्य करने का भी शास्त्रों में विधान है । क्योंकि गृहस्थ में रहते मनुष्य से पाप कर्म होना स्वाभाविक है । उसी शान्ति के लिए शास्त्रज्ञों ने शुभकर्म को सम्पादन के लिए भी उपदिष्ट किया है । अतः पातंजल योग दर्शन का यह कहना कि "जातिदेशकाल समयादि बन्धनों से ऊपर उठकर ही मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है । यह परम सत्य है एवं व्यावहारिक है । इन अहिंसा व्रतों का पालन करना होगा तभी निःश्रेयस (मोक्ष) की कैवल्य की उपलब्धि होगी । इसीलिए नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहते हुये ही सुगमता से अपरिग्रह धर्म का पालन करने में सुगमता दिखाई देती है और यह मनुष्य की अन्तिम परीक्षा भी है । जो इसमें सफल हो जाते हैं । वही वास्तव में योग पर विजय भी प्राप्त कर लेते हैं ऐसा स्वयं का भी अनुभव है ।

---

1 - द्रव्याणामप्यनादानमभापद्यपि यथेच्छया ।
अपरिग्रह इत्याहुस्तं प्रयत्नेनपालयेत् ।। - कू0पु0उ0 - 302,19

यम एवं नियम को मिलाकर संयम का निर्माण होता है अर्थात् यम नियमों को सम्मिलित रूप से संयम की संज्ञा प्राप्त है ।

इसी संदर्भ में विष्णु पुराण में इन यम और नियमों का प्रदर्शन किया गया है -

"अपने मन को (आत्मा का चिन्तन करने के) समर्थ बनाते हुये, निष्काम भाव से (फल की कामना न करते हुये) योगी ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सत्य अस्तेय एवं अपरिग्रह का सेवन करे ।

नियम

अपने मन का निग्रह करके नियतात्मवान् योगी स्वाध्याय, शौच, सन्तोष तथा तप करे और उसी प्रकार परब्रह्म में मन को आसक्त कर दे अर्थात् ईश्वर प्रणिधान करे । नियमों के साथ ये पांच - पांच की संख्या में बतलाये गये हैं । निष्काम भाव से करने पर ये विमुक्ति देते हैं । जबकि सकाम भाव से करने पर भी विशेष फल देते हैं ।[1] "

---

1 - ब्रह्मचर्यमहिंसा च सत्यास्तेयापरिग्रहान् ।
सेवेत योगी निष्कामो योग्यतां स्वं मनो नयन् ।।
स्वाध्याय शौच सन्तोष तपांसि नियतात्मवान् ।
कुर्वीत ब्रह्मणि तथा परस्मिन्प्रवणं मनः ।।
एते यमाः सनियमाः पञ्च-पञ्च प्रकीर्तिताः ।
विशिष्टफलदाः कामे निष्कामाणां विमुक्तिदाः ।।

- वि०पु० या० -6, अ०-7, श्लो० - 36 - 38

शौच

योग में शौच एक ऐसा मूल भूत नियम है जो केवल योगी के लिए ही नहीं अपितु सभी के लिए अपेक्ष है ।

शौच का अर्थ = पवित्र = पाक स्वच्छ = शुद्ध एवं संस्कृत होता है[1]।

जिसका तात्पर्य है हर प्रकार से शुद्ध रहना प्रत्येक व्यवहार में शुद्धता को बनाये रखना तथा स्वच्छता को अपनाना । भक्ष्य भोज्य लेह्य चोष्य एवं आवास निवास परिधान सब का शुद्ध एवं स्वच्छ होना है । इससे मनुष्य की गुणवता का पता चलता है । आयुर्वेद शास्त्रों का कथन है कि "मनुष्य को सदा अनवरत शुद्ध परिधान धारण करना चाहिये । शुद्ध भोजन लेना चाहिये । आवास निवास शुद्ध होना चाहिये तथा मनुष्य को शारीरिक रूपेण भी शुद्ध एवं स्वच्छ रहना चाहिये " । इससे मनुष्य बाह्य भाव से तो शुद्ध एवं स्वच्छ दिखाई देता ही है इससे उसका मन भी प्रसन्न रहने लगता है जिसे प्रसन्नचित्त भी कहते हैं । यह प्रसन्न चित्ता मनुष्य की सामाजिक जगत् में अभ्युत्थान में महत्वपूर्ण योग दान प्रदान करती है । "इससे मनुष्य में कुछ अच्छा कर सकने का उत्साह मिलता है और व्यवहार में सद्पुरुषों जिन्हें हम धनी वर्ग कहते हैं । उनसे शनैः शनैः तालमेल (संयोग) बनता है । वह एक अच्छा नागरिक बन जाता है"[2]। जबकि अशौच भी एक निर्धनता का कारण माना गया है ।

---

1. शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ।। - पा०यो०द० - 2/40

2. काम्यं यशस्यमायुष्यमलक्ष्मीघ्नं प्रहर्षणम् ।
श्रीमत् पारिषदं शस्तं निर्मलाम्बरधारणम् ।।- चरक संहिता, सूत्रस्थान 5/96

ऐसे ही योगी के लिए भी शौच मुख्य कृत्य है । जिसके विषय में पतञ्जलि लिखते हैं कि "शौच से मनुष्य के स्वशरीरावयवों के प्रति भी जुगुप्सा का भाव पैदा होता है और दूसरों से भी घृणा पैदा होती है"[1]। जिससे उसे समाधि में सहयोग भी प्राप्त होता है । इसका अर्थ है कि मनुष्य का मन कुसुमित हो जाता है कुछ हल्का होता है जिससे वह ऊर्ध्वगमन करने की चेष्टा रखता है । जब योगी मन का आश्रय पाकर शौच विधि को अपनाता है तो निश्चय ही उसे समाधि में आने वाली देरी के कारणों से कुछ निवृत्ति प्राप्त हो जाती है ।

इससे वह मलिन रूपी समाज से तो दूर चला ही जाता है जबकि वह शरीर को भी घृणित मानता हुआ अन्तःकरण को ही श्रेष्ठ मानने लगता है । उसका हरेक पक्ष पवित्र होता जाता है । वह निश्चित ही मिट्टी आदि से शरीर की शुद्धता तो करता ही है बल्कि उसका प्रेम उसका वचन, श्रवण, अनुगमन, साउर आदर आतिथ्य शयन जागरण भक्ति पूजा पाठ जप तप ध्यान दान वरदान सर्वस्व पवित्र होता है । इस पवित्रता का लक्ष्य है हरि की प्राप्ति अर्थात् आत्म ज्ञान की प्राप्ति होता है । व्यास भाष्य के अनुसार भी शौच से जब मन शुद्ध होता है तब उसे स्वशरीर एवं अवयवों, आत्मजों एवं पत्नी आदि से भी पाशविक प्रेम नहीं रहता । तब उसका प्रेम निष्काम भाव से रहता है वह किसी भी वस्तु में सकामभाव नहीं रखता । यही कारण है कि जिससे उसे समाधि प्राप्ति में सरलता प्राप्त होती है । इससे इन्द्रियों पर नियन्त्रण स्थापित कर मन को एकाग्र करने में भी महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त होती है ।

1— शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥ पा०यो०द० 2/40

शौचता का तात्पर्य वास्तव में चरक द्वारा सद्वृत्त में कहे साधनों का
ही एक रूप है जिसमें चरक कहते हैं कि पञ्च पञ्चक मन का विचार जो कि
"इन्द्रियों पक्रमणीय अध्याय में भी कहा गया है एवं इस सद्वृत्त के
अनुपालन से लोक में धर्म अर्थ रूप से यश फैला कर अन्ततः पुण्य लोकों को प्राप्त
करता है ।[1]

इसी की ओर भी सुस्पष्ट करते हुये महर्षि पतञ्जली लिखते हैं कि इस
"पवित्रता के कारण स्वरूप ही सत्व शुद्धि (मन की शुद्धि) सौमनस्यता (प्रसन्न
चित्तता) ऐकाग्र्य=चित्त में एकाग्रता, मन द्वारा इन्द्रियों पर विजयता
तथा आत्मदर्शन की योग्यता सिद्ध होती है[2]। समाधि लाभ की क्रमशः सीढ़ियों
के रूप में ही इनका उल्लेख किया गया है। जबकि इनका समाधि से सीधे
कोई भी सम्पर्क नहीं दिखाई देता है। परन्तु तदनन्तर मपि मनुष्य में समाधि
की प्राप्ति में आशुता आती है। क्योंकि इससे मनुष्य बाह्याभ्यन्तर दोनों
ओर से शारीरिक देह एवं अन्तःकरण की शुद्धता में प्रतिशत रूपेण अधिक वृद्धि
होती है। इसलिये शौच एक मुख्य कृत्य माना गया है।

---

1. पञ्चपञ्चकमुद्दिष्टं मनोहेतु चतुष्टयम् । इन्द्रियोपक्रमेऽध्याये सद्वृतमखिलेनच ।।
स्वस्थवृत्तं यथोद्दिष्टं यासम्यगनुतिष्ठति । ससमाः शतमव्याधिरायुषा
न वियुज्यते ।। नृलोकमापूरयते यशसा साधुसंमतः । धर्मार्थाविति भूतानां
बन्धुता मुप गच्छति ।। परान् सुकृतिकोलोकान् पुण्यकर्मा प्रपद्यते ।
तस्माद् वृत्तमनुष्ठेयमिद सर्वेण सर्वदा ।।

– चरक, इन्द्रियोपक्रमणीय अध्याय संख्या –8, श्लोक – 30–33

2. सत्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शन योग्यत्वानि च ।।

– पा०यो० द० – 2/41

सन्तोष

योगदर्शन एवं दार्शनिक जगत् की जितनी भी प्रशंसा की जाये कम ही होगी । भारतवर्ष एवं भारतीय संस्कृति तथा उससे निष्पन्न धर्म सभी के सभी अपने - अपने स्थान पर महत्वपूर्ण हैं । इन सबमें केवल एक ही अंतर है , कुछ नास्तिक है § वह सीधे ईश्वरपरक न होकर गुरूपरक हैं § जबकि वेदान्तादि शेष सबके सब ईश्वर परक आस्तिक हैं । लेकिन उनमें निहित ग्रंथी कालियां बनये गये नियम लगभग एक जैसे मिलते हैं । जैसे कि बुद्ध भी अपने उपदेशों में सम्यक् ज्ञान , समाधि आदि की बात करते हैं तो उसी से निष्पन्न योग चार योगांगों का आश्रय लेते हुये दिखाई देते हैं । ऐसे ही जैन दार्शनिक तो लगभग पूर्णतया योग में दर्शाये गये योगांगों को एक स्वर से स्वीकार करते हैं । यम नियमों का पालन करते हुये आत्म लाभ को प्राप्त होते है । उन्हीं दर्शनों में प्रधान दर्शन योग दर्शन है जो न तो किसी के नियमों में हस्तक्षेप ही करता है जिसकी अपनी एक पृथक विधि है ज्ञान है । जिससे उसके सर्वाधिक प्राचीन होने का भी पता चलता है । उसी में नियमों क अन्तर्भूत सर्वश्रेष्ठ निधिरूप सन्तोष का पाठ भी मिलता है । जिसके विषय में महाभारत के आदि पर्व में कहा गया है कि "सर्वश्रेष्ठ सम्पदा यदि कोई है तो वह सन्तोष ही है जिसे पाकर सर्प, हाथी, साधु सन्त सभी अपने अपने में सिद्धि का बल रखते हैं ।"[1]

---

1. सर्पा पिबन्ति पवनं न निर्बलास्ते । शुष्कै स्तृणै: वनगजा बलिनो भवन्ति ।।
कन्दैः फलैर्मुनिवरा: लंघयन्तियारम् । सन्तोषमेवपुरूषापरम निधानम् ।।
-महाभारत , आदिपर्व

इसी के विषय में वायु पुराण का मानना है कि " जो सुख इह लोक में काम्य वस्तु के भोग एवं उससे भी श्रेष्ठ जो स्वर्ग प्राप्ति का सुख है वह सुख वास्तव में सन्तोष जैसी निधि की सोहलवीं कला के समान भी नहीं हैं। अर्थात् सन्तोष सर्वश्रेष्ठ सुख है।"[1]

इन्द्रियों पर विजय भी तब तक प्राप्त नहीं की जा सकती है जब तक मानव सन्तोष को प्राप्त नहीं हो जाता। अतः समाज में प्रतिष्ठा प्राप्ति तथा आध्यात्मिक क्षेत्र में अध्यात्म दर्शन के लिए सन्तोष की प्राप्ति महत्वपूर्ण है जिससे उत्तम कोई दूसरा साधन दिखाई नहीं देता है। जिसके विषय में महर्षि पतञ्जलि भी कहते हैं कि "सन्तोष से ही सर्वोत्तम सुख का लाभ होता है।"[2]

3- तप

तपः = तपित्वा पाति इति तपः तप कर जो प्राप्त होता है वही तप है। तप से मनुष्य के पाप क्षीण होते हैं वे पाप जो उसने पूर्व जन्म में भी किये होते हैं। वह भी दग्ध हो जाते हैं। तप के अन्तर्गत कोई एक विधान या नियम नहीं है। अपितु जितना भी योग साधना का क्षेत्र या अधिकार क्षेत्र है वह सब का सब वास्तव में देखा जाये तो तप के अन्तर्गत ही आता है। प्राणायाम से लेकर सम्प्रज्ञात असम्प्रज्ञात एवं कैवल्य सब के सब तप ही तो है।

---

1. यच्चकामसुखंलोकेयच्चदिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥ - वायु पुराण, अ०-93, श्लो० - 101

2. सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः॥ - पा०यो०द० - 2/42

"तप के अन्तर्गत केवल व्रत चान्द्रयणादि या हवनादि ही नहीं आते हैं। ये तो उसका एक लघु रूप भाग है। जबकि तप के अन्तर्गत् वास्तव में देखा जाये तो प्रभु की प्राप्ति रूप फल सम्यक् रूपेण सम्मिलित होता है। तप का लोक और अध्यात्म क्षेत्र में देखा जाये तो वास्तव में अपने अपने स्थान पर महत्वपूर्ण स्थान है। चरक संहिता के अनुसार "जीवन को स्थिर बनाये रखने एवं स्वस्थदीर्घायु अर्थात् शतजावि होने के क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान है। इससे अनेक दुःसाध्य ज्वरादि रोगों से भी छुटकारा पाया जा सकता है।" यहां तक की इसी में प्रभु पूजा से रोग शान्त भी होते हैं। नियमों के अनुसार यदि आज भी चान्द्रायण या कृच्छ चान्द्रायणादि व्रतों का सेवन किया जाये तो निश्चित ही अर्बुद (कैंसर) एवं घातक किटाणुओं से ग्रसित रोग भी साध्य दिखाई देते हैं। परन्तु आज कौन ऐसा है जो पञ्चगव्य का सेवन करने हेतु सुस्वादु चटपटी रसना का त्याग कर सके। पञ्चगव्य जैसे अनमोल रत्न एवं उनकी सेवन की विधि वास्तव में अमूल्य है और उसका हवन तक का विधान भी मिलता है। जबक प्रायश्चित स्नान के अन्तर्गत भी उसका उल्लेख है। यहां यह भी लिखना चाहूंगा कि इसे स्नान विशेषकर गो मूत्र एवं गोबर लेपन से शरीर पर कहीं भी व्याप्त बालचर रोग समाप्त हो जाता है। जब यह एक परम शुद्ध औषधी है इसका यदि लाभ नहीं तो हानि भी नहीं हो सकती है। इसी तप के अन्तर्गत आता है हवन एवं प्राणायाम्। हवन से भी मनुष्य की शारीरिक शुद्धि होती है एवं सौंदर्य को

प्राप्त होता है जबकि प्राणायाम तो तपान्तर्गत सर्वश्रेष्ठ साधन माना ही गया है।[1] जैसा कि मनुष्य एवं याज्ञवल्क्य स्मृतियों का मत है कि "गायत्री जप के समान कोई जप नहीं एव प्राणायाम से बढ़ कर तप नहीं" सभी पापों (रोगों) के नाश के लिए मनुष्य को सौबार प्रतिदिन प्राणायाम करना चाहिये। इसके करने से बड़े-बड़े उत्पात भी नष्ट हो जाते हैं। इतना ही नहीं बल्कि जो पूर्व जन्म कृत या अदृश्य दोष भी है वह भी तुरन्त इसके करने से नाश को प्राप्त होते हैं। श्रीमद्भागवत महापुराण में भी ऐसा पाठ पढ़ने को मिलता है जिसमें स्पष्ट कहा गया है कि (कफ वात पित्त) मल (वात, पित्त, कफ) का नाश

---

1. क्रोध प्रवात व्यायामान् कषायांश्चापि वर्जयेत् ।
ज्वर लङ्घनमेवादावुपदिष्टमृते ज्वरात् ।।

क्षयानिल भयं क्रोध काम शोक श्रमोद्भवात् ।
लंघनेन क्षयं नीते दोषे संधुक्षितेऽनले ।।

मनोविकारे निर्दिष्टं कार्यं तद्विषमे ज्वरे ।
मणीनां मौषधीनाञ्च मंगल्यानां विधारय च ।।

धारणादगदानां च सेवनान्न भवेज्ज्वरः ।
सोमं सानुचरं देवं समातृगणमीश्वरम् ।।

पूजयन् प्रयतः शीघ्रमुच्यते विषमज्वरात् ।
विष्णुसहस्रमूर्धानं चराचरपतिं विभुम् ।।

स्तुवन्नाम सहस्रेण ज्वरान् सर्वान् व्यपोहति ।
ब्रह्माणमश्विनाविन्द्रं हुतभक्षं हिमाचलम् ।।

गंगा मरुद्गणांश्चेष्ट्या पूजयञ्जयति ज्वरान् ।
भक्त्या मातुः पितुश्चैव गुरूणां पूजनेन च ।।

ब्रह्मचर्येण तपसा सत्येन नियमेन च ।
जपहोम प्रदानेन वेदानां श्रवणेन च ।।

ज्वराद्विमुच्यते शीघ्रं साधूनां दर्शनेन च ।
ज्वरे रसस्थे वमनमुपवासं च कारयेत् ।।

– चरकसंहिता, चिकित्सा स्थान, अ० –2, श्लोक– 131, 140, 309–15

प्राणायाम तप से सम्भव है ।[1] यह तो मानव जगत् के लिए उपदिष्ट है । जबकि व्यावहारिक जगत में देखा जाये तो प्रकृति भी तपस्वी दिखाई देती है । जो समय का पालन करती हुई कभी गर्मी का सेवन करती है तो कभी वर्षाऋतु का तो कभी पतझड़ का तो कभी सर्दी का सेवन करती हुई दिखाई देती है । कभी चार दिन खूब नहाती है, पानी बरसाती है तो कभी विश्राम करती है यदि वर्षा या सर्दी या गर्मी ही निरन्तर रहे तो जीवन दूभर हो जाता है दूभर तो क्या प्रलय का भी भय हो जाता है। इससे अकाल तक की समस्या खड़ी हो जाती है । ऐसे ही मनुष्य को भी प्रकृति से शिक्षा लेनी चाहिये, जिससे शरीर स्वस्थ रह सके । इसीलिए आहार-निराहार निर्जला एकादशी आदि व्रतों का नियम बनाया गया था । ताकि पूर्व का संचित भोजन पच सके तथा मनुष्य स्वस्थ रह सके । जैसे धर्म ग्रन्थों में वट एवं तुलसी आदि वृक्षों का विधान है कि सप्ताह में एक बार अवश्य जल नहीं चढ़ाना चाहिये जैसे तुलसी को शुक्रवार के दिन जल चढ़ाना वर्जित कहा है तथा इतवार वट वृक्ष को भी जल नहीं चढ़ाना चाहिये ताकि उनके मूल में स्थित छः दिनों का संचित जल शुष्क हो सके ऐसे ही द्वादशी के दिन तो उससे स्पर्श

---

1. एकाक्षरं परंब्रह्म प्राणायाम परं तपः ।
सावित्र्यस्तु परं नास्ति मौनात्सत्यं विशिष्यते ।।
प्राणायाम परं कार्य सर्वपापानुपत्तये ।
उपपातक जातानामनादिष्टस्य चैव हि । – मनुस्मृति , 2/83

भी मना है ।[1] इसी प्रकार से हम मानव निर्मित यंत्र वाहन भी देखते हैं जिन्हें समय - समय पर विश्राम दिया जाता है । जिसका तरल इन्धन दो या तीन माह में एक बार परिवर्त्तित किया जाता है । समय - समय पर ग्रीस रूपी पथ्य भी दिया जाता है । ताकि वह अपने जीवन की यात्रा को पूरा कर सके । जो चालक वाहनों के नियमों का पालन न करते हुये लापरवाही का शिकार होते हैं उन वाहनों के इंजन समय से पूर्व ही काम करना बन्द कर देते हैं । इसी प्रकार से जो मनुष्य को भी सप्ताह में पक्ष में या मास में एक बार व्रत सेवन करता है । वह निश्चित स्वस्थ रहता है । इसके अतिरिक्त जो ऋतु सेवन रूपी तपों को तपता है वह तो अवश्यमेव दीर्घ जीवि होता है । जैसा कि विषुव संक्रान्तियों के सेवन का विधान है । मेष (वैशाख) , कर्क (श्रावण) तुला (कार्तिक) एवं मकर (माघ) संक्रान्तियों एवं महीनों का सेवन करने के लिए धर्म शास्त्र निर्देश करते हैं । वास्तव में देखा जाये तो ये शास्त्र निश्चित ही वैज्ञानिकी मत रखते हैं । यही एक ऐसा समय होता है जब ऋतु परिवर्तन होता है और मनुष्य एवं अन्य प्राणी सर्वाधिक रोगों से प्रताड़ित होते हैं । जैसे वैशाख में रक्त युक्त मल का आना (मरोड़) श्रावण में जल का समाप्त होना कार्त्तिक में वमन रोग तथा माघ महीने में पनपने वाला (वायु रोग)

---

1. व्यतीपाते भौमभार्गवभानुषु, पर्वद्वये च संक्रान्तौ द्वादश्यां
   सूतिकद्वये तुलसी ये विचिन्वति ते छिन्दन्ति हरे शिरः ।
   तुलसीं द्वादशी बिना ॥ निर्णयसिन्धौ इतिदेवयाज्ञिककृते स्मृतिसार ।
   -विष्णुधर्मोत्तर, पृ० - 558
   द्वादश्यां तुलसीपत्रं धात्रीपत्रं चकार्त्तिक ।
   लुनाति सनेरा गच्छे न्निरयानतिगर्हितान ।। -पद्मपुराण, निर्णयसिन्धौ ।

शुष्क रोग जो त्वचा को शुष्क करता हुआ फंसी फोड़ों को उत्पन्न करता है । इन रोगों से बचने के लिए ही तो वेदों ने प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से मन्त्रों के माध्यम से निर्देश किया है कि इन - इन उपरोक्त ऋतुओं में अर्थात् वसन्त से शरद् पर्यन्त क्रमशः वस्तुओं का सेवन करना चाहिये ये हैं - बसन्त में घृत पान , ग्रीष्मर्तु में पञ्चाग्नि वा एकाग्नि सेवन तथा शरदर्तु में हवन अर्थात् हवि द्रव्य जो घृत से भावित {पक्वान्नादि} द्रव्यों का सेवन करना चाहिये । ऐसा पुरूष सूक्त के 13वें मन्त्र में मिलता है । इसमें सेवन से पूर्व यह नियम है कि पहले भगवान के निमित्त अर्थात् देव निमित्त हवन करने के पश्चात् ही स्वयं सेवन करना चाहिये[1] । ऐसा ही विधान गीता का भी है कि "हम जो भी खायें या पहनें उसे पहले देवताओं को नैवद्य लगवा कर सेवन करना चाहिये क्योंकि जो भी हमारी इष्टापूर्ति होती है वह दृश्य या अदृश्य रूपेण देवताओं द्वारा ही प्रदान होता है । यदि ऐसा कोई नहीं करता है तो वह चौर होता है[2] ।" इसी प्रकार से प्रकृति के सदृश ही सम्यक् योगपूर्वक मनुष्य की सभ्यता भी यथावत् बनी रहनी चाहिये । इन तपों का विधान भी प्रकृति सदृश ही है । जैसे प्रकृति में अतियोग से या मिथ्यायोग से हानि कही गई है वैसे ही व्रतों के अतियोग से भी हानि होना निश्चित प्रतीत होता है । जैसा कि चरक ने कहा भी है[3] ।

---

1. ऊँ यत्पुरूषेण हविषा देवायज्ञमतन्वत् बसन्तोऽस्यासीदाज्यं
   ग्रीष्म मइध्म: शरद्धवि: ।।-शुक्लयजुर्वेद, इतिपुरूषसूक्तस्य, 13वाँ मन्त्र

2 - इष्टान्देवान्हि भो देवादास्यन्ते यज्ञ भाविता: ।
   तै दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुड्.क्तेस्तेन वा ।। -इति गीता -3/12

3 - काल बुद्धीन्द्रियार्थानां योगो मिथ्या न चाति च ।
   द्वयाश्रमाणां व्याधीनां त्रिविधोहेतु सग्रह: ।।-चरकसंहिता,अ0 - 1/54
   पृ0 - 29

अतः कोई वस्तु या नियम का सेवन का योग उपयोग सम्यक् होना चाहिये चाहे वह आहार है, विहार है या निद्रा है या व्रत हवन ही है। इन सबका प्रतिपालन मध्यगामी होना चाहिये। जैसे इडा पिंगला दोनों के मध्य सुषुम्ना का प्रधान स्थान है। जैसे दुःख और सुख के बीच उदासीनता का निवास है। यही तपाश्रय भी है। यदि सम्यक् न होते हुये व्रतों के सेवन या हवनादि या पक्वान्नादि का शरद् के अतिरिक्त सेवन करते हैं तो निश्चित ही हानि होती है। दूसरी ओर जब पक्वान्नादि या घृत सेवन या अग्नि सेवन (पञ्चाग्नि सेवन) की शिक्षा हमें अपने धर्म ग्रन्थों में पढ़ने को मिलती है जिसे आज भौतिकवाद ने पण्डित कर्म कह कर लज्जित एवं निन्दित कर्म मान कर परित्याग किया है। वह वास्तव में सामान्य न होकर पूर्णतः वैज्ञानिकी थी, है एवं रहेगी। हम देखते हैं कि जैसे अनुमान प्रमाण के अन्तर्गत पूर्ववत् में बादलों को देखकर अनुमान लगाने लगते हैं कि वर्षा होगी वैसा ही ज्ञान हमें अपने धार्मिक कृत्य एवं इन वत्सद्वादशी आदि तथा करक चतुर्थी से भी मिलता है। इसके अतिरिक्त दीपावली एवं लोहड़ी के पर्वों से भी प्राप्त होता है। ऋतु के आगमन एवं वस्तुओं के सेवन के प्रति मनुष्य की बुद्धि को विकसित करती हुई सन्देश पहुंचाती हैं। जैसे वत्स द्वादशी से शरद् के आगमन का संकेत मिलता है और उसी दिन जब नारियां पूजन सामग्री में काले चने एवं बेसन के बने जानवरों की पूजा करती हैं तो उसी समय ज्ञात हो जाना चाहिये कि अब चने के सेवन की ऋतु आ चुकी है। जो पूरे 15 दिन के बाद महालक्ष्मी नवमी

अर्थात् भाद्रपद शुक्ल पक्ष की नवमी को पुनः दुबड़ी का पूजन करने में भी प्रयोग में लाये जाने लगते हैं । ऐसे ही करक चतुर्थी को शुरू होता है बादाम का सेवन । जिसे बहुयें अपनी सास या वृद्धों को प्रथमतः दान करती हुई दिखाई देती हैं । परन्तु वह यह नहीं जानती कि हम ऐसा क्यों कर रही हैं । वहां ऐसा इसलिए होता है कि अब आपको भी अपने पति को सेवन के लिए बादाम खिलाने चाहिये । दीपावली के दिन हम देखते हैं कि लोग शरदर्तु के आगमन का पकवान से सत्कार करते हैं और लोहड़ी के दिन भी पकवान से ही विसर्जन करते हैं अर्थात् लोहड़ी से लेकर दीपावली तक कभी पकवान्न का सेवन नहीं करना चाहिये । इतना ही नहीं, जो विषुव सक्रान्तियों के महीनों में एक समय आहार की विधि का निर्देश है, वह केवल पुण्य की वृद्धि हेतु न होकर बल्कि शारीरिक स्वास्थ्य को दृष्टि में रखकर किया हुआ है । हमारे शास्त्रार्थियों के द्वारा साधारणतः पाप धार्थ व्रतों को निर्दिष्ट किया गया है और पाप शब्द हिंसा रूपा पापार्थ में प्रसिद्ध हो चुका है । बुद्धिजीवी वर्ग के अतिरिक्त, जो अविकासित समाज है, इसे आज भी रोग न मानकर पाप ही मानता है । जबकि जबकि पाप का अर्थ ही रोग होता है । जिन्हें हम कर्म रोग भी कहते हैं । यह प्रमुखतः त्रिविध होते हुये भी अनेक प्रकार के होते हैं । जिनमें कायिक वाचिक एवं मानसिक प्रमुख हैं इनमें एक बात और भी लिखना चाहूँगा, जो कि अनुभव जन्य है कि इन विषुव सक्रान्तियों के महीनों में नर को नारी संगम नहीं करना चाहिये । इन दिनों मनुष्य भी प्रकृति के सदृश ही पुनः पुनः अंकुरित होता है । मनुष्य के अन्दर एक स्वतः विकसित होने वाली कार्य शैली

है । जिससे मनुष्य का विकास होता है और उसमें ये चारों वैशाख , श्रावण, कार्तिक एवं माघ महीने सर्वाधिक महत्वपूर्ण है । इसमें भी विचारार्थ देखें तो ज्योतिष एवं सनातन प्रेमियों का विश्वास है कि कार्तिक महीने उत्पन्न बालक शुभ नहीं होता है । ऐसे जातक की पूजा का विधान है । कारण स्पष्ट है कि साधारणतः मानव का प्राकट्य नवमाह गर्भावस्था में गुजारने के बाद होता है । तब हम गणना करके भी देख सकते हैं कि यदि हम माघ महीने में ऋतु मति के संग गमन करते हैं तो पूर्णतः नवें महीने कार्त्तिक महीने ही बच्चा उत्पन्न होगा । कार्त्तिक महीने उत्पन्न होने वाला बालक पिता-माता एवं अपने लिए भी हानिकर होता है । कारण स्पष्ट है कि पिता के लिए इसलिए कि उसने अपने को नियन्त्रित न करते हुये माघ माह में संग किया जिससे उसे शारीरिक हानि उठानी पड़ेगी, माता के लिए इसलिए की कार्त्तिक महीने में पैदावार का अर्थ है वायु दोषों की उत्पत्ति तथा पौगड़ §अंकुरित § दिनों को व्यर्थ गंवाना तथा बालक के उपर कच्ची उम्र में ही रोगादि की उत्पत्ति जन्मतः होना देखा जा सकता है । इसलिए भी तप का साधनभूत नियम आवश्यक हो जाता है ।और उस पनपति हुई कुण्ठित करने वाली धारणा को भी मिटाया जा सकता है । जो इसे पण्डितों का धर्म रूपी पाखण्ड वर्णन करते हुये आलोचना के रोग से ग्रस्त हैं । जब यह नियम बने होंगे तब ये केवल एक पण्डित ने नहीं बल्कि उस पण्डित ने बनाये थे जो पूर्णतः लौकिकालौकिकता का ज्ञान रखने वाले थे । परन्तु इनकी ही नहीं किसी की भी गहराई में गये बिना उस पर पूर्वाग्रह ग्रसित होकर आक्षेप करना बुद्धिमता नहीं होती ऐसा विद्वानों का एवं ज्ञानवृद्धों का मानना रहा है । जैसा कि स्वयं मनु ने भी

कहा है कि - "कोई बाल पक जाने (सफेद हो जाने) एवं अवस्था ढल जाने
मात्र से ज्ञानी नहीं हो जाता अपितु बालक भी ज्ञानी हो सकता है और यदि
ऐसा होता है तो वही बालक ज्ञानवृद्ध है ।"[1] सम्यक्तया अध्ययन एवं चिन्तन
करने पर पता चलता है कि तप एक अमूल्य नियम रूपी निधि है । जिसके
अतिरिक्त (बिना) शरीर को स्वस्थ रख पाना कठिन रहा होगा तभी
योग चिन्तकों ने इसे प्रमुखता से स्थान दिया और अनेक शास्त्रों में इसका वर्णन
एक मत से स्वीकृत है । तभी महर्षि पतंजली जी ने भी इसे नियमान्तर्गत वर्णित
करते हुये कहा कि तप के विधिपूर्वक आचरण से अशुद्धि का नाश अर्थात् मलिनता
रूपी रोगों का नाश होता है और काया तथा इन्द्रियों की सिद्धि होती
है अर्थात् सुस्वास्थ्य लाभ पाती है[2] जिससे अणिमादि सिद्धियां तो प्राप्त होती
ही हैं बल्कि दूर से श्रवण शक्ति दूरदृक्शक्ति, गन्ध ग्रहण शक्ति एवं स्मरण शक्ति
भी अद्भुत बलशाली हो जाती है तथा आवरण रूपी मल भी नष्ट हो जाते
हैं ऐसा व्यास भाष्य में भी मिलता है । --

ग. ~~स्वक~~ (तपः)

कार्य के साथ इन्द्रियों की शुद्धि के विषय जो उल्लेख हमें पातञ्जल
योगदर्शन से प्राप्त होता है वह वास्तव में गूढार्थ रखता है । इन्द्रियां बहुधा
अलौकिक की अपेक्षाकृत लौकिक कामसुखी ज्यादा होती है । इन पर विजय

---

1. न तेन वृद्धो भवति येनास्यपलितं शिरः ।
यो वै युवाप्य धीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ।।-मनुस्मृ० -2/156
2. कायेन्द्रियसिद्धिशुद्धिक्षयात्तपसः ।।- पा० यो० सू० - 2243

पाने का एकमात्र साधन भी तप व्रत ही है । भोजन से हम अनुभव करते हैं कि आलस्य निद्रा तन्द्रा का वेग बढ़ता है और इन्द्रियां जड़ता एवं पशुता को भी आशु ही प्राप्त होती है । परन्तु भोजन के त्यागपूर्वक सात्विक लघु प्रतोपजीवि आहार फलाहार से उनकी लौकिक काम से विमुक्तता हो जाती है और शरीर भी लघु हो जाता है । निद्रा , तन्द्रा एवं आलस्य में निरन्तर रूपेण ह्रास आता है और बौद्धिक विकास एवं इन्द्रियों पर विजय पाने में भी मनुष्य शीघ्र तो प्राप्त कर लेने में सामर्थ्य रखने वाला बन जाता है । व्रत सेवन से सबसे बड़ी बात जो कि सामाजिक जीवन में भी महत्वपूर्ण स्थान रखती है । वह धैर्य है । इससे हर प्रकार के धैर्य में वृद्धि होती है, क्षुधा पिपासा, सहिष्णुता, क्रोध को जीतने, राग द्वेष से विमुक्तता, स्वतः उत्पन्न होने लगती है । जो कि साधारण जीवन में सबको अपेक्षा है । विशेषकर क्षुधा पिपासा पर विजय प्राप्त करना लौकिक जीवन के लिए एवं आध्यात्मिक क्षेत्र दोनों के लिए महत्वपूर्ण है । जो कि केवल तप से ही प्राप्त की जा सकती है इस लिए भी तप का महत्व अधिक बढ़ जाता है ।

स्वाध्याय

कहते हैं कि किसी विषय में रूचि के पीछे कोई न कोई रहस्य रहता है । चाहे वो साधु बनने की बात है गृहस्थी या स्वाध्याय शील होने की बात ही क्यों न हो । ऐसे ही जो विद्यार्थी विद्याध्ययन करते हुये विषय के चयनपूर्वक शोध कार्य रूप अतल सहित गहरे समुद्र कूदते हैं उनका भी उस विषय से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्बन्ध रहता है । परन्तु ऐसा सबके साथ होता है कहना असम्भव है ।

ऐसा इसलिए कहना पड़ता है कि आज अध्ययन के पीछे राजकीय सेवावृत्ति की सोच छिपी हुई है जिसके लिए चिन्तनशील स्वाध्याय न होकर परीक्षोपयोगी एवं प्रमाणपत्र प्राप्ति साधनभूत विषय बन चुका है । लेकिन विद्याध्ययन के विषय में देखा जाये तो यह नौकरी चाकरी कम एवं ज्ञान परक अधिक होनी चाहिये । जैसे कि गीता कहती है कि "कर्म करो फल की इच्छा मत रखो "[1] । क्योंकि ऐसा कोई भी कर्म नहीं है जिसका फल नहीं मिलता है । परन्तु आज निष्काम के पाठ को भूलकर पूर्व ही निर्धारित कर लेते हैं यहाँ तक कि वेतन भी एक माह का पूर्व ले लेने की कई लोगों में भावना जागृत हो चुकी है । जिससे ज्ञात होता है कि समाज में विश्वास की कमी पनप चुकी है । ऊपर चर्चा थी कि मनुष्य का किसी भी कार्य के पीछे रहस्य रहता है तो क्या सम्पूर्ण घर से सम्बन्ध रखता है या उसमे संख्या में एक या दो पुरूषों से सम्बन्ध रहता है अर्थात् पूरे परिवार से सम्बन्ध न रखते हुये जैसे कन्या पक्ष के वर से सम्बन्ध अधिक होता है जैसे "धान के पीछे ढीले " को भी पानी लग जाता है ऐसे ही वर के माध्यम से शेष घर वालों का भी सम्मान हो जाता है ऐसे ही स्वयं के साथ भी हुआ जिसका सम्बन्ध सम्पूर्ण योगशास्त्र ने शोध कार्य के लिए विवश तो नहीं किया परन्तु उसमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण सामाजिक विकास के मूलभूत अहिंसादि यम एवं शौचादि नियमों ने किया और इनमें भी सर्वाधिक मेरे लिए

---

1. कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन - गीता २/४७
2. आप्तोपदेश प्रज्ञानं प्रतिपत्तिश्चकारणम् ।
विकाराणामनुत्पत्तावुत्पन्नानां च शान्तये ।। चरक - 7/55 , पृ0-170

श्रद्धा के पात्र दो ही विषय रहे । प्रथम " स्वाध्यायादिष्ट देवता सम्प्रयोगः" द्वितीय "प्राणायाम" इनका जब भी अध्ययन करता एवं आध्यात्मिक परक व्याख्या पढ़ता तो अनुभव होता यदि इसे वेदों से थोड़ा बाहिर आकर आज भौतिक युग को प्रत्यक्ष रखकर व्याख्या की जाती है तो इससे विशेष जानकारी प्राप्त हो सकती है । जैसे वेदों के नित्यप्रतिसस्वर संहिता पदपाठ, जटा शिखादि सहित अध्ययन से दिव्य गुणों से युक्त लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है तो निश्चित ही सामाजिक शास्त्रों के अध्ययन से भी समाज को अपने विषय मे सफलता प्राप्त हो सकती है । परन्तु यह विद्यार्थी एवं उसके अध्ययन पर निर्भर करता है ।

स्वाध्याय भी सम्यक् ही विशिष्ट फलो भूत होता है यदि इसका भी अतियोग हो जाये तो निश्चित ही परीक्षा के दिनों में मनुष्य को रोगग्रस्त भी कर देता है । हम देखते हैं कि जो लोग अत्यधिक अध्ययन करते हुये बुद्धि को विश्राम ही नहीं देते वे अधिकतर परीक्षा के दिनों में रोगी हो जाते हैं । इन्हीं में कुछ ऐसे होते हैं जो माता-पिता के लक्ष्य को समक्ष रख कर अतियोगात्मक अध्ययन के कारण स्वरूप भी सन्तुलन खो बैठते हैं और मनोनुकूल परिणाम भी पैदा नहीं कर पाते हैं । कारण विश्वास की कमी एवं मातृ सोच होता है । यदि वही मिथ्यायोग रूपी रोग से ग्रस्त होते हैं तब भी अनुत्तीर्णता प्राप्त होती है । स्वाध्याय वही है जो अनुशासन की विधि का पालन करते हुये सम्यक् रूपेण से निज सफलता रूपी लक्ष्य को समक्ष रखकर पढ़ा जाये शेष सब दुःख दायक होते हैं । दूसरों का लक्ष्य चिन्ताकारक होता है जो परीक्षा से पूर्व भी एवं परिणाम आने के बाद भी रोग का कारण होता है । जिसके कारण हम देख सकते हैं कि विद्यार्थियों

का दिनागीय सन्तुलन बिगड़ जाता है । तो कुछ आत्महत्या भी कर लेते हैं । अत: स्वाध्याय भी सम्यक् सुचारू हो होना चाहिये वैसे ही जैसे " शारीरिक स्वास्थ्यता के लिए धातु साम्य कहा गया है ।"

स्वाध्याय का अर्थ केवल विद्याध्ययन ही नहीं है बल्कि यदि इसी वाक्य को गम्भीरता से लेकर कर सान्ध विच्छेद करते हुये अर्थ निकाला जाये तो पता चलता है इसका अर्थ मनुष्य को अपनी जिन्दगी का अध्ययन करना है जैसे स्व + अध्ययन अधि + अयन स्व निज अधि = आत्मा का अयन आगमन क्यों हुआ , क्या है और इसका कर्त्तव्य क्या है अर्थात् अपनी आत्मा का अध्ययन करना भी है । आध्यात्मिक क्षेत्र भी तो इसी लक्ष्य को समक्ष रखकर ज्ञान प्रदान करता है । इसी लक्ष्य को वेधने के लिए मनुष्य को पाठ पढ़ाया जाता है कि आपको अन्ततः सभी मन्त्रों का त्याग करते हुये अन्ततः एक ओंकार का उच्चारण करना चाहिये यही एक मन्त्रों मे सर्वश्रेष्ठ मन्त्र है एवं भगवान की मूर्त्तियों में भी श्रेष्ठ मूर्त्ति है । इसे ही दूसरे शब्दों में स्वाध्याय कह सकते हैं । जिससे दिव्य आत्म दर्शरूपी लक्ष्य की प्राप्ति होती है ।

सामाजिक रूप से भी विद्याध्ययन का स्थान महत्वपूर्ण है जो समाज अनपढ़ है वह कभी विकसित नहीं हो सकता है । जबकि विकास की दृष्टि से धन भी महत्वपूर्ण स्थान रखता है परन्तु इन दोनों में भी सर्वश्रेष्ठ विद्या धन ही

---

1. काल बुद्धीन्द्रिय यार्थानां योगोमिथ्या न चाति च ।
द्वयाश्रयाणां व्याधीनां त्रिविधोहेतु संग्रह: ।।-चरक संहिता -1/54, पृ0-29

है ज्ञान धन है । जिसके पीछे धन स्वयं आने लगता है । धन विद्या को पतिरूप में वरण करता है लेकिन विद्या धन को वरण करे ऐसा बहुत कम सुना है । श्रेष्ठ ज्ञानियों बुद्धिजीवियों एवं वैज्ञानिकों की प्रत्येक देश को आवश्यकता रहती है । जबकि धन की आवश्यकता अनपढ़ देशों की कमजोरी प्रदर्शित करती है । यदि हमारे पास विद्या है तो हम अपने देश को अवश्य ही धनी बना सकते हैं । हमारी सर्वश्रेष्ठ विद्या की आवश्यकता उन देशों को रहेगी जिनके पास सम्पत्ति है । हम दिमाग से बुद्धि ज्ञान से बिना धन के धन कमा कर अपने देश के विकास में या दान भी दे सकते हैं । परन्तु यदि विद्या का ज्ञान ही नहीं होगा तो हमें आज कोई बोझा उठाने के लिए श्रमिक भी रखने को तैयार नहीं लगता है । अतः विद्या का अध्ययन परमावश्यक है इसलिए कवि कुल गुरू महाकवि कालीदास ने रघुवंश महाकाव्य के आरम्भ में ही लिखा था कि "वाक् सरस्वती वाणी को साक्षात् [illegible] ज्ञान की अधिष्ठात्री विद्या में मनुष्य को पारंगत होना चाहिये । विद्या धन ही सर्वश्रेष्ठ धन है यदि विद्या धन आपके पास है तो निश्चित ही श्रेष्ठ भौतिक धन आप प्राप्त कर सकते हो । वागर्था प्रतिपत्तये वाक् विद्या ज्ञान धन को उत्पन्न करने में सामर्थ्य रखता है । मनुष्य को जगत् इसी को माता-पिता समझना चाहिये और माता-पिता को पार्वती और परमेश्वर महादेव समान जानकर वन्दना करनी चाहिये[1]। ऐसे उदाहरण महामहिम राष्ट्रपति के0आर0 नारायणन के रूप में आज भी जीवित हैं जबकि इतिहास आजाद भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ0 राजेन्द्र प्रसाद बाबू एवं प्रधानमन्त्रियों में श्रेष्ठ लाल बहादुर शास्त्री जी के रूप में भरा पड़ा है ।

1- वागर्थाविवसम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौवन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ।।

ऐसा ज्ञात होते हुये भी कि हमारे पूर्व प्रधान मन्त्री स्वर्गीय श्री लाल बहादुर शास्त्री बिल्कुल निर्धन थे और पढ़ लिख कर वे प्रधानमन्त्री बने बल्कि पूरे राष्ट्र की सम्पदा के मालिक बन गये तदनन्तरमपि अभी तक सर्वाधिक अनपढ़ता के क्षेत्र में हमारे देश की गणना में प्रमुख स्थान है । जिसका कारण केवल असहयोग है । राग द्वेष ही है । चाहे वह सामाजिक हो या प्रशासनिक ही हो । किसी की कोई दिलचस्पी दिखाई नहीं देती है । कोई भी अपने को प्रत्युत्तर नहीं स्वीकार करता हुआ लगता है और जब तक ऐसी घृणित एवं कुण्ठित करने वाली धारणायें समाप्त नहीं हो जाती तब तक स्वाध्याय के क्षेत्र में पारंगतता प्राप्त कर पाना कठिन ही नहीं असम्भव लगता है । अतः स्वाध्याय का अर्थ कोई दो शब्दों में केवल देवता की प्राप्ति नहीं है बल्कि उन दिव्य गुणों की प्राप्ति है जिनसे देश का विकास हो सके एवं आध्यात्मिक क्षेत्र से संयोजित जीवन भी सफलता को प्राप्त हो सके । ऐसा इसलिए कि जिस समाज में अनपढ़ता व्याप्त रहेगी और अनपढ़ता से निर्धनता व्याप्त होगी जब निर्धनता रूपी महामारी का समाज में बोलबाला होगा तब यह सोच एवं विचार करना कि उस समाज के सन्त महात्माओं को शान्ति मिल सकेगी असंभव है । क्योंकि इसी को दृष्टि में रखकर चाणक्य ने कहा था कि "राजा को समाज को अच्छा प्रशासन देना चाहिये भ्रष्टाचार को समाप्त करना चाहिये एवं सबको समान अधिकार एवं सुख सुविधायें मिलनी चाहिये यदि राजा इस तरह के प्रशासन देने में विफल रहता है अर्थात् मत्स्य न्याय का राज रहता है । तब साधु समाज को विवश होकर वनों से निकल कर समाज में आना पड़ता है । अर्थात् उन्हें भी आध्यात्मिक क्षेत्र में समाज की अवनति उद्वेलित करती है ।" जिसका कारण अनपढ़ता एवं अज्ञान ही है ।

अतः आध्यात्मिक एवं सामाजिक क्षेत्र की क्रमशः सफलता के लिए स्वाध्याय का महत्व अत्यधिक बढ़ जाता है । इतना ही नहीं ऐसा भी उल्लेख स्मृतियों में पढ़ने को मिलता है जिन्होंने केवल स्वाध्याय से ही ईश्वर की प्राप्ति अर्थात् आत्मदर्शन का समर्थन किया है ।

मनु ने कहा है कि "स्वाध्याय से मनुष्य को पूर्व जन्म का ज्ञान होता है तथा मुक्तिकारक ब्रह्मज्ञान को भी प्राप्त होता है ।" आगे लिखते है कि "शौचपूर्वक, क्रोधरहित एवं प्रमादरहित स्वाध्याय करना चाहिये तथा स्वाध्याय के समय गुरू सेवा एवं विधि का पालन करना चाहिये ।"[1]

चरक संहिता कहता है कि आप्तोपदेश अर्थात् स्वाध्याय से अभ्युदय एवं निःश्रेयस की प्राप्ति होती है[2]। अतः आप्तोपदेश का अध्ययन करना चाहिये । जो वेदादि सम्मत हों, जो नास्तिक न हो जिनमें सत्यादि का पालन लिखा है वही स्वाध्याय है ।

इसके अतिरिक्त आप्तोदेश पर प्रकाश डालते हुये कहती है कि आप्तोपदेश अर्थात् स्वाध्याय – जो धर्म प्रचार में तत्पर है और जिन लोगों का भय राग द्वेष लोभ मोह मान (अहंकार) दूर हो गये हैं, जो ब्रह्मज्ञान (अध्यात्म ज्ञान)

---

1. वेदाभ्यासेन सततं शौचेन तपसैव च ।
अद्रोहेन च भूतानां जाति स्मरति पौर्विकीम् ।।
स्वाध्यायेन व्रतै होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।
महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ।।
स्नानं मौनोपवासेज्या स्वाध्यायोपस्थनिग्रहाः ।
नियमा गुरुशुश्रूषा शौचाक्रोधाप्रमादताः ।।
–मनुस्मृति – 4/148, 2/28, 3/138 , पृ0 –624, 625

2 – आप्तोपदेशप्रमाणं प्रतिपत्तिश्च कारणम् ।
[illegible] च शान्तये ।। च० सं० 7/55 पृ० 170

में तत्पर है और अनुष्ठेय यज्ञादि कर्मों को जानने वाले हैं और जिन लोगों के मन और बुद्धि का प्रचार (विचार शक्ति) नष्ट नहीं हुआ है। ऐसे पहले के एवं उनसे भी पूर्व के आप्त महर्षियों ने अपने दिव्य ज्ञान से पुनर्भव होते देखा है एवं देखकर उपदेश किया है। इस प्रकार आप्तोपदेश द्वारा पुनर्भव की सिद्धि होती है[1]।

आप्त एवं आप्तोपदेश का लक्षण -

इसका लक्षण भी वहाँ पाया गया है कि - "अपनी तपस्या एवं ज्ञान के बल से जिनके रज एवं तम से मुक्त हो गये हैं। जिनको सदा भूत भविष्यत एवं वर्तमान का ज्ञान निर्बाध रूप से होता रहता है और जिनकी ज्ञान शक्ति कभी नहीं रूकती ऐसे व्यक्ति को आप्त, शिष्ट एवं विबुद्ध कहा जाता है। ऐसे आप्त व्यक्तियों के वचन संदेह रहित (सत्य) होते हैं। आप्त सदा सत्य ही बोलते हैं।"[2]

---

1. तत्राप्तागमस्तावद्वेदः, यश्चान्योऽपि कश्चिद्वेदार्थादविपरीतः परीक्षकैः प्रणीतः शिष्टानुमतो लोकानुग्रहप्रवृत्तः शास्त्रवादः स चाप्तागमः, आप्तागमादुपलभ्यते - दानतपोयज्ञसत्याहिंसाब्रह्मचर्याण्यभ्युदय निःश्रेयस कराणीति ॥
धर्मद्वारावहितैश्च व्यपगतभय रागद्वेषलोभमोहमानैर्ब्रह्मपरैराप्तैः कर्मविद्भिरनुपहत सत्वबुद्धिप्रचारैः, पूर्वैःपूर्वतरैर्महर्षिभिर्दिव्यचक्षुर्भिर्दृष्ट्वोपदिष्टः पुनर्भव इति व्यवस्येदेवम् ॥

2 - रजस्तमोभ्यां निर्मुक्तास्तपोज्ञानबलेनये। येषां त्रिकालममलं ज्ञानमव्याहतं सदा ॥ आप्ताः शिष्टा विबुद्धास्ते तेषां वाक्यमसंशयम्। सत्यं वक्ष्यन्ति ते कस्मादसत्यं नीरजस्तमाः ॥ - चरक - 11/ 27, 29, 18, 19, पृ0-216-17

विषयों में लिखा गया है -

आप्त शिष्ट एवं विबुधका वर्णन भी बहुत ही सुन्दर एवं आकृष्ट रूप में वात्स्यायन स्वाध्याय पर प्रकाश डालते हुये लिखते हैं -

आप्तोपदेश से सभी धर्मशास्त्र, स्मृति, पुराण और वेद वाक्यों का ग्रहण होता है। इनके लेखक कभी झूठ नहीं बोलते थे क्योंकि वे वीत राग द्वेष थे। इन्हें पढ़ना भी स्वाध्याय कहा जाता है। आप्त शब्द की निरूक्ति वात्स्यायन ने निम्न प्रकार से की है - विषयों के साक्षात्कार का नाम आप्ति है और उस आप्ति के द्वारा जो कर्म में प्रवृत्त होता है उसे आप्त कहते हैं।

अपना तपस्या, ज्ञान एवं शक्ति केवल से, कार्य -अकार्य -हित- अहित नित्य -अनित्य इनको क्रमशः प्रवृत्ति और निवृत्ति के उपदेश द्वारा जो अर्थों के शासन में प्रवृत्त होते हैं उन्हें शिष्ट कहते हैं।

बुद्धि द्वारा ग्राह्य विषयों का विशेष ज्ञान कर जो कर्म में प्रवृत्त होता है विबुध कहते हैं। इसी को शब्दः भी कहते हैं ऐसा ही मतः तर्क संग्रह का भी है शब्द वेदज्ञान को आप्त वाक्य कहते हैं।

इस उपरिलिखित पद्धति में भी यही आभास होता है कि स्वाध्याय का अर्थ है आत्मज्ञान स्वयं का ज्ञान जिससे स्वयं को जाना जा सके। अपने भूत वर्तमान एवं भविष्यत का ज्ञान कर मुक्ति को प्राप्त करना जैसे आयुर्वेद शास्त्रों की भी उपयोगिता है।*

F. No- P.T.O

इसीलिए महर्षि पतंजलि ने कहा है कि "लक्ष्य की प्राप्ति के लिए स्वाध्यायशील होना परमावश्यक है । स्वाध्याय का अर्थ अभ्यास है जिससे विलक्ष्य प्राप्त होता है अतः लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ही स्वाध्याय वेदाध्ययन करना चाहिये[2]।

ईश्वरप्रणिधान

ईश्वर के आगे सभी अहिंसादि व्रत तपस्याओं के फलों को समर्पित कर देने से मोक्ष विषयक समाधि की प्राप्ति का लाभ होता है । जिसके विषय में

पिछले पृष्ठ का नोट

वात्स्यायन – आप्तः खलु कृत साक्षात्धर्मा यथादृष्टमर्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्ते ।

उपदेष्टा तथा साक्षात्करणमर्थस्याप्तिः, तथा प्रवर्तत इत्याप्तः ।

शिष्ट – स्वशीलत्वेन कार्याकार्ये, हिताहिते नित्यानित्ये प्रवृत्तिनिवृत्ति यथार्थ शासनसमर्थस्य शिष्टः यथाप्रवृत्ति ये उपदेशस्य चिकीर्षया प्रयुक्तो ते शिष्टाः ।

विबुद्ध: – विशिष्टा यथार्थभूता बुद्धिस्तया प्रवर्तन्तये ते विबुद्धाः ।

आप्तोपदेशः शब्दः

तर्कसंग्रह = आप्तवाक्यः शब्दः॥ इति चरक संहितायां विमर्श – पृ० – 217

स्वाध्यायादिष्ट देवतासंप्रयोगः ।

श्री मद्भागवत महापुराण में स्पष्ट रूप से प्रकाश डालते हुये कृष्णद्वैपायन महर्षि व्यास ने कहा है - कायिकवाचिक मानसिक एवं बौद्धिक सभी प्रकार की तपस्याओं में भगवान द्वारा की जा रही समझी जानी चाहिये । इन सभी में अपने को जो कर्त्ता हुआ भी अकर्त्ता मानता है और हर कारण और कार्य में ईश्वर द्वारा सम्पादित, समझना एवं ईश्वर को समर्पित करना ही ईश्वर प्रणिधान है ।[1]

इसी को प्रकाशित करता है गीता -

कर्म ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है और ब्रह्म की उत्पत्ति अक्षर (नश्वर) परमात्मा से हुई है ।[2]

ऐसी भावना रखते हुये जो तपस्या करते है वही सफल होते हैं क्योंकि जो पूर्व वर्णित अहिंसा से लेकर स्वाध्याय पर्यन्त कर्तव्य है यम नियम है उनमें अहंकार रहना स्वाभाविक है और यहां अहंकार रहता है वहां प्रभु की प्राप्ति अर्थात् कैवल्य सम्भव नहीं अतः अहं की स्थिति से बचने के लिए एवं परम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ही महर्षि पतञ्जली जी ने यह सुगम एवं अनुपम मार्ग प्रकाशित कर ईश्वरप्रणिधान की स्थापना की है ।

---

1. कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा, बुद्धयात्मना वानु सृतस्वभावात् ।
करोति यत् यत् सकलं परस्मै, नारायणायेति समर्पयेत्तत् ।।
-भा0पु0 स्0-11, अ0-2, श्लो0 - 39

2. कर्म ब्रह्मो दवं विद्धि ब्रह्माक्षर समुद्भवं ।
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ।। - गीता ३।१५

भागवत पुराण में लिखा है कि -

"अपने को ईश्वर प्राणधान करने से मनुष्य कभी विघ्नों से पीड़ित नहीं होता है और नेत्र बंद करके दौड़ने पर भी अर्थात् विधि विधान में त्रुटि हो जाने पर भी न तो मार्ग से स्खलित होता है और न तो पतित फल से वञ्चित ही होता है[1]।

इसे इसलिये भी योगी को अपनाना चाहिये ताकि उसमें विमुखता न आ जाये क्योंकि ईश्वर विमुख मनुष्य को प्रभु की अनिर्वचनीय माया घेर लेती है जिससे उसमें "मैं देवता हूं", या "मैं मनुष्य हूं" जैसा भाव पैदा होता है। उससे भी ईश्वर प्राणधान से बचा जा सकता है और अन्तत: ईश्वर प्रणिधान ही जीवन की सफलता है[2]।" अर्थात् झुककर चलने में ही महानता है जैसे - जो लोग महान होते हैं उन्हें क्षमा शील कहा गया है जैसे भृगु और विष्णु जी कहावत में चौपाई प्रसिद्ध है।

क्षमा बड़न को चाहिये छोटन को उत्पात्।
क्या घटि गयो विष्णु का जो भृगु मारी थी लात्।

1- यानास्थाय नरो राजन् न प्रमाद्येत कर्हिचित्।
धावन् निमील्यवा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह ।।

2- भयं द्वितीयाभिनिवेशत: स्यादीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृति:।
तन्मायायातो बुध आभजेत्तं भक्त्यैकयेशं गुरूदेवतात्मा ।।

-भा०पु० स्क० - 11, अ० - 2, श्लो० 35 व 37

आसन

जिसके द्वारा बैठा जाये वह आसन कहलाता है ।[1] "जो समाधि को सुखमय, सुगम, निष्कण्टक एवं स्थिर बनाये रखे वही सर्वश्रेष्ठ आसन है ।"[2]

वैसे आसनों की संख्या व्यासभाष्य कार द्वारा स्पष्टतः एकादश दर्शायी है -

1. पद्मासन, 2. वीरासन, 3. भद्रासन, 4. स्वस्तिक, 5. दण्डासन, 6. सोपाश्रय, 7. पर्यङ्क, 8. क्रौञ्च निषदनम्, 9. हस्तिनिषदनम्, 10. उष्ट्रनिषदनम्, 11. समसंस्थान ।[3]

जबकि भोजवृत्ति कार ने पद्मासन, दण्डासन, स्वस्तिकासन आदि कहकर तीनों को ग्रहण किया है । वह आसन जब स्थिर अर्थात् निष्कम्प सुखरूप और व्याकुलता करने योग्य न हो, ऐसा होता है तब योगाङ्गता को प्राप्त होता है ।[4]

परन्तु सर्वदर्शन संग्रह में दस आसनों का वर्णन स्पष्ट है जैसे - पद्मासन, भद्रासन, वीरासन, स्वस्तिकासन, दण्डासन, सोपाश्रय, पर्यंक, क्रौञ्चनिषदन, उष्ट्र निषदन, समसंस्थानम् । इनमें हस्तिनिषदनम् ग्रहण नहीं किया गया है ।[5]

1. आस्यतेऽननेति आसनम् - पा०यो०द० भो०वृ०, पृ० - 255
2. स्थिरसुखमासनम् ।। - पा०यो०द० पा० - 2, सू० - 46
3. तद्यथा पद्मासनं वीरासनं भद्रासनं स्वस्तिकं दण्डासनं सोपाश्रयं पर्यङ्क क्रौञ्चनिषदनम्, हस्तिनिषदनमुष्ट्रनिषदनं समसंस्थानं स्थिरसुखं यथासुखं चेत्येवमादीनि ।। -इति व्या०भा०, पा०यो०द०, पृ० - 255
4. पद्मासन दण्डासनस्वस्तिकासनादि ।। - पा०यो०द०भो०वृ०, पृ०-255
5. पद्मासनभद्रासन वीरासन स्वस्तिकासन दण्डासन सोपाश्रय पर्यङ्क क्रौञ्चनिषदन, उष्ट्र निषदनम्, समसंस्थानम् भेदाद्दशविधम् ।। - सर्व०द०सं०, पृ० - 614

पद्मासन

दाहिने पैर को बांयी जंघा के ऊपर तथा बायें पैर को दाहिनी जंघा के उपर जमाकर रखने से पद्मासन बनता है ।

बद्धपद्मासन

उपरि अवस्था में स्थित यदि पीठ के पीछे से बायें एवं दायें हाथ से क्रमशः दायें और बायें पैरों के अंगूठे को पकड़ लिया जाये तब बद्धपद्मासन बनता है ।

भद्रासन

सीमनी रेखा (लिङ्ग से गुदा की ओर जाने वाली रेखा) के बगल में अण्डकोश के नीचे दोनों पैरों की एडियां जुटा दें तथा दोनों हाथों से पैरों को पकड़े रहें, यह भद्रासन सभी रोगों का नाश करता है ।

वीरासन

एक पैर को मोड़कर दूसरे पैर को उसी प्रकार मोड़ना एक जंघा को दूसरी जंघा पर रख दे सामान्य रूप से बैठने के लिए यह आसन सुखमय आसन है ।

स्वस्तिकासन

सामान्यतया यह आम गोदी (चप्पी) मारकर बैठने को कहते हैं । घुटना और जंघा के बीच में पैरों के तलवों को रखना ही स्वस्तिकासन है ।

दण्डकासन

भूमि में जंघा एवं घुटना सटाकर फैला दें, दोनों पैरों के अंगूठे एवं गुल्फ (एडियां, गिट्टे, घुण्टियां) सही हों । यह दण्डकासन है ।

सोपाश्रय

योगपट्ट (योगाभ्यास के लिए कपड़ा) के साथ बैठना ।

पर्यङ्क

बाहों को घुटनों की ओर फैलाकर सो जाना ।

क्रौञ्चनिषदन

बैठे हुये क्रौञ्च पक्षी के समान बैठ जाना ।

हस्तिनिषदन

हस्ति के बैठने जैसी स्थिति में बैठना ।

उष्ट्रनिषदन

ऊँट की तरह बैठना ।

विशेष लाभ के लिए - दोनों पैरों को पीछे की ओर मोड़कर घुटने के बल खड़ा हो जाये । पेट के ऊपर से पीछे की ओर झुककर दोनों हाथों से भूमि में स्थित पैरों को पकड़ने की स्थिति को उष्ट्रनिषदन कहते हैं ।

समसंस्थानम्

घुटनों के ऊपर हाथ रखकर सिद्धासन या पालथी लगा ले, शरीर गर्दन एवं सिर एक सीध में रहे ।

निषदन - आसन एवं संस्थान तीनों पर्यायवाची हैं ।

1. दशासन व्याख्या - सर्व०द०स०, पृ० - 614-615

इनको अपनाने के लिए अभ्यास परमावश्यक है । अभ्यास करने से ही अंगों में शिथिलता आती है तब आसन सिद्ध होते हैं ।[1] जैसा कि स्वयं ग्रन्थकार ने कहा भी है कि " तब तक प्रयत्न करना चाहिये जब तक आसन पर विजय प्राप्त न हो जाये । ताकि " द्वंद से बचा जा सके ।"[2] हलचल, सुख दुःख शीतोष्ण, जयविजय, शरीरकंदन द्वंद से तभी बचा जा सकता है जब आसन विजयी बनोगे । इसी में योग की प्राप्ति भी है ।

प्राणायाम

प्राण का अर्थ प्राण वायु है ।

प्राणायाम के विषय में वेदों से लेकर योगदर्शन तक क्रमशः बहुत सा साहित्य उपलब्ध होता है । जिनमें प्राणायाम विधि एवं प्राणायाम को अपनाने पर बल दिया गया है । जैसे कि कहा गया है कि मनुष्य के अन्दर इड़ा, पिंगला एवं सुषुम्ना तीन नाड़ियें होतो है और मनुष्य सामान्यतया जब सांस लेता है एवं छोड़ता है तब दो ही इड़ा एवं पिंगला ही रेचक एवं पूरक का काम करती हैं और सुषुम्ना विरक्त रहती है । इसी सुषुम्ना को जागृत करने के लिए प्राणायाम का विधान है ।

---

1. प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ।। - पा०यो०द०, पा०-2, सू०-47
2. ततो द्वद्वानभिधातः ।। - वही - , सूत्र - 48

प्राणायाम का सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेद काल में ही शुरू हुआ था, जिसका ज्ञान हमें ऋग्वेद के इस मन्त्र से चलता है। जिसमें कहा गया है कि "हे मनुष्य! तुम वायु का सम्यक सेवन करो अर्थात् प्राणायाम करो जो प्राणविद्या को जानकर प्राण का उपयोग करते हैं, (प्राणायाम करते हैं) वे बलवान प्रतिष्ठा को प्राप्त होकर एवं दुःख तथा शत्रुओं को जीतकर उत्तम हाथी, घोड़े, मनुष्य, धन एवं सद्बुद्धि से युक्त होकर सदा सबको पुष्ट करते हैं।"[1]

इसी सूक्त के पंद्रहवें मन्त्र में कहा गया है कि "हे मनुष्यो सुनो! जैसे अतिप्रशंसनीय बुद्धि वाली विद्या पुरूषार्थी से युक्त विद्वानजन वायु आदि पदार्थों से युक्त सकाश से दृढ़ निश्चल बहुत से सुखों को भोगता है, तुम भी इस प्राणायाम विद्या को प्राप्त होकर आनन्द को भोगो।"[2]

इसी क्रम को आगे हम पुराणों एवं स्मृतियों में भी पढ़ते हैं, जिनमें लिखा है कि प्राणायाम के सेवन से वचन पर नियन्त्रण पाया जा सकता है एवं वातपित्त कफ आदि शारीरिक विकारों को भी दग्ध किया जा सकता है। जैसे कि हारीत स्मृति कहती है कि प्राणायाम से वचन (वाणी) पर नियन्त्रण पाया जा सकता है।[3]

---

1. प्र नू सः मर्त्तः शवसा जनां अतितस्थौ वे ऊती मरूतो यमावत
   अर्वद्भिर्वाजं भरते धना नृभिरा पृच्छयं क्रतुमा क्षेति पुष्यति ।।
2. नूष्ठिर मरूतो वीरवन्तमृतीषाहं रयिमस्मासु धत्त ।
   सहस्त्रिणं शतिनं शूशुवांसं प्रातर्मक्षू धियावसुर्जगम्यात् ।।
   – ऋ०म० – 1, अ० – 11, सू० 64, मं० 13 एवं 15
3. प्राणायामेन् वचनम् प्रत्याहारेण चेन्द्रियम् ।
   धारणाभिवशे कृत्वा दुर्धर्षणं मनः ।। –हा०स्मृ० अ०–7, श्लो० – 4

इसी प्रकार से कूर्मपुराण ने प्राणायाम को दो भागों में विभाजित करके रख दिया है - 1. सगर्भ, 2. अगर्भ।

उत्तम, अधम एवं मध्यम तीन प्रकार का प्रतिपादित है और वह दो प्रकार का होता है प्रथम सगर्भ द्वितीय अगर्भ।[1]

द्वादश बार किया जाने वाला प्राणायाम मन्द चौबीस बार किया जाने वाला मध्यम एवं छत्तीस बार किया जाने वाला प्राणायाम उत्तम होता है।

प्राणायाम की विधि रेचक (कोष्ठगत वायु का बहिर्गमन।

पूरक = सांस ग्रहण करना (कोष्ठ में पहुंचाना)

कुम्भक = पूरक से ग्रहण कर कुछ काल के लिए रोकना।

इस प्रकार से किये जाने वाले प्राणायाम से योगियों द्वारा मन पर विजय प्राप्त की जाती रही है, ऐसा सभी शास्त्रों में कहा गया है।[2]

इसी समान लिंग पुराण में भी कहा गया है।[3]

मनु स्मृति कहती है कि "परम तप यदि कोई है तो वह प्राणायाम ही है।[4] याज्ञवल्क्य स्मृति ने तो इस तप को प्रायश्चित के लिए भी सर्वश्रेष्ठ साधन माना है। जिससे पूर्व जन्म तक के पाप भी नष्ट हो जाते हैं।

---

1. उत्तमाधममध्यत्वात् त्रिधायं प्रतिपादित: ।
स एवं द्विविधप्रोक्त सगर्भोऽगर्भ एव च ।। -कूर्म०पु०, अ०-30, श्लो० -31

2. मात्राद्वादशोमन्दश्चतुर्विंशति मात्रिक: ।
मध्यमप्राणसंरोध:षट्त्रिंशन्मात्रिकोत्तम: ।। - वही-, श्लो० - 32
रेचक: पूरकश्चैव प्राणायामोऽथ कुम्भक: ।
प्रोच्यते सर्वशास्त्रेषुयोगिभिर्यतमानसै: ।। - वही- , श्लो० - 36

3. नीचो द्वादश मात्तु .....षट्त्रिंशत मात्र उच्यते ।।-लि०पु०- 1/8/47

4. एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायाम परं तप: ।
सावित्र्यास्तु परं नास्ति मौनात्सत्यविशिष्यते ।। -मनु०स्मृति - 2/89

याज्ञवल्क्य स्मृति का कहना है कि प्रति दिन सौ बार प्राणायाम करने से सभी पाप नष्ट हो जाते हैं । वे पाप भी जो पूर्व जन्म में किये गये हों एवं जिनके विषय में आप जानते भी नहीं हैं वे भी नष्ट हो जाते हैं ।[1]

हठयोग प्रदीपिका में जो विधि है, उसमें 20, 40, 80 को क्रमशः अधम मध्यम एवं उत्तम माना गया है तथा दिन में चार बार करना चाहिये ।[2]

योगीश्वर याज्ञवल्क्य के मतानुसार शतबार का अर्थ है 25,50,100 होगा इससे अधिक कहीं भी उपलब्ध नहीं होता है ।

"मनुष्य दिन एवं रात में 21600 श्वास लेता है,छोड़ता है जिनमें वह प्रत्येक पल में 6 बार श्वास लेता है जबकि 60 पल में 360, एकघटी में 360 हुये तो 60 घटी अर्थात् दिन रात में 360x60 =21600 हुये ।"[3] परन्तु यह हंस रूपी मन्त्र को केवल इडा एवं पिंगला ही लेती है । सुषुम्णा जिसे मध्य नाड़ी भी कहा जाता है वह इस आनन्द से वञ्चित रहती है; उसी को वायु प्राप्ति हेतु प्राणायाम करना भी परमावश्यक हो जाता है । जब मनुष्य सुषुम्ना में प्राणायाम से सम्यक रूपेण प्राणवायु को प्रदान कर देता है, तब उसे लौकिक वायु की आवश्यकता नहीं रहती है। तब वह शनैः शनैः स्तम्भ वृत्ति को प्राप्त हो जाता है, जिससे मुनिगण कालविजयी बनते थे । तब ऐसी स्थिति को प्राप्त योगी का काल भी कुछ नहीं बिगाड़ सकता है ।

---

1. प्राणायाम शतं कार्य सर्वपापानुपत्तये ।
 उपपातकजातानां अनादिष्टस्य चैव हि ।। -या०स्म०प्र०,ब्रह्मचारी,305
2. शनैरशीतिपर्यन्त चतुर्वारं समभ्यसेत - हठयोगप्रदी० - 2/11
3. द्रष्टव्य ग्रन्थ - पात०यो०दर्शनम्-श्रीमत हरिहरानन्द कृत टीका
 सर्व०द० सं०, पृ०- 617

विष्णु पुराण में कहा है कि प्राणायाम से वायु पर नियन्त्रण होती है ।[1]

इसीलिए महर्षि पतंजलि जी ने अपने पातंजल योगदर्शन में चार प्रकार के प्राणायाम का निर्देश किया है ।

प्रथम साधारण आसन के जय होते हुये श्वास प्रश्वास की गति को रोकना प्राणायाम कहलाता है ।[2]

द्वितीय ;- बाह्य, रेचक, आभ्यन्तर = पूरक, स्तम्भ = कुम्भक इन तीनों को क्रमशः गणना में ध्यान रखते हुये निरन्तर बढ़ाना चाहिये ।[3]

शनैः शनैः प्रयास करना चाहिये इससे विश्वास की गति में वृद्धि होती है और योगी ऊर्ध्वरेता होता है । इससे जो अनुभवजन्य है, वह आह्लाद प्राप्त होता है । महर्षि पतंजलि लिखते हैं कि श्वास प्रश्वास दोनों प्राणायामों को करके प्राणवायु को रोकना चौथा प्राणायाम कहलाता है ।[4]

पद्मासन लगा कर करने पर मनुष्य के मुख वदन पर स्फुरणता, प्रसन्नता, नम्रता स्वतः प्रकटित होने लगती है और मनुष्य गमगीन, गहन चिन्तन रूपी सागर में मस्त सा रहता है ।

इसके अतिरिक्त जैसे कि उपनिषदों में आया है कि मनुष्य के भीतर अंगुष्ठ मात्र प्रमाण वाला अधिपुरुष रहता है[5] उसकी निरन्तर प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है । यह अधिपुरुष नाभि से दस अंगुल ऊपर रहता है ।[6]

---

1. प्राणायामेण पवनं प्रत्याहारेण चेन्द्रियम् ।
   वशीकृत्य ततः कुर्याच्चित्तस्थानं शुभाश्रये ।। -वि०पु० - 6/7/45
2. तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ।।-पा०यो०सू०-49
3. बाह्याभ्यन्तर स्तम्भ वृत्तिर्निदेश काल संख्याभिर्परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ।।
   पा०यो०द०, पा० -2, 50
4. बाह्याभ्यन्तराक्षेपी चतुर्थः ।। - वही - , सू० - 51
5 — अंगुष्ठ मात्र पुरुषोऽन्तरात्मा, सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः । हृदा मन्वीशो मनसाभिक्लृप्तो य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति ।। श्वे० श्व० उप० अ० 3 मं० 13
6 — सहस्रशीर्षा० — दशाङ्गुलम् ।। श्वे० अ० 3 मं० 14

इन सबसे परे अभी जो लिखने से कुछ समय पूर्व भाव आया वह इस प्रकार से है, कि मनुष्य के अन्दर भी मृग की कस्तूरी की तरह एक कस्तूरी होती है, बीड़ा होता है हो सकता है कि इसे ही शास्त्रों ने कौस्तुभ मणि भी कहा हो। यह बीड़ा या मणि का निवास नाभि से कुछ ऊपर और वक्षस्थल से नीचे रहता है, जिसका पता हमें तब चलता है, जब हम मल रहित खाली उदर प्रात: या किसी भी समय पद्मासन लगाकर उन्नतशाली होकर विधिपूर्वक प्राणायाम करते हैं, तब यह मणि निरन्तर ऊर्ध्वरेता होती हुई अपने स्थान से उठती हुई क्रमश: आठ अंगुली के लगभग ऊपर की ओर आकर वक्ष स्थल मणिपूरक स्थान में टकराने लगती है। जहां यह साधारण योगी को श्वास को छोड़ने के लिए विवश कर देती है। यही वह स्थान है, जिसे शनै: शनै: प्राणायाम से वश में करके आज्ञाचक्र तक की यात्रा को पूरा किया जा सकता है। यह वास्तव में षटचक्रों के मध्य में स्थित है। जैसा कि ऊपर लिखा कि इसका निवास स्थान नाभि से थोड़ा ऊपर रहता है, यह स्वयंमनुभूत है। अन्य का ऐसा मत हो कहना असम्भव है। योगियों के अन्दर यह मणि ऊर्ध्वगमन करती है और भोगियों के अध: पतित होती है। जिससे उनमें पशुता कञ्चन कामिनी - अनुराग अधिक पाया जाता है। इसीलिए पशुता से बचे रहने के लिए प्राणायाम की प्रत्यक्षत: न कहकर अप्रत्यक्षत: योगियों को शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। जिससे मनुष्य विजितेन्द्रिय तो बनता ही है, जबकि इससे "कार्म एवं मायीय मलों का आवरण भी नष्ट हो जाता है और मनुष्य में ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित होने लगती है।[1]

---

1. ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥ पा० यो० द० पा० २ सू० 52

ज्ञान के ऊपर आच्छादित आवरण, जिसे अविवेक कहते हैं, नष्ट हो जाता है । जिसकी व्याख्या करते हुये व्यास भाष्य में लिखा गया है कि प्राणायामों का अभ्यास करते हुये योगी का जो विवेक ज्ञान का जो आवरण रूपी कर्म है, वह नाश को प्राप्त होता है, उसको ऐसा कहते हैं - महामोहरूपी जाल = ऐश्वर्यरूप जाल से प्रकाश स्वभाव बुद्धि को ढककर वह ही अकार्य में युक्त किये हुये हैं । इस योगी के ज्ञान पर आवरण रूप जो कर्म है, वही संसार बन्धन है और प्राणायाम के अभ्यास से कर्म निर्बल होता है, क्षण - क्षण, प्रतिक्षण नष्ट होता है । वैसा ही कहा है कि प्राणायाम से अधिक कोई तप नहीं है । उससे मलों का अभाव एवं शुद्धि होती है और ज्ञान का प्रकाश होता है ।[1]

महर्षि पतंजलि कहते हैं कि "धारणाओं में मन की योग्यता भी इसी के करने से आ जाती है "[2] अर्थात् मन नियन्त्रित होकर धारणाओं में विघ्न पैदा करने में अक्षम सा हो जाता है । जिससे धारणाओं को धारण करने से कठिनाई से भी बचा जा सकता है इसलिए भी प्राणायाम करना परमावश्यक है ।

---

1. प्राणायामानभ्यस्तोऽस्य योगिनःक्षीयते विवेकज्ञानावरणीयं कर्म । यत्तदाचक्षते महामोहमयेनेन्द्रजालेन प्रकाशशीलं सत्वमावृत्यतदेवाकार्ये नियुङ्क्त इति । तदस्य प्रकाशावरणं कर्म संसार निबन्धनं प्राणायामाभ्यासाद्दुर्बलं भवति प्रतिक्षणं च क्षीयते । तथा चोक्तम् - "तपो न परं प्राणायामात् ततो विशुद्धि र्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्य" - इति - व्यास भाष्य:
2. धारणासु च योग्यता मनसः ।। -पा० यो० द०, पा० - 2, सू० - 53

क्योंकि इससे सभी दोषों का नाश होता ही है जैसा कि शंख स्मृति का भी कथन है कि "प्राणायाम के द्वारा सभी दोषों को नष्ट किया जा सकता है और प्राणायाम से प्राण वायु को सविधि ब्रह्माण्ड में चढ़ा कर (अर्थात् श्वासों को खींच कर) व्याहृतियों और प्रणव सहित वेदमाता गायत्री को आरम्भ से सादर तीन बार पढ़ने को ही प्राणायाम कहते हैं।[1]

इस प्रकार से देखा गया है कि जिस बात पर प्राणायाम रूप में द्वितीय पाद के इन 49 से 53 सूत्रों पर पतंजली जी ने प्रकाश डाला उसका बीज प्रथम पाद के 34वें सूत्र में ही डाल दिया था।[2] जिसे स्पष्ट करते हुये व्यास भाष्य ने इस ओर ध्यान दिलाते हुये कहा था कि साधक को प्राण के बन्ध को तोड़ना अर्थात् दोनों नासा पुटों से प्रयत्न विशेष से वमन करना एवं संयत करने से अर्थात् इस तरह के प्राणायाम रूपी अभ्यास से मन स्थिर हो जाता है।[3]

इन सब युक्तियों का आधार परमानन्द प्राप्ति रही है।

---

1. प्राणायामैर्दहेद्दोषान् ।। - शं० स्मृ० अ० - 7, श्लोक
सव्याहृतिं सप्रणवां गायत्रीं शिरसासह ।
त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते ।। - वही - श्लोक-12-13
पृ० - 331
2. प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य । - पा०यो० सू० - 1/34
3. कौष्ठ्यस्य वायोर्नासापुटाभ्यां प्रयत्नविशेषाद्वमनं प्रच्छर्दनम्, विधारणं प्राणायामः । ताभ्यां वा मनसः स्थितिं सम्पादयेत् ।।
- व्यास भाष्य, पा० यो० सू०, पा० - 1, सू० - 34

<u>प्रत्याहार</u>

प्रकर्ष बलपूर्वक इन्द्रियों को हरने वाली प्रक्रिया का नाम प्रत्याहार है । इन्द्रियों (बुद्धीन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों) में राजा चित्त है । जैसे लोक में राजा का अनुगमन प्रजा करती है जैसे आलौकिक जगत् में इन्द्र के आदेश का पालन शेष देवता करते हैं इन्द्र के परास्त होने पर वे भी परास्त हो जाते हैं और इन्द्र के विजयी होने पर शेष देवता भी स्वतन्त्र एवं विजयी होते हैं ऐसे ही शरीर में स्वामी चित्त का अनुगमन शेष दसेन्द्रियां करती हैं जो सांसारिकों के लिए अवगमन एवं योगियों के पक्ष में अपने-अपने विषयों लोक सुखों का त्याग करते हुये अपने स्वामी चित्त के अनुरूप होकर नियम में बंधी बंधने को विवश हो जाता है इसी को प्रत्याहार कहते हैं ।"[1] जिससे अर्थात् प्रत्याहार के सिद्ध हो जाने से इन्द्रियों की परमावश्यकता हो जाती है ।[2] इन्द्रियें योगी के अधीन होकर रह जाती है जिनको मुमुक्षु योगी कैवल्य की प्राप्ति के लिए प्रयोग में लाता है । इन्हीं इन्द्रियों को वश में कर लेने से मुमुक्षु को इन्द्रियजय की संज्ञा प्राप्त होती है ।

जैगीषव्य का मत है कि चित्त की एकाग्रता के कारण इन्द्रियों की विषयों में प्रवृत्ति न होना होता है ।[3] उसी एकाग्रता से यह परम वश्यता है । जो चित्त के निरोध होने पर इन्द्रियें भी निरूद्ध हो जाती है । योगी को

---

1. स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ।।-2/55
2. ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम् ।। - 2/55
3. चित्तैकाग्र्यप्रतिपत्तिरेव जैगीषव्यः ।। - व्यास भाष्य सूत्र 55 का पा०यो०द० भो०वृ०, पृ०-270

दूसरे उपायों में इन्द्रिय जय के समान प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं होती है। इसीलिए प्रत्याहार का विधिपूर्वक पालन करना जरूरी माना गया है।

प्रत्याहार तक द्वितीय पाद की सफलता में जो भाव वार्त्तिक कारों में गणमान्य भोज वृत्तिकार के है वे इस प्रकार के हैं कि वह योग यम नियमादि के द्वारा बीज भाव को प्राप्त हुआ, आसन एवं प्राणायाम से अंकुरित हुआ और प्रत्याहार से पुष्पित हुआ (कुसुमित हुआ) तथा धारणा ध्यान एवं समाधि से फल देता है यह साधना पाद में कहा गया है।[1]

धारणा

धारणा = धार्यते इति धारणा (धारणा का अर्थ महर्षि पतंजली जी के अनुसार सबीज एवं निर्बीज किसी स्थूल से सूक्ष्म में बुद्धि को निश्चयात्मक एवं विश्वसनीय (प्रत्ययशालिनी) बनाकर इन्द्रियों एवं मन को निरूद्ध कर लगाना है। ऐसा करने से मन एक देश का आलम्बल लेकर ध्यान एवं समाधि की दिशा में अग्रसर होता है[क]।

ध्यान एवं समाधि तथा उपरिलिखित धारणा तीनों को एकत्र करके महर्षि पतंजली जी ने संयम का नाम दिया है जैसे कि तप: स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान को क्रिया योग की संज्ञा मिली हुई है ठीक वैसे ही यहां इन

---

1. तदयं योगो यमनियमादिभि: प्राप्त बीजभाव: । आसन प्राणायामैरङ्कुरित: प्रत्याहारेण पुष्पितो ध्यान धारणा समाधिभि: फलिष्यति, इति साधनापाद: ।।—पा०यो०द०भो०वृ०, पृ०— 272

क - धारणा Foot Note अग्रे पृष्ठे लिखितम्

"तीनों को संयम के नाम से जानने को कहा गया है और ये तीनों कार्य समाधि के अन्तरङ्ग माने जाते हैं जबकि क्रियायोग समाधि के साधन भूत केवल बहिरंग हैं।"[1]

परन्तु यहाँ ये समाधि के अतरंग व्यापार है परन्तु वास्तव में ये भी कैवल्य की दिशा में बहिरंग ही जानने चाहिये। इसलिये प्रत्याहार के पश्चात् ग्रन्थ कर्ता ने धारणा को दृढ़ बनाने के लिए कहा है। इसी विषय में भगवान श्रीकृष्ण द्वैपायन द्वारा रचित भागवत पुराण में कथा आती है जिसमें राजा परीक्षित को शुक देवजी पूछने पर बताते हैं कि "हे परीक्षित! साधक को यदि ईश्वर का ध्यान करते समय मन रजो गुण से विक्षिप्त एवं तमोगुणाभिभूत मूढ़ हो जाये तो उस साधक को चाहिये कि वो घबराये नहीं बल्कि धैर्य के साथ योगधारणा के द्वारा उसे वश में करे, क्योंकि धारणा उक्त दोनों दोषों को मिटा करके रख देती है और मन को पुनः पुनः लौटा कर परमार्थ में लगाती है। अतः ध्यान की सिद्धि के लिए भी धारणा में धैर्यता परमावश्यक है। जिससे और योग शीघ्र ही सम्पादित होता है"[2]।

क- तत्र देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। -पा०यो०द० पा०-3, सू० - 2

1 त्रयमेकत्र संयमः ।। - पा०यो०द० पा०-3, सू० -4

2- रजस्तमोभ्यामाक्षिप्त विमूढमनः आत्मनः ।
यच्छेद्धारणया धीरोहन्ति या तत्कृतं मलम् ।।-भा०पु० स्क०-2, अ०-1, श्लो०-20

यस्यां संधार्यमाणायां योगिनो भक्तिलक्षणः ।
आशु सम्बद्यते योग आश्रयं भद्रमीक्षतः ।। -भा०पु० स्क० -2, अ० - 1, श्लो०-21

महर्षि पतंजली जी ने केवल किसी भी योग योग्य देश में चित्त लगाकर उसे स्थिर करने को उपदिष्ट (प्रदर्शित) किया है । उन्होंने किसी विशेष का नामोल्लेख नहीं किया है जिससे पता चलता है कि साधक को जो भी शास्त्र सम्मत है उसी में योग धारणा को निश्चित करना शोभायमान एवं साधक का लक्ष्य बेधक है । जबकि अन्यत्र इसका सूक्ष्म विवेचन मिलता है । जैसे कि व्यास भाष्य कहता है कि नाभि चक्र में, हृदयकमल (हृदय पुण्डरीक) में मूर्द्धा स्थित ज्योति प्रज्ञा ज्योति में, नासिका के अग्र भाग में, जिह्वा के अग्र में या किसी तीर्थ स्थान देवालय या पर्वतादि में या अपने ही शरीर में किसी भी अंग में या सन्धि स्थान में मन को धैर्य के साथ लगाना प्रयुक्त करना चाहिये यही धारणा है ।

इसी तरह से भोजवृत्ति भी नाभि चक्र में हृदय पुण्डरीक एवं नासिकाग्र के आदि शब्द लगाकर सभी शेष स्थानों में धारणा की प्राप्ति के लिए बल देते हैं[1] ।

शिवयोग मार्ग में द्वादश प्रकार की धारणा का वर्णन है -

मूलाधार - स्वाधिष्ठान - नाभिचक्र - हृच्चक्र - कण्ठ चक्र - राजदन्त - अथवा - (जिह्वामूल) - या शून्य दशमद्वार ध्येय होता है, भ्रूचक्र - निर्वाण चक्र = ब्रह्मरन्ध्र ब्रह्मरन्ध्र से ऊपर अष्ट दल मे (यहाँ त्रिकूट नामक तिमिर के भीतर आकाशबीज रहित शून्य स्थित ऊर्ध्व शक्ति ध्येय है, समष्टि

---

1. नाभिचक्रे, हृदयपुण्डरीके, मूर्ध्नि ज्योतिषी, नासिकाग्रे, जिह्वाग्रे इत्येवमादिषु देशेषु बाह्ये वा विषये चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्ध इति धारणा ।। - व्या० भा०, पा० यो० द०, पा०-3, सू० -1, पृ० - 387

कार्य (अहंकार) - कारण - (महत्तत्व या अक्षर) एवं निष्कल - गृहीतपुरुष रूपी द्वादश धारणायें हैं ।

भागवत पुराण में धारणाओं के विषय में निम्न रूपों से वर्णन मिलता है यहां पर परम पुरुष के शरीर में स्थानोंल्लेख है जिनमें धारणा की जा सकती है । जब योगिन चित्त निर्मल हो तो नासिकाग्र भाग में दृष्टि जमा कर इस प्रकार से देखना चाहिये जैसे कि - 1. भगवान का मुख कमल आनन्द से प्रफुल्लित है, 2. नेत्र कमलकोश के समान रतनारे हैं, 3. शरीर नीलकमलदल के समान श्याम है, 4. हाथों में शंख चक्र, गदा एवं पद्म धारण किये हैं । 5. कमल के केसर के समान पीला रेशमी वस्त्र लहरा रहा है, 6. वक्षः स्थल में श्रीवत्स चिन्ह है, 7. और गले में कौस्तुभमणि है । 8. वनमाला चरणों तक लटकी हुई है, जिसके चारों ओर भौंरे सुगन्ध से मतवाले मधुर-मधुर गुंजार कर रहे हैं, 8. अंग प्रत्यंग में महामूल्य हार-कङ्कण-किरीट-भुजबन्ध और नूपुर आदि आभूषण विराजमान हैं, 9. कमर में करधनी की लड़ियां उस की शोभा बढ़ा रही है । भक्तों के 10. हृदय कमल ही उनके आसन हैं, 11. उनका दर्शनीय श्यामसुन्दर स्वरूप अत्यन्त शान्त एवं मन और नयनों को आनन्दित करने वाला है । 12. उनकी अति सुन्दर किशोरावस्था है । 13. वे बड़े आतुर हैं जिसेस तुरन्त भक्तों पर कृपा करने वाले लगते हैं । 14. बड़ी मनोहर झांकी है । 15. भगवान की सभी लोकों में सदा वन्दना हो रही है । 16. उन परम पवित्र यश परम कीर्तनीय है । 17. वे राजा बलि आदि परमयशस्वियों का यश बढ़ाने वाले भगवान वामन है । इस प्रकार से श्री नारायण देव का सम्पूर्ण

अंगों सहित तब तक ध्यान करे जब तक चित्त वहां से हटे नहीं। भगवान की
लीलायें बड़ी ही दर्शनीय चिंतनीय एवं श्रवणीय है, अतः अपनी रूचि अनुसार
खड़े हुये, चलते हुये, बैठे हुये, पौढ़े हुये अर्थात् अन्तर्यामी रूप में स्थित
(शयनावस्थित) हुये उनके स्वरूप का विशुद्ध भाव युक्त चित्त से चिन्तन करे।
इस प्रकार योगी जब यह अच्छी तरह देख ले कि भगवद्विग्रह में चित्त की स्थिति

---

1 — स यदा मन स्वं विरजं योगेन सुसमाहितम्।
काष्ठां भगवतो ध्यायेत् स्वनासाग्रावलोकनः॥

प्रसन्नवदनाम्भोजं पद्मगर्भारुणेक्षणम्।
नीलोत्पलदलश्यामं शंखचक्रगदाधरम्॥

लसत्पङ्कजकिञ्जल्कपीतकौशेयवाससम्।
श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत् कौस्तुभामुक्तकन्धरम्॥

मत्तद्विरेफकलया परीतं वनमालया।
परार्ध्यहार वलय किरीटाङ्गदनूपुरम्॥

काञ्ची गुणोल्लसच्छ्रोणिं हृदयाम्भोजविष्टरम्।
दर्शनीयतमं शान्तं मनोनयनवर्धनम्॥

अपीच्यदर्शनं शश्वत्सर्वलोकनमस्कृतम्।
सन्तं वयसि कैशोरे भृत्यानुग्रहकातरम्॥

कीर्तन्यतीर्थयशसं पुण्यश्लोक यशस्करम्।
ध्यायेद्देवं समग्राङ्गं यावन्न च्यवते मनः॥

स्थितं व्रजन्तमासीनं शयानं वा गुहाशयम्।
प्रेक्षणीयेहितं ध्यायेच्छुद्धभावेन चेतसा॥

तस्मिंल्लब्धपदं चित्तं सर्वावयवसंस्थितम्।
विलक्ष्यैकत्र संयुज्यादङ्गे भगवतो मुनिः॥

— श्रीमद्भा० म०पु० स्क०-3, अ० - 28, श्लोक - 12-20

हो गयी है , तब वह उनके समस्त अंगों में लगे हुये चित्त को विशेष रूप से एक-एक अंग में लगावे । इसी प्रकार से धारणा वास्तव में दृढ़ होती है और मनुष्य का समाधि प्रति गमन करने वाला ध्यान रूपी मार्ग प्रशस्त होता है ।

ऐसे ही कूर्मपुराण ने कहा है कि मनुष्य को ध्यान से पूर्व द्वादश धारणा करनी चाहिये तब धारणा स्थिर बनती है और द्वादश धारणा से ध्यान की उत्पत्ति है और द्वादश ध्यान से साधक समाधि को प्राप्त होता है ।

ध्यान

ध्यान नं० - 1

महर्षि पतंजली लिखते हैं कि "धारणा " से हृदयमन जब सम्यकतया निश्चल एवं स्थिर हो जाये ,तब साधक विश्वास से सम्पन्न होकर साकार मूर्त्तिया (वैग्रयिक मूर्त्ति) या शाब्दिक मूर्त्ति में या देहस्थित आत तत्व में भगवान का ध्यान करे , जिसके सुचारू रूपेण करते हुये समाधि प्राप्त की जा सकती है ।

इसी की विधि का वर्णन श्री मद्भागवत पुराण में निम्नलिखित रूपेण उपदिष्ट है जो कि सम्भवत: बिल्कुल कसौटी पर भी उतरता है, वह है - भगवान के चरण से लेकर प्रभु के क्रमश: उपर उठते हुये सम्पूर्णाङ्ग शरीर में इस प्रकार से अपने अन्त:करण में भाव पैदा करने चाहिये और आनन्दातिरेक को उत्पन्न करना चाहिये जैसे कि - भगवान के चरण कमलों का ध्यान करना चाहिये जिनमें वज्र , अंकुर , ध्वजा और कमल के मंगलमय चिन्ह युक्त है तथा अपने उभरे

हुये लाल - लाल शोभायमान नख चन्द्र मण्डल की चन्द्रिका से ध्यान करने वालों के हृदयस्थ (हृदिस्थ) अज्ञान रूपी घोर अन्धकार को धो डालते हैं।

इन्हीं की धोवन से नदियों सर्वश्रेष्ठ श्री गंगा जी प्रकट हुई थीं, जिनके परमपवित्र जल को मस्तक पर धारण करने के कारण स्वयं मंगलमय श्री महादेव जी और भी अधिक मंगलमय हो गये थे। ये अपना ध्यान करने वालों के पाप रूप पर्वतो पर छोड़े इन्द्र के वज्र के समान है। इस प्रकार से भगवान के चरण कमलों का चिरकाल तक चिन्तन करना चाहिये।[2,1]

इसके पश्चात् साधक को चाहिये कि भवभय हारी अजन्मा भगवान श्रीहरि की दोनों पिंडलियों एवं घुटनों का ध्यान करे, अन्तःकरण से चिन्तन शील मन को थोड़ा ऊपर की ओर उठाते हुये जांघों का ध्यान करे तथा भगवान गरूड़ जी की पीठ पर आसीन है ऐसा मन ही मन चिन्तन से देखे।[3]

---

1. संचिन्तयेद्भगवतश्चरणारविन्दं,
वज्राङ्कुशध्वजसरोरूहलाञ्छनाढ्यम्।
उत्तुङ्गरक्त विलसन्नखचक्रवाल
ज्योत्स्नाभिराहतमहद्धृदयान्धकारम्।।

2- यच्छौचनिःसृतसरित्प्रवरोदकेन
तीर्थेन मूर्ध्न्यधिकृतेन शिवः शिवोऽभूत्।

3- ध्यातुर्मनःशमलशैलनिसृष्टवज्रम्
ध्यायेच्चिरं भगवतश्चरणारविन्दम्।।

- श्रीमद्भा० म०पु० स्क० -3, अ०-28, श्लो० - 21-22

" तब और थोड़ा सा ऊपर उठते हुये सम्पूर्ण लोको के आश्रय स्थान भगवान के उदर में नाभि सरोवर का ध्यान करे। जो कि विधाता ब्रह्मा जी को भी प्रकटित करने वाला मुख्य स्थान रहा है। फिर सर्वश्रेष्ठ दोनों स्तनों का चिन्तन (ध्यान) करे। उसके पश्चात् भगवान के वक्षः स्थल का ध्यान करे जो कि भगवती लक्ष्मी का निवास स्थान है और लोगों के मन एवं नेत्रों को आनन्द देने वाला है। फिर सम्पूर्ण लोकों के वन्दनीय भगवान के गले का चिन्तन करे जो मानो कौस्तुभमणि को भी सुशोभित करने के लिए ही उसे धारण करता है।

तब भगवान की सर्वलोकाश्रयभूता चारों भुजाओं का ध्यान करे, तब सहस्र धारों वाले भगवान की दाहिनी तर्जनी पर सुशोभित सुदर्शन चक्र का ध्यान एवं चिन्तन करें एवं कर कमल में राजहंस के समान विराममान शंख का भी ध्यान करे। तब विपक्षी वीरों को कुचलने वाली गदा का ध्यान करे। तदनन्तर भौरों के शब्द से गुञ्जायमान वनमाला का एवं कण्ठ में सुशोभित कौस्तुभमणि का ध्यान करे।[1]

1- जानुद्वयजलजलोचनया जनन्यां, लक्ष्म्याखिलस्य सुरवन्दितया विधातुः।
ऊर्वोर्निधाय करपल्लवरोचिषायत्, संलालितं हृदि विभोरभवस्य कुर्यात्।।
ऊरू सुपूर्ण भुजयोरधि शोभमाना, वो जो निधी अतसिकाकुसुमावभासौ।
व्यालम्बिपीत वरवाससि वर्तमान, काञ्ची कलापपरिरम्भिनितम्बबिम्बम्।।
नाभिह्रदं भुवनकोश गुहोदरस्थं, यत्रात्मयोनिधिषणाखिललोकपद्मम्।
व्यूढ हरिन्मणि वृषस्तनयोरमुष्य, ध्यायेद्द्वयं विशद हारमयूखगौरम्।।
वक्षोऽधिवासमृषभस्य महाविभूतेः, पुंसां मनोनय निर्वृतिमादधानम्।
कण्ठं च कौस्तुभमणेरधिभूषणार्थं, कुर्यान्मनस्यखिललोकनमस्कृतस्य।।
बाहूश्च मन्दरगिरे परिवर्तनेनिर्णिक्तबाहुवलयानधिलोकपालान्।
सञ्चिन्तयेद्दशशतारमसह्यतेजः, शङ्ख च तत्करसरोरुहराजहंसम्।।
कौमोदकीं भगवतोदयितां स्मरेत, दिग्धामरातिभटशोणितकर्दमेन।
मालां मधुव्रतवरूथगिरोपघुष्टां, चैत्यस्य तत्वममलं मणिमस्य कण्ठे।।
-श्रीमद्भा०म०पु०, स्क०-3, अ०-28, श्लो० - 23- 28।

ध्यान नं0 - 2

भक्तों पर कृपा करने वाले ही यहां साकार रूप धारण करने वाले श्री हरि के मुख का ध्यान करे जो कि नासिका से सुशोभित है। अतिशय स्वच्छ कपोलों के साथ मनोहर जान पड़ता है जो कि काली-काली अलका वाली से मश्रित भगवान का मुख मण्डल अपनी कान्ति के द्वारा भ्रमरों से सेवित कमल कोश का भी तिरस्कार कर रहा है उसी मुखवदन पर विराजमान मछलियों के जोड़ों को भी मात करने वाले दोनों नेत्रों का ध्यान करे। उन्नत भ्रूलताओं से सुशोभित भगवान के ऐसे मनोहारी मुखारविन्द की मन में धारणा करके आलस्य रहित हो उसी का ध्यान करे।

हृदय गुहा में चिरकाल तक भक्ति भाव से भगवान के नेत्रों की चितवन का ध्यान करना चाहिये - जो कृपा से और प्रेम से परिपूर्ण मुस्कान से क्षण-क्षण अधिकाधिक बढ़ती रहती है विपुल वर्षा करता है, और भक्तजन साधकों के अत्यन्त घोर तीनों तापों (आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक) का नाश करने के लिए ही प्रकट हुई है। विश्व को मोहित एवं मुनियों को मोहित करने के लिए भगवान द्वारा धारण परिपूर्ण हास्य (मन्द-मन्द मुस्कान) को धारण करने वाले भगवान के भ्रूमण्डल का ध्यान करे।

अत्यन्त प्रेमार्द्रभाव से अपने हृदय में विराजमान श्री हरि के खिलखिलाकर हंसने का ध्यान करे, जो वस्तुतः ध्यान के ही योग्य है तथा जिसमें ऊपर और नीचे के दोनों होठों की अत्यधिक लालिमा (अरूण कान्ति) के कारण उनके कुन्दकली के समान शुभ्र छोटे - छोटे दांतों पर लालिमा सी प्रतीत होने लगी है। इस प्रकार ध्यान में तन्मय होकर उनके सिवा या आत्मा के सिवा किसी अन्य पदार्थ को देखने की इच्छा न करे।

इसी प्रकार ध्यान के अभ्यास से साधक का परमतत्व श्री हरि में प्रेम हो जाता है, उसका हृदय भक्ति भाव से द्रवित हो जाता है, शरीर में आनन्द अतिरेक के कारण रोमाञ्च होने लगता है, उत्कण्ठा जनित प्रेमाश्रुओं की धारा में बारंबार स्वदेह को नहलाता है और मछली पकड़ने के काँटे के समान श्री हरि को अपनी ओर आकर्षित करने के साधन रूप अपने चित्त को भी धीरे - धीरे ध्येय वस्तु से हटा लेता है इसी को वास्तव में महर्षि पतञ्जली के अनुसार धारणा के पश्चात् विश्वास से परिपूर्ण होकर एकतत्व का चिन्तन करने को कहा है।

---

1. भृत्यानुकम्पितधियेह गृहीतमूर्तेः, संञ्चिन्तयेद्भगवतो वदनारविन्दम् ।
यद्विस्फुरन्मकरकुण्डलवल्गितेन, विद्योतितामलकपोलमुदारनासम् ।।
यच्छ्रीनिकेतमलिभिः परिसेव्यमानं, भूत्या स्वया कुटिलकुन्तलवृन्दजुष्टम् ।
मीनद्वयाश्रयमधिक्षिपदब्जनेत्रं, ध्यायेन्मनोमय तन्द्रित उल्लसद्भ्रु ।।
तस्यावलोकमधिकं कृपयातिघोर, तापत्रयोपशमनाय निसृष्टमक्ष्णोः ।
स्निग्धस्मितानुगुणितं विपुलप्रसादं, ध्यायेच्चिरं विततभावनया गुहायाम् ।।
हासं हरेरवनताखिललोकतीव्र शोकाश्रुसागरविशोषणमत्युदारम् ।
सम्मोहनाय रचितं निजमाययास्य, भ्रूमण्डलं मुनिकृते मकरध्वजस्य ।।
ध्यानायनं प्रहसितं भगसारुणायिततनुद्विज कुन्दपङ्क्ति ।
ध्यायेत्स्वदेह कुहरेऽवसितस्य विष्णो भक्त्याऽऽर्द्रयार्पितमना न पृथग्दिदृक्षेत् ।।
एवं हरौ भगवति प्रतिलब्धभावो भक्त्या द्रवद्धृदय उत्पुलकः प्रमोदात् ।
औत्कण्ठ्य बाष्पकलया मुहुरर्द्यमान स्तच्चापि चित्तबडिशं शनकैर्वियुङ्क्ते ।।
श्रीमद्भा० म० पु०, स्क०-3, अ० - 28, श्लो० - 29-34

यह द्वादश धारणाओं के बाद एक धारणा को एवं द्वादश ध्यान के पश्चात् एक परमार्थनीय श्रीहरि रूपी ध्यान को बल मिलता है । ऐसा कहना की प्रथमत: एकतत्व पर विश्वास जम जाये अतिशयोक्ति होगी जैसे मनुष्य किसी वृक्ष पर चढ़ कर जब तक उसका पत्ता पत्ता छान नहीं लेता तब तक उसके चित्त में सन्देह रहता है जिस सन्देह को मिटाने के लिए वह वृक्ष की टहनियों को छान कर जब शान्त हो जाता है तब उसे उस सम्पूर्ण विकसित वृक्ष का स्मरण रहता है उसे तत्पश्चात् स्मरण करने की इच्छा नहीं रहती ठीक वैसे ही आत्म तत्व की प्राप्ति के लिए भी साधक गण करते आये हैं । जैसे बहुत से वेदादि शास्त्रों के अध्ययन के पश्चात भी मनुष्य को एक ऊंकार को का उपदेश है परन्तु मनुष्य उसी ऊंकार की खोज करने के लिए जब तक युक्त युक्त शास्त्रों को नहीं पढ़ लेता तब तक उसका मन ऊंकार में समाहित नहीं होता है । इसी ऊंकार का आलम्बन कर वह शास्त्र रूपी वृक्षों को छान कर अन्तत: ऊंकार पर उतरता है ठीक वैसे ही चरणों से लेकर साधक शनै: शनै: अजन्मा भगवान श्री हरि के मुख वदन तक ध्यान करते हुये सम्पूर्णांग श्रीहरि का मन ही मन में ध्यान करते हुये उसी में समाहित हो जाता है, तन्मय हो जाता है जिसे योगशास्त्र में ध्यान कहते हैं । ऐसे ही जैसे बहुत से तीर्थों की यात्रा से मन संतुष्ट होकर सबको एकाकार कर मन में समाहित कर लेता है और स्वयं को सबमें समाहित होता हुआ देखने लगता है ।

समाधि

समाधि के विषय में महर्षि पतञ्जली जी का मानना है कि मात्रात्मक आभास से भी रहित ध्येयाकार स्वरूप अहंन्ताच्छादित रूप शून्य होने को ही समाधि कहते हैं[1]। अर्थात् जब साधक ध्यानावस्था में ध्यान करते - करते उसी ध्यानार्थ ध्येय में विलीन हो जाता है और अहं रूपी स्वरूप से रहित हो जाता है अर्थात् ध्येय में तन्मय हो जाता है उसी ध्यानावस्था का नाम ही समाधि है ।

यह समाधि वैसी ही प्रतीत होती है जैसे कभी-कभी हम देखते हैं कि गले में आभूषित माला को भी हम भूल जाते हैं और अपने मन को अन्यत्र लगा देते हैं । ऐसा उदाहरण सम्भवत: साधारणत: लोक में दृष्टिगोचर होता हुआ सा देखा जा सकता है ।

कई बार सामान्य मनुष्यों में भी ऐसी भावना देखने को मिलती है, जब कोई अपने परमहितैषी के विषय में चिन्तन कर रहा होता है और अन्य के बुलाये जाने पर भी उसे उसके कानों में ध्वनि तक सुनाई नहीं देती है या कई बार मनुष्य के हृदय में कोई चिन्तन चल रहा होता है और मनुष्य बात किसी अन्य के बुलाने पर उससे करता है और उसकी बात का स्पष्टत: प्रश्नकर्त्ता के अनुसार पूर्ववत् उत्तर नहीं देता, जिसके कारण स्वरूप प्रश्नकर्त्ता कुछ खिन्न सा हो जाता है या पुन: कुछ समय के पश्चात् बात करने को कहा करते हैं, यही वास्तव में

---

1. तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधि: ।।-पा०यो०द०, पा०-3, सू०-3

समाधि है । परन्तु यह लौकिक है जबकि योग विषयक परमार्थतः अलौकिक
होनी चाहिये कही गई है।जिसके विषय में भागवत पुराण अमुक प्रकार से
वर्णन मिलता है जिसमें भगवान कपिल मुनि अपनी माता देवहूति जी को
अष्टाङ्ग योग के वर्णनान्तर्गत समाधि के विषय में बताते हैं कि हे माते !
जब योग साधना करते करते ध्यानाभ्यास से साधक का श्रीहरि में प्रेम हो जाता
है , तब उसका हृदय भक्ति भाव से नाच उठता है,उसमें समुद्र की तरङ्गों
जैसी तरङ्गे उठती हैं और तब उसकी खुशी की कोई सीमा नहीं रहती, वह
रोमाञ्चित हो उठता है।उसी रोमाञ्च ही रोमाञ्च में अपने प्रभु को पालेने
के कारण,साधक की आंखों से खुशी के अश्रुओं की धारा फूटने लगती है । वह
बार-बार अपने शरीर को उसी धारा से नहलाता है और तदनन्तर मछली
पकड़ने के कांटे के समान श्री हरि को अपनी ओर आकर्षित करने के साधन रूप
चित्त को भी धीरे - धीरे ध्येय वस्तु से हटा लेता है । जैसे तेल आदि के चुक
जाने पर दीपशिखा अपने कारण रूप तेजस्तत्व में लीन हो जाती है;वैसे ही
आश्रय, विषय और राग से रहित होकर मन शान्त ब्रह्माकार हो जाता है, इस
अवस्था के प्राप्त होने पर जीव गुण प्रवाह रूप देहादि उपाधि से निवृत्त हो
जाने के कारण ध्याता ध्येय आदि विभाग से रहित एक अखण्ड परमात्मा को ही
सर्वत्र अनुगत देखता है[1]। योगाभ्यास से प्राप्त हुई चित्त की इस अविद्या रहित

---

1. एवं हरौ भगवति प्रतिलब्धभावो,भक्त्या द्रवद्धृदय उत्पुलकःप्रमोदात् ।
औत्कण्ठ्यबाष्पकलया मुहुरर्द्यमान, स्तच्चापि चित्तबडिशं शनकैर्वियुङ्क्ते ।।
मुक्ताश्रयं यर्हि निर्विषय विरक्तं, निर्वाणमृच्छतिमनः सहसा यथार्चिः ।
आत्मानमत्र पुरुषोऽव्यवधानमेक,मन्वीक्षते प्रतिनिवृत्तगुणप्रवाहः ।।
सोऽप्येतया चरमया मनसो निवृत्त्या,तस्मिन्महिम्न्यवसितःसुखदुःख बाह्ये ।
हेतुत्वमप्यसति कर्त्तरि दुःखयोर्यत्, स्वात्मन विधत्त उपलब्ध परात्मकाष्ठः।।
– श्रीमद्भा०म०पु०, स्क० -3, अ० - 28, श्लो० 34-36

लय रूप निवृत्ति से अपनी सुख दुःख रहित ब्रह्मरूप महिमा मे स्थित होकर परमात्म तत्व का साक्षात्कार लेने पर वह योगी जिस सुख दुःख के भोक्तृत्व को पहले अज्ञानवश अपने स्वरूप में देखता था, उसे अब अविद्याकृत अहंकार में ही देखता है।

आगे एक और उदाहरण प्रस्तुत करते हुये कहते हैं कि जैसे मदिरा से मतवाले पुरूष को अपनी कमर पर लपेटे हुए वस्त्र के रहने या गिरने की कुछ भी सुधि नहीं रहती, उसी प्रकार चरमावस्था को प्राप्त हुए सिद्ध पुरूष को भी अपनी देह के उठने-बैठने अथवा दैव वश कहीं जाने या जाकर लौट आने के विषय में कुछ भी ज्ञान नहीं रहता है, क्योंकि वह अपने परमानन्दमय वास्तविक स्वरूप में स्थित है।[1] उसका शरीर तो पूर्व जन्म के संस्कारों के अधीन है, अतः जब तक उसका आरम्भक प्रारब्ध शेष है तब तक वह इन्द्रियों के सहित जीवित रहता है, किन्तु जिसे समाधि पर्यन्त योग की स्थिति प्राप्त हो गई है और जिसने परमात्मतत्व को भी भलिभांति जान लिया है, वह सिद्ध पुरूष पुत्र-कलत्रादि के सहित इस शरीर को स्वप्न में प्रतीत होने वाले शरीर के समान फिर स्वीकार नहीं करता फिर उसमें अहन्ता ममता नहीं रहती है अर्थात् जिस में अहंता भी विलीन हो जाती है उसी लब्धआत्मतत्व को समाधि योग की संज्ञा दी गई है यही वास्तविक समाधि भी है। परम हंस रामकृष्ण भी इसी को कहते हैं।[2]

1. देहं चतं न चरमः स्थितमुत्थितं वा, सिद्धोविपश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम्।
दैवदुपेतमथ दैववशादपेतं वासो यथा परिकृतं मदिरामन्दान्धः ॥
देहोऽपि दैववशगः खलुकर्मयावत् स्वारम्भकं प्रतिसमीक्षत एव सासुः।
तं प्रपञ्चमधिरूढ़ समाधियोगः स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्धिवस्तुः ॥
- श्रीमद् भा०म०पु० स्क०-3, अ०-28, श्लो० - 37-38

2. परमहंस, श्राम कृष्ण लीला प्रसंग

कैवल्य

समाधि का बने रहना एवं परमात्मतत्व को प्राप्त कर उसका पौनः
पुन्येन आत्मा को परमात्मा में लगाना तथा सामाजिक जगत में भी सब की
आत्मा को अपने से अभिन्न एवं सबमें अपनी ही झांकी को देखने वाला कैवल्य
को प्राप्त होता है । कैवल्य को प्राप्त योगी में ही समत्व भाव पनपता है[1] ।

गीता में भी भगवान श्री कृष्ण कहते हैं कि योगी को सर्वत्र समदर्शी होना
चाहिये । ज्ञान से सम्पन्न एवं पक्व ज्ञान रूपी फलों से नमित बनकर योगी को
ब्राह्मण, गौ , हाथी, कुत्ते और चाण्डाल एवं इनसे भिन्न जो भी चराचर
जगत में दिखाई देता है सबमें समान भाव रखना चाहिये यही समत्व योग है[2]। यही
कैवल्य दायक है । जिस प्रकार देहदृष्टि से सभी जरायुज, अण्डज, स्वेदज एवं
उद्भिज चारों प्रकार के प्राणी पञ्चभूतमात्र है, उसी प्रकार सम्पूर्ण जीवों में
आत्मा को एवं आत्मा में सम्पूर्ण जीवों अनन्यभाव से अनुगत देखे । जिस प्रकार
१८ एक ही अग्नि अपने पृथक-पृथक आश्रयों में उनकी विभिन्नता के कारण भिन्न-भिन्न
आकार का दिखाई देता है उसी प्रकार देवों मनुष्यादि शरीरों में रहने वाला
एक ही आत्मा अपने-अपने आश्रयों के गुण भेद के कारण भिन्न-भिन्न प्रकार का
भासता है ।अत: भगवान का भक्त जीव के स्वरूप को छिपा देने वाली कार्यकारण
रूप से परिणाम को प्राप्त हुई भगवान की इस अचिन्त्य मयी माया को भगवान
की कृपा से ही जीतकर अपने वास्तविक स्वरूप ब्रह्म रूप में स्थित होता है[3] ।

---

1. सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षेतानन्य भावेन भूतेष्विव तदात्मताम् ।।-श्रीमद्भा०म०पु०, स्क०-3, अ०-28, श्लो०-42

2. विद्याविनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिता समदर्शिनः ।। - गीतायाम् 5।18

3. स्वयोनिषु यथा ज्योतिरेक नानाप्रतीयते योनीनां गुणवैषम्यात तथात्मा
प्रकृतौस्थितः ।। तस्मादिमां स्वां प्रकृतिं दैवी सदसदात्मिकाम् ।
दुर्विभाव्यां पराभाव्य स्वरूपेणावतिष्ठते ।। - श्रीमद्भा० म०पु०, स्क०-3, अ०-28, श्लो०-44

इसी कैवल्य के विषय में अन्य श्रुतियों का भी यही मत रहा है कि सभी में अपने को देखो और अपने में सभी को देखो तभी योग साधना सफल होती है। जिसका ऐसा भाव हो जाता है वही मुक्ति को प्राप्त होता है अर्थात् उसे ही कैवल्य की प्राप्ति होती है। निःश्रेयसाधिगम होता है। (तदनन्तर कहते हैं कि मनुष्य को समाधि प्राप्ति के बाद किसी के घर कभी भी क्षणिक काल से अधिक देर तक नहीं बैठना चाहिये और किसी से भी ज्यादा वार्तालाप नहीं करना चाहिये। इसके अतिरिक्त यहां कहीं उसकी कोई प्रशंसा की जाने लगे या उसे लगे कि यहां पर मेरी प्रशंसा होने लगी है उसे समाध्यधिगम योगी को निःश्रेयस (कैवल्य) प्राप्ति को ध्यान में रखकर तत्काल चले जाना चाहिये तदनन्तर कभी भी ऐसे सभागारों या घरों में नहीं जाना चाहिये) वास्तव में समाध्यधिगम योगी को एकान्तवासी ही होना चाहिए क्योंकि अपनी उसका जो जीवन श्रेष्ठ है उसमें कभी भी विसंगति आ सकती है, जैसे कुछ दिन योग की संगति से योग प्राप्त कर लेता है ठीक वैसे ही पुनः आत्मप्रशंसा या समाज की संगति में जाकर सामाजिक रागोपक्रम से भी रामरञ्जित हो सकता है। इसी के लिए साधारण मनुष्य को योगियों का त्रिकाल सन्ध्या का सेवन करने के लिए उपदेश करते हैं और ये सन्ध्या सभी को यो भी मोक्षेच्छु है उन्हें प्राप्त होनी चाहिये, क्योंकि इसमें योगसाधना के अन्तर्गत प्राणायाम आदि की पूरी - पूरी व्यवस्था जिससे मन तत्काल अपने प्राप्य एवं प्राप्त लक्ष्य को बेध डालता है।

नि:श्रेयस की (कैवल्य की) प्राप्ति के लिए समाधिस्थ बने रहना इसलिए भी परमावश्यक हो जाता है जैसे लौकिक जगत् में हम एक भवन निर्माण करते हैं उसे अपने मनोनुकूल भी बनाने में सफलता कर लेते हैं अन्तत: एक अति सुन्दर मनोहर भवन का निर्माण हो जाता है बना तो लिया परन्तु उसकी यदि समय - समय पर पुन: निगरानी न की जाये और उसको यथावत शोभायमान बने बनाये रखने के लिए दो-चार वर्ष के प्रावधान से झाड़-झूड के साफ न किया जाये और उस पर अपना अस्तित्व बना रहे विशाल रूपधारणीय छोटे- छोटे वट आदि वृक्षों को तत्क्षण न हटाया जाये तो ऐसे भवनों की शोभा ही नहीं बल्कि असमय अथक परिश्रम एवं विपुल धन सम्पत्ति से चित्त लगाकर बनाये भवन भी विनाश को प्राप्त हो जाते हैं । अत: कहा गया है कि योगी को तब तक समाध्यधिगम परम पुरुष परमेश्वर के चरणों में ध्यान लगाकर बैठे रहना चाहिये जब तक आरम्भक प्रारब्ध से प्राप्त देहमुक्त होकर विदेह को प्राप्त नहीं हो जाता । अत: विदेह की प्राप्त और देह की समाप्ति बिना काल के पूर्व स्वयं निश्चित करके मुक्ति की इच्छा जो करते हैं वे असम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त न होकर सम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त होते हैं जिनके चित्त में वृत्तियों के संस्कार मात्रात्मक रूप में निहित छुपे रहते हैं जो अर्धशुष्क (छद्मशुष्क) या सूख रहे वृक्ष की तरह जल आदि के संयोग से पुन: पनप उठते हैं । इसीलिए कहा है कि - योगी या मुमुक्षु जो भी करे उसमें जो कर्त्ता हुआ भी अपने को अकर्त्ता मानता है वही योगी है ।

जैसे कि शास्त्रों में सुस्पष्ट सकाम एवं निष्काम योग की व्याख्या मिलती है और योगी को निष्काम ही प्रिय होना चाहिये । परन्तु यदि मै माने कि निष्काम कर्म का फल नहीं मिलता है और सकाम का फल मिलता है तो अनुचित एवं कर्मों को दुत्कार देने जैसा होगा । ऐसा इसलिए कि कोई भी कर्म ऐसा नहीं है जिसका फल नहीं मिलता हो परन्तु दोनों में अन्तर है , लोक में {जगत} में जैसे उदरपूर्त्ति में लगे मनुष्य भी द्विविध वृत्ति से एक चोरी ठगी से तो अन्य कर्म योग से जीविका कमाते हुये अपयश {दण्ड} एवं सुयश को प्राप्त होते हैं वैसे ही सकामी रजोगुण को प्राप्त होकर पुनः पुनः गर्भ का कृमि बनता है और निष्काम कर्म योगी को दिव्य गुण प्राप्त होते हैं । जैसे बुरे कर्म का फल अर्थात् पाप का फल किसी को तत्क्षण तो किसी को कुछ कालान्तर मिलता हुआ देखा है जिससे उसका सद्वृत्ति से पूर्वसंञ्चित धन भी पापात्मक धन के साथ समूल नाश कर देता है । असद्वृत्ति प्रारम्भ में तो अच्छी लगती है परन्तु बाद में इसका परिणाम जब स्पष्टतः सामने आता है तब वह केवल एक तने या शाखा को नष्ट करके नहीं रखता बल्कि जो - जो भी उसका जानकर या अनुमोदित अधिकारी बना हुआ होता है ऐसा सम्पूर्ण तना शाखाओं टहनियों एवं पत्तों से युक्त मनुष्य रूपी वृक्ष का सर्वनाश करके रख देते हैं अतः इनसे बचना ही निष्काम है ।

निष्काम कर्म का फल चिरकाल में मिलने लगता है उसके मिलने में दिनों नहीं महीने नहीं अपितु सालों-साल लग जाते हैं जिसमें मनुष्य को कई बार परीक्षा के बीचो बीच गुजरना पड़ता है । यह परीक्षा भी अन्य परीक्षाओं से अनोखी होती है । इसी परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए यदि कोई सर्वश्रेष्ठ

मार्ग है तो वह है ईश्वर प्रणिधान और अभ्यास यत्नपूर्वक किया गया अभ्यास एवं अभ्यास के साथ-साथ ईश्वर प्रणिधान का आलम्बन मनुष्य की वास्तविक कसौटी है । ईश्वर प्रणिधान दोनों ही तरह सकाम एवं निष्काम कर्मयोगियों को अपेक्षित लगता है । क्योंकि मूलतः देखा है कि कुछ स्वयं को अन्य की स्पर्धा में श्रेष्ठ एवं पूर्णतः सामाजिक कानून एवं विधियों पर शत प्रतिशतः उतरने वाले वञ्चित रह जाते हैं और ईश्वराश्रित या झुककर चलने वाले सफल हो जाते हैं । जिसका कारण ईश्वरीय भजन स्तुति होती है या ईश्वर रूप में स्थित प्रशंसकों की प्रशंसा एवं संस्तुति का ही वरदान मिलना होता है क्योंकि भगवान ने स्वयं कहा है कि जो मुझे पत्थर की मूर्त्तियों की अपेक्षा मनुष्य में भजता है वही ज्ञानी है । परन्तु ऐसा सकामी के लिए कहा है न कि निष्काम भावी के लिए कहा है । ऐसा मेरा मत है । निष्काम का मार्ग सत् अकाल पुरूष को हर कार्य में देखना और हर कार्य उसी का समझना और उसी द्वारा किया जा रहा है ऐसा समझना और यहां तक कि उसके द्वारा दी जा रहें वरदानों को भी उसी के अर्पण करने वाला ही परम श्रेष्ठ योगी कहलाता है । भगवान कपिल कहते हैं कि भगवान एक है, ज्ञान स्वरूप और निर्गुण है, तो भी वह बाह्य वृत्तियों वाली इन्द्रियों के द्वारा भ्रान्ति वश शब्दादि धर्मों वाले पृथक - पृथक् {विभिन्न} पदार्थों के रूप में भासमान {भास रहा} है । जिस प्रकार एक ही ब्रह्म महतत्व वैकारिक, राजस एवं तामस तीन प्रकार का अहंकार, पञ्चमहाभूत एवं ग्यारह इन्द्रियां बन गया और फिर वही स्वयं प्रकाश इनके संयोग से ब्रह्म कहलाया, उसी प्रकार उस जीव का शरीर रूप यह ब्रह्माण्ड भी वस्तुतः ब्रह्म ही है,

क्योंकि इसकी उत्पत्ति ब्रह्म से ही हुई है किन्तु इसे ब्रह्म रूप से वही देख सकता है जो श्रद्धा, भक्ति पर वैराग्य तथा निरन्तर आत्म ज्ञान रूपी नि:श्रेयस प्राप्ति के लिए योगाभ्यास के द्वारा एकाग्र चित्त और असंग बुद्धि हो गया है । इसी असंग बुद्धि रहित होने को अर्धमात्रा निर्भास स्वरूप शून्य माना गया है न कि विस्मृति का नाम जड़ता का नाम शून्य है । ऐसा भाव है कि इस अवस्था में बुद्धि जिस उपाधि से विभूषित थी और आत्मा से अधिकार प्राप्त कर बैठी थी ऐसी अवस्था में वह अपने ऊपर स्थित मलीय प्रकाशावरण को हटा लेती है और उसके ऊपर विजय प्राप्त मनुष्य के लिए आगे का मार्ग प्रशस्त करती है जिससे मनुष्य या योगी ब्रह्ममय हो जाता है । यही कैवल्य है ।

कैवल्य ही योग की सफलता है और मनुष्य को चाहिए कि वह कैवल्य की प्राप्ति का प्रयत्न करे और यह कैवल्य की प्राप्ति भी केवल मनुष्य के लिए ही कही गई है । दुर्गा सप्तशती उपदिष्ट करती हुई कहती है कि वैसे ज्ञान तो पशु पक्षी सभी के देह प्राण में निहित आत्मायुक्त प्राणियों में रहता है परन्तु परन्तु मनुष्य में पाशविक ममत्व न होकर ज्ञानरूप से रहता है जिसके कारण मनुष्य योनि जन्म को सर्वोत्तम योनि जन्म माना गया है ।

1\. ज्ञानमेकं पराचीनैरिन्द्रियै ब्रह्म निर्गुणम् ।
अवभात्यर्थ रूपेण भ्रान्त्या शब्दादि धर्मिणा ।।
यथा महान हं रूपस्त्रिविध पञ्चविध: स्वराट
एकादशविधस्तस्य वपुरण्डं जगद्यत: ।।
एतद्वै श्रद्धया भक्त्या योगाभ्यासे नित्यश: ।
समाहितात्मा नि:सङ्गो विरक्तया विपश्यति ।। - 28-30 महाभागवति चैवंपूः कुपुष्क ।।

2\. ज्ञानमस्ति समस्तस्य जन्तोर्विषयगोचरे विषयश्च महाभागयाति चैवं पृथक् पृथक् ।।
दिवान्धा: प्राणिन: केचिद्रात्रावन्धास्तथापरे ।
केचिद्दिवातथारात्रौ प्राणिन: स्तुल्य दृष्टय: ।।
ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवति हिसा । - दुर्गा० सप्तशती ।

जैसे कि महर्षि व्यास लिखते है कि पाषाणादि अचेतनों की अपेक्षा वृक्षादि जीव श्रेष्ठ है , उनमें भी मन वाले प्राणी श्रेष्ठ हैं और उनसे इन्द्रिय की वृत्तियों से युक्त प्राणी श्रेष्ठ है , सेन्द्रिय प्राणियों में भी केवल स्पर्श का अनुभव करने वालों की अपेक्षा रस ग्रहण करने वाले मत्स्यादि उत्कृष्ट हैं तथा रसवेत्ताओं की अपेक्षा गन्ध का अनुभव करने वाले (भ्रमरादि) और गन्ध का ग्रहण करने वालों से भी शब्द का ग्रहण करने वाले (सर्पादि) श्रेष्ठ हैं । उनसे भी रूप का अनुभव करने वाले (काकादि) उत्तम हैं, उनकी अपेक्षा उभयदन्ती विशेष श्रेष्ठ है उनमें भी बिना पैरों वालों से बहुत से चरणों वाले श्रेष्ठ हैं और उनमें भी चार चरण वाले श्रेष्ठ हैं चारों चरणों वालों से भी द्विपद मनुष्य ही श्रेष्ठ है और मनुष्य से श्रेष्ठ कोई नहीं है । इनमें भी वर्णा श्रम व्यवस्था में स्थित ब्राह्मण श्रेष्ठ है, ब्राह्मणों में भी वेद ज्ञाता श्रेष्ठ है । वेदज्ञ से भी श्रेष्ठ वेदों का तात्पर्यज्ञ श्रेष्ठ है । तात्पर्य वेत्ताओं से श्रेष्ठ है संशय का निवारण करने वाले उनसे भी स्व-स्व वर्णाश्रयोचित धर्म का पालन करने वाले और उनसे भी श्रेष्ठ आसक्ति का त्याग करने वाले और अपने धर्म का निष्काम भाव से आचरण करने वाले उत्तम हैं ।

---

1. जीवा: श्रेष्ठा ह्य जीवानां तत: प्राणभृत: शुभे ।
तत: सचित्ता: प्रवरास्ततश्चेन्द्रियवृत्तय: ।।
तत्रापि स्पर्श वेदिभ्य: प्रवरा: रसवेदिन: ।
तेभ्यो गन्धविद: श्रेष्ठास्तत: शब्दविदोवरा: ।।
रूप वेदविदस्तत्र ततश्चोभयोदत: ।
तेषां बहुपदा: श्रेष्ठाश्चुतष्पादस्ततो द्विपात् ।।
ततो वर्णाश्चत्वारस्तेषां ब्राह्मण उत्तम: ।
ब्राह्मणेष्वपि वेदज्ञो ह्यर्थज्ञोऽभ्यधिकस्तत: ।।
अर्थज्ञात्संशयच्छेत्ता तत: श्रेयान्स्वकर्मकृत् ।
मुक्तसङ्गस्ततो भूयान्दोग्धा धर्ममात्मन: ।। -श्रीमद०भा०म०पु०, स्क०-3 अ० - 29, श्लो० -28-32

उनकी अपेक्षा जो लोग अपने सम्पूर्ण कर्म, उनके फल तथा अपने शरीर को भी मुझे ही समर्पित करके भेद भाव छोड़ कर मेरी उपासना करते हैं, वे श्रेष्ठ हैं। इस प्रकार प्रभु कहते हैं कि मुझे ही चित्त और कर्म समर्पण करने वाले अकर्ता और समदर्शी पुरूष से बढ़ कर कोई अन्य प्राणी नहीं दिखाई देता है। अतः अष्टाङ्ग योग की सफलता रूपी कैवल्य की सिद्धि के लिए मनुष्य साधक को चाहिये कि वे मन कर्म वचन से यह मानकर की जीव रूप अपने अंश से साक्षात् हरि ही सबमें विराजमान है। क्योंकि जो व्यक्ति आत्मा और परमात्मा में थोड़ा सा भी {तनिक सा भी} अन्तर देखता है या करता है, उस भेद दर्शी को मैं मृत्यु रूप से महानभय उपस्थित करता हूं इसलिए मुझे सम्पूर्ण प्राणियों के भीतर जानना चाहिये और सभी कर्म निष्काम भाव से {यज्ञ, तप, होम, व्रतादि} एवं मित्रतादि व्यवहार तथा समदृष्टि से आरम्भक प्रारब्ध शेष तक जीवन को बनाये रखते हुये कैवल्य की प्राप्ति होती है। अष्टांग योग एवं भक्ति योग से {ईश्वर प्रणिधान} से जीव परमपुरूष भगवान को प्राप्त कर सकता है।

तस्मान्मय्यर्पिताशेष क्रियार्थात्मा निरन्तरः। नपश्यामि परंभूतमकर्तुःसमदर्शनात् ।।
मय्यर्पितात्मनुःपुंसोमर्पितसंन्यस्तकर्मणः।

मनसैतानि भूतानि प्रणमेद्बहुमानयन्।
ईश्वरोजीवकलया प्रविष्टो भगवानिति ।। -श्रीम० भा० म० पु० स्क०-3, अ० - 29, श्लोक० 33-34

आत्मनश्चपरस्यापि यःकरोत्यन्तरोदरम् ।तस्यभिन्नदृशोमृत्युर्विदधे भयमुल्बणम् ।।
अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम् ।अर्हयेद्दानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा
-श्रीमद भा० म० पु० स्क० तृतीय श्लो०-26-27

भक्तियोगश्चयोगश्चमयाव्यान मुदीरितः।
ययोरेकतरेणैव पुरूषः पुरूषं व्रजेत ।। - श्रीमद्भा० म० पु० स्क०-3, श्लो०-35

ईश्वर जीव एवं योग

योग का सम्बन्ध जीव से है और जीव का सम्बन्ध ईश्वर से है । अतः योग जीव एवं ईश्वर का अभिन्न सम्बन्ध रहा है । भगवान ने जीव के साथ ही साथ इसकी दुर्गति न हो योग को भी उत्पन्न किया तभी वेदों में प्रथमतः इसके विषय में विवेचना हुई है । ऐसा इसलिए होता है । जैसे समाज में मूर्त्त रूप से देखा जाता है कि किसी भी गाय या स्त्री के सन्तान होने वाली होती है, तो उससे पहले ही उसके स्तनों में दूध की उत्पत्ति हो जाती है और उसके स्तनों से तब तक दूध स्वतः बहिर्गमन नहीं होता जब तक सन्तानोत्पत्ति न हो जाये उसके स्तनों के आगे अग्र भाग में स्वतः ही परमात्मा की कृपा से किल (बन्ध) गुप्त रूप से रहते हैं । जिन्हें स्वच्छ किया जाता है, हटाया जाता है । अर्थात् पुत्र की उत्पत्ति से पूर्व मेव उसके लिए साधनों का निर्माण हो जाता है । ऐसे ही "जीव जो कि ईश्वर की परमप्रिय सन्तान है[1]" उसी के साथ ही साथ परमात्मा ने योग की भी उत्पत्ति की कि जब कभी मूढ़ वश यह दुःखी होने लगे या जन्मतः दुःख की निवृत्ति के लिए विचार करे, तो इसे किस मार्ग को अपनाना ही सर्वश्रेष्ठ रहेगा तब उन सभी श्रेष्ठ मार्गों का अन्वेषण कर सबसे प्रिय सर्वोत्तम साधन एवं जीवन्मुक्ति को देने वाला योग मार्ग का जीव में निवेश किया जिसे अपनाकर जीव मुक्त होकर त्रिलोकी में मुनि नारद जी की तरह विचरन करता है । जैसे - दूध - वत्स एवं गाय का, जैसे - माता, पुत्र एवं उसके स्तनों से निकलने वाले दूध का सम्बन्ध है । ऐसे ही ईश्वर योग एवं जीव का सम्बन्ध है ।

---

1. ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ।। -गीता - 15/7

ईश्वर

पातंजल योगदर्शन एक महान जीवनमुक्ति दायक साधनों से सम्पन्न गुरू रूपी शास्त्र तो है ही उसी के साथ ही साथ अहंकार रहित शाश्वत धर्मी ईश्वर का स्तुति परक शास्त्र भी है । इस शास्त्र में कहीं भी लेशमात्र अहंकार शेष दिखाई नहीं देता है । ऐसा इसलिए कि जब कभी मनुष्य कोई भी कार्य करता है तो उसमें अहं विमर्श आना स्वाभाविक है और यहां कहीं अहं रहता है वह सदा अधूरा रहता है जिसकी आगे पूर्ति के लिए उसके शिष्य प्रशिष्य परम्परा में बन्धकर उसी अधूरे की पूर्ति करते हैं और उसका प्रचार करते हुये अन्यों को भी अपने मार्ग की ओर आकर्षित करते हैं । उनका केवल इतना ही मात्र ध्येय होता है कि हमारे धर्म के शिष्यों में निरन्तर बुद्धि हो । जो एक बार आये वह पुनः जाना न पाये उसी में स्थित रहे ऐसे ही कुत्सित हिंसा एवं तर्क वितर्कों का सहारा लेकर वेद पुराणों से लोकोक्तियां सूक्तियां इकट्ठी कर प्रचार करते फिरते हैं । परन्तु शाश्वत धर्म ऐसा है जिससे निकल कर वापिस आना कठिन सा लगता है और यह सत्य भी है । कैसे ? वैसे ही जैसे अपने स्थान से एक बार पीछे या आगे हट जाने के बाद उसी नये तुले स्थान पर स्थित होना असम्भव सा लगता है । तभी तो भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है कि अपना धर्म निर्धन क्यों न हो और दूसरों का धर्म धनी ही क्यों न हो, अपना धर्म कभी नहीं छोड़ना चाहिये अपने निर्धन में मरना मौत को प्राप्त करना यशस्वी एवं अमर बनना है और दूसरे धर्मों को अपना कर

विगुणः स्वधर्मः श्रेष्ठ परधर्मादनुष्ठितात् ।
स्वल्प मरणं स्वधर्मे श्रेष्ठ परधर्मो भयावहः ।। – गीता

मरना मरना है और निन्दित होना है। अतः जिस गर्व के साथ हम सिर उठाकर अपने धर्म में जी सकते हैं धर्म परिवर्तन करने से उतनी ही हीनता उत्पन्न होती है।

भला अपने माता-पिता का त्याग कर किसी को अपना माता-पिता स्वीकार कर लेना अपने को गाली देना है और असम्भव है। क्या आज विज्ञान को मान्य है?। जबकि वास्तविकता का पता लगाने के लिए ही मनुष्य की विधा का परीक्षण किया जाता है उसी प्रकार धर्म और मनुष्य का भी गहरा सम्बन्ध रहा है। परन्तु जितना भी आज प्रचार प्रचार हो रहा है वह अधूरा है। जो आज लौकिक उदाहरण दिये जा रहे हैं वे सबके सब वेदों में प्रतिपादित हैं। जो सबको ज्ञान विज्ञान देता है सबका मार्ग प्रशस्त करता है जो बिना प्राणी देह के भी सबको समान चलने के मार्ग का उपदेश करता है वही परमात्मा है जिसकी मूर्त्ति को लोक में देखा तो नहीं जा सकता है, केवल वेदरूप ज्ञान रूप एवं सकल ईच्छा पूर्त्ति रूप में जो बहुधा साकार रूप में भी प्रकट हो जाता है और भक्तों (जीवों) के विश्वास को कभी समाप्त नहीं होने देता, वही ईश्वर है। वह सभी कर्मों में रहते हुये भी कर्म रहित है। कर्मों में ईश्वर रहता है, परन्तु कर्म उसमें नही रहते हैं, वैसे ही जैसे तत्वों में भगवान का अंश व्याप्त रहता है, परन्तु भगवान में तत्व नहीं रहते हैं ठीक उसी प्रकार सकल जगत् में ईश्वर विद्यमान है, परन्तु उसमें सकल जगत् निहित नहीं है अर्थात् यह जगत् उसका विकार है, मल है और जो मल होता है वह पुनः ग्रहण नहीं किया जाता, जैसे पायु एवं उपस्था से त्याग किया मल मनुष्य कभी ग्रहण नहीं करता है और मल

भी मनुष्य को आवेष्टित नहीं करता है, ठीक वैसे ही भगवान सर्वत्र निवास करते हैं, परन्तु वे सब में निवास करते हुये भी इनसे परे हैं । तभी उनको पातंजल योगदर्शन में भी उसे "क्लेश-कर्म" विपाकाशयों से अपरामृष्ट (निर्लिप्त) पुरूष विशेष (पुरूषों में विशेष) कहकर स्पष्ट किया गया है ।"[1]

क्लेश = कर्मों का फल दुःख सुख

कर्म = लौकिक कर्म

विपाक = फल

आशय: = वासनायें

अपरामृष्ट = अस्पृश (निर्लिप्त)

पुरूष विशेष = जिसके समान कोई भी जगत् में नहीं है असमान अद्वितीय

ईश्वर: = सर्वैश्वर्यो का स्वामी ईश्वर है ।

जिसके विषय में श्रुति कहती है कि जो सर्वज्ञ है सबका अन्तर्यामी है वही परब्रह्म है । जिसकी महिमा भू भुव: स्व तीनों लोकों में गायी जाती है दिव्य आकाश रूप ब्रह्मलोक में स्वरूप से सभी की आत्मा में प्रतिष्ठित परमेश्वर मन में व्याप्त होने के कारण मनोमय है हृदय कमल का आश्रय लेकर स्थित है । सबके प्राण और शरीर का नेता (यह परमात्मा) अन्नमय स्थूल शरीर में प्रतिष्ठित है ।[2]

---

1. क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट: पुरूषविशेष ईश्वर: ।।

२ - य: सर्वज्ञ: सर्वविद् यस्यैष महिमा भुवि । दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठित: । मनोमय: प्राणशरीर नेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय । तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ।। 7 ।।
न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं, नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्नि: ।
तमेव भान्तमनु भाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ।। 10 ।।
-मुण्डकोपनिषद् मु0-2, खण्ड-2, मं0- 7, 10 एवं श्वेताश्वतरोपनिषद 6/14
कठोपनिषद - 2/2/15

जो कि आनन्द स्वरूप अविनाशी परब्रह्म सर्वत्र प्रकाशित है बुद्धिमान मनुष्य विज्ञान के द्वारा उसको भलीभांति प्रत्यक्ष कर लेते हैं। आगे कहती है कि वह निर्मल अवयव रहित परब्रह्म, प्रकाशमय (हिरण्यमय) परम कोश में परम धाम में (विराजमान है), वह स्वर्ग विशुद्ध समस्त ज्योतियों की भी ज्योति है, जिसको आत्मज्ञानी जानते हैं।

इस प्रकार से शुक्ल यजुर्वेद में भी कहा गया है कि – वह यज्ञ से भी पूर्व (अर्थात्) उत्पन्न हुआ और वह इतनी दूर है, जहाँ किसी की भी गति नहीं हो सकती और समीप इतना है कि उससे अधिक निकट भी कोई अन्य नहीं है और वह ज्योतियों में भी परम स्वयं प्रकाश एक ज्योति है। अतः मन को स्थिर करके अन्तःकरण में देखना चाहिये।[1] इसी प्रकार उसका मुण्डक उपनिषद निरूपण एवं प्रकाश डालते हुये उपदिष्ट करती हुई कहती है कि वह न तो सूर्य प्रकाशित होता है। न चन्द्र एवं तारागण ही, न ये बिजलियां ही चमकती है फिर इस अग्नि के लिए तो कहना ही क्या है, उसके प्रकाश से ही सभी प्रकाशित होते हैं उसी के प्रकाश से यह सकल जगत् प्रकाशित हो रहा है। वह न तो नेत्रों से, न वाणी से और न दूसरी इन्द्रियों से ही ग्रहण करने में आता है तथा तप से अथवा कर्मों से भी ग्रहण नहीं किया जा सकता, उस अवयव रहित परमात्मा को विशुद्ध अन्तःकरण वाला (साधक) उस विशुद्ध अन्तःकरण से निरन्तर उसका ध्यान करता हुआ ज्ञान की निर्मलता से देख पाता है।[2]

---

1 – ॐ यज्ञाग्रतो दूर मुदैतिदैवं तदुसुप्तस्य तथैवैति दूरङ्गमज्ज्योतिषांज्योतिरेकं तन्मेमनः शिव संकल्पमस्तु ।। – रूद्राष्टाध्यायी – शुक्ल यजुर्वेद

2 – न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा, नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा ।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्वस्ततस्तु यं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ।।
–मुण्डकोपनिषद् मु0 –3, खं01, मं0 – 8

उस परमात्मा में सर्वजगत् की रचना करने की क्रिया शक्ति है और सभी प्रकार के ज्ञान के बीज भी उसी में निहित है ऐसा जानना चाहिये । उसको किसी के आश्रय की आवश्यकता नहीं है और न ही किसी गुरू ज्ञान की ही कल्पना की जा सकती है जिसके कारण वह परब्रह्म परमात्मा गुरूओं का भी आदि अर्थात् अनादि गुरू हैं और उसके नाम की संज्ञा सभी शास्त्रों वेदों के अनुसार ऊंकार है अर्थात् उसका वाचक प्रणव है "ओइमकार " है ऐसा जानना चाहिये उसका अर्थ रूप रंग आकार सभी प्रकार से ऊंकार ही है जो श्रद्धा एवं विश्वास की कसौटी पर खरे उतरते हैं एवं विजितेन्द्रिय है वही ईश्वर को देख सकते हैं अतः "श्रद्धा एवं विश्वास से परिपूर्ण तीनों वेदों के सारभूत ऊंकार का ही ईश्वर माना गया है । यही योगेश्वर है । अतः योग सेश्वर है । ब्रह्म ज्ञान परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है[1]।

ऊंकार स्वरूप परब्रह्म के विषय में प्रश्नोपनिषद श्रुति का कहना है कि है सत्यकाम, । निश्चय ही यह जो ओइमकार है वही परब्रह्म एवं अपरब्रह्म भी है और तीनों वेदों का सार है[2] जैसे "एक मात्रा की उपासना के उपासक ऋग्वेद की ऋचाओं द्वारा मनुष्य लोक में पहुंचाया जाता है, दूसरा दो मात्राओं की

1- तत्रनिरतिशयंसर्वज्ञ बीजम् ।। पूर्वेषामपि गुरू कालेनानवच्छेदात् ।।
- तस्य वाचकः प्रणवः ।। तज्जपस्तदर्थभावनम् ।।-पा०यो०द०पा०-1, सू०-25-28
श्रद्धावाल्लभते ज्ञानं तत्परःसंयतेन्द्रियः ।। - श्रीमद्गीतायाम् 4/39
2- [illegible]
[illegible] ।। प्र०उ०प्र०5 श्लो०2

"उपासना करने वाला अर्थात् यजुर्वेद के मन्त्र की विधि से जपने वाला अन्तरिक्ष एवं तीन मात्रा सामवेद की सामगीति की विधि अनुसार पूर्ण रूप से ओइ.कार की उपसान करने वाला उस ब्रह्मलोक में पहुंच जाता है। जिसको ज्ञानी जन जानते हैं, विवेकशील साधक केवल ओइ.कार रूप अवलम्बन के द्वारा ही उस परब्रह्म पुरूषोत्तम को पा लेता है, जो वह परम शान्त, जरा रहित, मृत्युरहित, भय रहित और सर्वश्रेष्ठ है। सम्यक् पूर्णतया इस ॐकार की तीनों मात्राओं (अ - उ - म्) जो जाप करते हैं वे कभी विचलित नहीं होते परमपद को प्राप्त कर ही लेते हैं अतः ॐकार ही भगवान का स्वरूप एवं संज्ञा नामक जाप है ऐसी भावना से ओत प्रोत होकर ब्रह्म ज्ञानी को नित्य निरन्तर जाप करने को पातंज्जल योग का भी अभिप्राय रहा है। यही ईश्वर है और सभी के सान्निहित है।"[1]

1- ब्रह्मविदाप्नोति परम्। तदेषाभ्युक्ता ।। - तै0उ0व0-2, अनु0 - 1

भयादस्याग्निस्तपति भयात् तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ।। -क0उ0अ0-2, व0-3, मं0-3
एवं तै0उ0 (2/8)

तस्मै होवाच एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्मयदोइ.कारः ।।
प्रश्नोपनिषद प्र0 -5 उत्तर -2

ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं, सामभिर्यत् तत्कवयो वेदयन्ते।
तमोइ.कारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान्, यत्त च्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति ।।
-प्र0उ0प्र0-5, मं0 - 7

सर्ववेदा यत्त पदमामनन्ति, तपाँसि सर्वाणि यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ।। -
-क0उ0 अ0-1, व0 -2 मं0 - 15

कै०उ० नचिकेता भी ओइम को भगवान का एक अक्षर मंत्र एवं स्वरूप मानते हुये लिखते हैं कि - सभी वेद जिस परम पद का बारम्बार प्रतिपादन करते हैं और सम्पूर्ण तप जिस पद का लक्ष्य कराते हैं, जिसको चाहने वाले ब्रह्मचर्य का पलन करते हैं वह पद ओइम है ऐसा जानना चाहिये।[1]

माण्डूक्य उपनिषद् कहती है कि ओम् ऐसा यह अक्षर (अविनाशी परमात्मा) है यह सम्पूर्ण जगत् उसका ही स्वरूप एवं उसी की निकटतम महिमा का लक्ष्य कराने बपला है। भूत, वर्तमान भविष्यत एवं ओम् ही तो है[2]।

अष्टाङ्गयोग का संक्षिप्त वर्णन

अहिंसा के लाभ एवं हानियां

अहिंसा तीन प्रकार की है - आर्थिक, शारीरिक एवं सामाजिक।

1. अहिंसा से कभी हानि नहीं हो सकती।
2. जगत् में प्रेम भाव की स्थिति पैदा होती है।
3. वैरता (शत्रुताई) समाप्त होती है।

---

1 - ओमिति ब्रह्म - तैत्तिरीयोपनिषद्, अष्टम अनुवाक, वल्ली -।
- ओमित्येतत् ॥ क०उ० 1/2/15
- सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति -

2 - ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव ॥
यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदपि ओङ्कार एव ॥ -माण्डूक्य मं० -।

4. शारीरिक विकास ।

5. समाज के विकास की गति में तीव्रता से वृद्धि होती है ।

6. आर्थिक हिंसा ﴾उत्पीड़न﴿

7. हड़तालें कभी नहीं हो सकती ।

8. पर्यावरण का समुचित विकास ।

9. जंगली हिंस्र सिंहादि पशु गांव एवं शहरों में आकर कभी भी मानव की हत्या नहीं कर सकते हैं ।

10. प्रायश्चितों से बचे रहना एवं पाप से मुक्ति पुण्य की निरन्तर वृद्धि होती है ।

11. वनों के कटान पर अंकुश लगेगा ।

12. प्राय लुप्त जड़ी बूटियों की वृद्धि होगी ।

13. वातावरण वातानुकूलित होगा ।

14. भूक्षरण रूकेगा ।

15. ऋतुयें अनुकूल रहेंगी

16. हवा पर्याप्त मात्रा में बहेगी ।

17. वनों के संरक्षण से दुग्ध का उत्पादन बढ़ेगा ।﴾फरडर वृक्षों के संरक्षण से﴿

18. धन की आ रही कमी से देश को कठिनाईयों का सामना भी नहीं करना पड़ेगा ।

19. प्राकृतिक सम्पदाओं का लाभ ।

अतः महर्षि पतञ्जली अनुसार अहिंसा का व्रत निष्कपटतापूर्ण है ।जिसमें जाति, देश, काल धर्म सबसे ऊपर उठकर अहिंसामय होना कहा गया है । इसका लाभ यागी एवं समाज दोनों को समान है ।

सत्य परायणता के लाभ

सत्य - निष्कपट होना चाहिये । त्रिकाल में एक सम बोला जाने वाला सत्य ही यथार्थ सत्य कहलाता है अर्थात मन, वाणी, कर्म में एक सम जो बना रहे वही सत्य कहलाता है । दोषी को बचाने में लाया जाने वाला असत्य कभी सत्य नहीं होता है । सांप कभी विष का त्याग नहीं करता, ऐसे ही दोषी किसी भी प्रकार से बचाने योग्य नहीं होता है । अतः सत्य पूर्ण काम यथेष्ठ सत्य होना चाहिये ।

-सत्य के अन्य लाभ ही लाभ हैं ।

1. वाणी से यथार्थता प्रकटित होती है ।
2. वाणी अमोघ होती है ।
3. सामाजिक विकास होता है ।
4. बौद्धिक विकास ।
5. हार्दिक विकास होता है ।
6. हृदय गति से होने वाले रोगों से छुटकारा दिलाने में सत्य सहायक होता है ।
7. बौद्धिक घात (दिमागी सम्बन्धी) बिमारियों से छुटकारा दिलाता है ।
8. समाजिक उन्नति में अत्यधिक सहायता देता है ।
9. समाज में प्रतिष्ठालाभ होता है ।
10. बुराईयों की समाप्ति होती है ।
11. मानसिक तनाव से बचाव होता है ।
12. मान सम्मान से गर्व से सिर उठाकर जीने में आनन्द का प्रदाता है ।
13. एवं प्रभु की प्राप्ति निश्चित होती है ।

अस्तेय

नोट - स्तेय =चोरी करने वाला समाज कभी भी उन्नति प्राप्त नहीं कर सकता। वे कभी विकसित नहीं हो सकता । चोरी अनेक प्रकार की है - शास्त्र चोरी, हस्ताक्षर चोरी, धन चोरी, मानवीय चोरी, विधि चोरी एवं वैज्ञानिकता की चोरी ।

अस्तेय के लाभ -

1. समाज में विश्वास की वृद्धि ।
2. परिश्रम करने के लिए हर सम्भव प्रयत्न करते हुये विकास करने की आदत ।
3. जेल यात्राओं से सदा निवृत्ति ।
4. सामाजिक विकास में समानान्तर वृद्धि ।
5. स्वस्थ नींद
6. स्वास्थ्य लाभ
7. असत्यता से अवकाश - छुट्टी
8. देश विदेश में प्रतिष्ठा
9. देश का लाभ
10. बौद्धिक पक्षाघात से सदा निवृत्ति ।
11. समाज से उद्विग्नता का नाश ।
12. चिन्तन शक्ति में वृद्धि ।
13. पाप के दोषों से बचाने में परम सहायक होता है ।
14. पुण्य की वृद्धि होती है ।

15. सर्वसुख प्राप्त होते हैं ।

16. सभी प्रकार के बहुमूल्य उपहारों की प्राप्ति एवं

17. प्रभु की प्राप्ति निश्चित होती है । अर्थात् अध्यात्म प्रसाद को जनता प्राप्त करती है ।

ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य अनेक प्रकार का होता है । ब्रह्म, वीर्य, शक्ति, तेज ,बल को कहते हैं ।

ब्रह्मचर्य से अनेक लाभ हैं -

1. मनुष्यों का शारीरिक विकास ।
2. सुन्दरता
3. निरोग्यता (आरोग्यता) रोग नाश
4. दिमागीय विकास ।
5. शक्ति वर्द्धन ।
6. भोजन पर नियन्त्रण ।
7. वायु विकार से विमुक्ति (गैस रोग समाप्त)
8. शक्तिशाली सन्तानों उत्पत्ति के लाभ
9. शक्तिशाली सन्तानों से शक्तिशाली देश का निर्माण
10. वीर्यशाली सेनाओं द्वारा देश की रक्षा का लाभ
11. अन्याय का नाश ।

12. यक्ष्मा (टी०बी०), राजयक्ष्मा , काली खांसी, शुष्क खांसी , थूकने के संग रूधिर निकलना , वक्षःस्थलीय रोग, अनीर्णता, तिर्कमरता, का नाश ।
13. चक्षु , आंख, नाक, कान, मुंह, वाणी, रूप, रंग सौन्दर्य मधुमेह, प्रमेह से बचाव एवं शारीरिक क्षेत्र में जीवन पर्यन्त शक्ति का बने रहने ।
14. मंहगे उपचारों से छुटकारा ।
15. उन्माद रोग से छुटकारा एवं
16. प्रभु प्रसाद की प्राप्ति होती है ।

अपरिग्रह

अपरिग्रह का अर्थ किसी भी प्रकार की इच्छा व्यक्त न करना एवं न ही कुमार्ग गामी इच्छाओं की आपूर्ति के लिए प्रयास करना है । इसके अतिरिक्त अभिमुक बनना है । अपने निकटस्था सम्पत्ति देश को समर्पण करना है । कभी भी भौतिक सम्पदाओं को इकट्ठा न करना ही अपरिग्रह है ।

लाभ

परिग्रह का अर्थ धन जोड़ना है और अपरिग्रह का अर्थ धन को देश एवं देश की जनता के बीच बांटना है ताकि निर्धनता मिट सके । ज्ञानार्जित परिग्रह रूपी धन से देश को ज्ञान सम्पन्न बनाना शिक्षित बनाना है ।

अन्य लाभ

1. करों से छुटकारा ।
2. चोरी से बेचैनी ।
3. चिन्ता से विमुक्ति ।
4. परिश्रम करते हुये जीवन यापन करना ।
5. निष्काम कर्म योगी बनना ।
6. कर्म को ही ईश्वर एवं गुरू मानना ।
7. कर्म में प्रभु का रूप देखना ।
8. देश के विकास में भागीदार बनना ।
9. समानता का सन्देश पहुंचाना ।
10. गरीबी मिटाना ।
11. सब पर दया करना ।
12. अपने पराये - सबको समान समझना ।
13. ईश्वर एवं कर्म से अतिरिक्त किसी से अधिक स्नेह नहीं रखना ।

नित्यप्रति भक्ति भाव से सबमें अपने को अपने में सबको देखते हुये प्रभु की भक्ति अर्थात् सेवा करना ही अपरिग्रह है एवं इसके अतिरिक्त भी अनेक लाभ हैं ।

शौच

शौच का अर्थ - स्वच्छता , स्वास्थ्यता , निर्मलता , अमिलनता है । ये शारीरिक परिधान - पर्यावरणीय , वैचारिक एवं सामाजिक रूप से अनेक प्रकार से सम्बन्धित है ।

1. शारीरिक शौच से लाभ ।
2. आलस्य की निवृत्ति ।
3. स्वेदजों की अनुत्पत्ति ।
4. शारीरिक निर्मलता ।
5. आरोग्यता के लाभ ।
6. मलिनता की निवृत्ति ।
7. सौन्दर्य ।
8. मन में कुसुमता एवं प्रसन्नता का बने रहना ।
9. शरीर की स्वच्छता से मन की भी शनैः - शनैः स्वच्छता ।
10. परिधानों की स्वच्छता ।
11. विचारों की स्वच्छता से सामाजिक एवं अलौकिक विकास ।
12. समाज को सन्मार्ग का सन्देश ।
13. आवासीय नगरों की स्वच्छता से पर्यावरण की स्वच्छता ।
14. पर्यावरण की स्वच्छता से आरोग्यता ।
15. खान पान का वस्तुओं में स्वच्छता ।
16. महामारियों के उत्पन्न की असम्भावना एवं
17. विश्व का विकास निश्चित है ।

सन्तोष

सन्तोष सबसे बड़ी निधि है धन है = खजाना {कोष} है ।

सम्यक् स्तुष्टि = संतोष

सन्तोष से लूट पाट जैसे तत्वों का नाश ।

बलात्कार की घटनाओं की निवृत्ति ।

कालाबाजारी से विमुक्ति ।

धोखाधड़ी रूपी कलंक का सर्वनाश ।

सहनशीलता में वृद्धि {धैर्य}

जरूरतों में कमी ।

संसाधनों का अनुपभोग ।

विदेशी मुद्रा का लाभ

सौन्दर्य प्रसाधनों पर होने वाले अपव्यय से छुटकारा ।

शारीरिक - मानसिक एवं बौद्धिक रोगों से स्वतः निवृत्ति एवं

सामाजिक दृष्टि से अतुलनीय विकास में वृद्धि प्राप्त होती है ।

जबकि प्रभु की प्राप्ति का द्वार भी खुलता है ।

तप:

तप: का अर्थ है - शरीर की साधना, विचारों की साधना,

शरीर की साधना।

शारीरिक साधना पूजा, पाठ, जप, व्रत, हवन से की जा सकती है। एवं विचारों की साधना प्रकृति का अध्ययन करने से प्राप्त की जा सकती है।

तप शारीरिक साधना का भी आयुर्वेदीय विधान।

व्रत से रोगों का नाश।

उन्माद के नाश के लिए भगवान की पूजा साधुओं की सेवा, व्रतों को ग्रहण कर एवं हवन शारीरिक बल को थोड़ा कम करना ﴾जैसे आज विद्युत यन्त्र के झटके से किया जाता है﴿

हवन से शरीर की बाह्याभ्यन्तर तुष्टि के लाभ - चर्म विकास से निवृत्ति आभ्यन्तर कोशिकाओं को सुगन्धित हवन से सुगन्धित एवं भावित करना। बाह्य अग्नि से टकराते हुये आभ्यन्तर अग्नि को बलशाली बनना। तथा हवन से सुस्निग्ध वर्ण के लिए भी हवन एक विशेष साधन है।

धैर्य की सम्प्राप्ति।

भूख ﴾क्षुधा﴿ पिपास से निवृत्ति पाना।

शरीर को सुन्दर बनाना।

प्रमाद-आलस्य आदि विघ्नों का सर्वनाश तपस्या के साधनों से किया जा सकता है।

प्रकृति के अध्ययन से शिक्षा ग्रहण करनी ।

धैर्य की शिक्षा में पृथिवी को देखकर ग्रहण करना ।

वृक्षों की तरह सबको समान छाया सुख देना ।

फलदार वृक्षों की तरह सबको आते जाते पन्थियों को फलों से तृप्त करना ।

चौराहे पर खड़े प्रहरी की तरह सबको समान देखना ।

समुद्र, दरिया, नदियां, नालों, कुयें, बावलियां तालाबों की तरह

सबको समान भाव से जल वितरण करना ।

पक्षियों की तरह कभी घर को स्थायी न समझना ।

पत्तों की तरह एक दिन प्रकृति से बिछुड़ने की शिक्षा ग्रहण कर मनोबल

ऊंचा रखते हुये निष्काम सेवा करना अर्थात् कैवल्य प्राप्ति के लिए योग

बल प्राप्त करना, और मृत्यु से कभी नहीं डरना क्योंकि यही मृत्यु

सच्च है ।

मृत्यु को प्रतिक्षण सर्वाधिक निकट समझकर निरंतर सन्मार्ग का अवलम्बन

लेकर (आश्रय लेकर) सन्मार्ग गामी होना । सब पर दया करना ।

करूणा, मैत्री भावों का सदा प्राप्त करना ।

अच्छे बुरे का विचार किये बिना सदा सूर्य के समान सबको प्रकाश देना

ज्ञान देना ।

चन्द्रमा की तरह सदा हंसते रहना ।

बादलों की तरह बरसना ।

समय - समय पर जब कभी समाज को अपनी जरूरत हो तो अवश्य

निष्काम भाव से सहयोग देना ।

प्रशंसा से सदा बचना {कानों को बहरा समझ कर उठकर चले जाना} ।

आलोचनाओं को मित्र समझना एवं उन्हें सहर्ष स्वीकार कर अपने को

सुधारने का प्रयास करना । निराश्रयों को आश्रय प्रदान करना ही

तप है ।

परमात्म ज्ञान के साथ - साथ निष्काम कर्म भी करना ही तप है ।

स्वाध्याय

स्वाध्याय =अलौकिक, लौकिक तथा स्वात्ययपर्यिद्धांणिक ।

अलौकिक अपने धर्म ग्रन्थों एवं वेदों का अवश्य पाठ करना एवं सीखना चाहिये । इनमें वे सब छुपा है जो समाज में प्रचलित है । ज्ञान, विज्ञान, रसायन सर्व विद्य ज्ञान है एवं सबसे उत्तम मोक्ष भी इन्हीं से प्राप्त होता है । स्वाध्याय का अर्थ निरन्तर वेदादि अध्ययन करना ही है । जबकि सामाजिक स्वाध्याय में समाज को उन्नतशील बनाने वाले शास्त्रों का अध्ययन कर समाज की उन्नति में हाथ बटाना ।

कभी नौकरी - चाकरी का लक्ष्य रखी हुये न पढ़ना ही विशेष स्वाध्याय है । स्वाध्याय का अर्थ ज्ञान प्राप्ति के लिए अध्ययन करना एवं पौनः पुन्येन {बार-बार} अध्ययन करते हुये पुस्तक की समीक्षा करते हुये उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषय तक पहुंचना जिस बिन्दु को लेकर पुस्तक की रचना की गई है अर्थात् स्वाध्याय का अर्थ हुआ पारंगतता {कुशलता} प्राप्त करना {शारीरिक

(स्वात्म पर्यवेक्षण (=अपने अतःकरण को देखना कहा से आया, किस लिए आया, कहां जाना है। कहां मैने गल्ती की है, क्या मैं समाज के अनुरूप चल रहा हूं कि नहीं। परम पुरूषार्थ (परमात्मा की भक्ति के साथ-साथ सामाजिक पुरूषार्थ भी करना जैसे कि ईशावास्योपनिषद ने कहा है वे अकार नरक में जाते हैं जो केवल ज्ञान में लगे हैं और वे भी जो केवल सामाजिक कर्मों में फसे हुये हैं अतः अन्धंतमः प्रविशन्ति ये विद्यामुपास्ते ते5पि ये5विद्या-रताः। अतः निष्काम कर्म करना ही स्वाध्यायरूपी तप है।

ईश्वर प्राणधान

हमेशा नम्रता को प्राप्त होना

झुककर चलना

कभी अहंकार न करना

जो भी करें, निष्काम भाव से करना।

सभी कार्यों में ईश्वर की अनुभूति करना।

सभी कार्यों में ईश्वरानुभूति करते हुये कभी फल की इच्छा न रखना।

सभी कर्मों को ईश्वर के अर्पण करना ही ईश्वर प्रणिधान है।

अपने को छोटे बड़ों सभी से भी छोटा समझना ही ईश्वर प्रणिधान है। ऐसी सफलता तभी प्राप्त हो सकती है, यदि मै भाव अर्थात् अहं का नाश हो, अन्यथा अहं के लेश मात्र भी चित्त में विराजमान रहने से कार्य में योग्यता प्राप्त करना असम्भव हो जाता है अतः अहं को मारना ही और झुककर चलना ईश्वर प्रणिधान कहलाता है।

हाथों से प्रभु की पूजा के साथ लोक सेवा तथा दान से पांव से लोक

सहायता एवं तीर्थ यात्रा सफलता , वाणी से अच्छी- अच्छी मधुर

वाणी का प्रयोग लोक कल्याणकारी वचनों को बोलना लोगों के

दुःखों को कानों से सुनना मन से मनन करना एवं मुख से अच्छे मार्ग

चलने के लिए उपदिष्ट करना चाहिये । इन कर्मेन्द्रिय एवं ज्ञानेन्द्रियों

को भगवान की दी हुई नियामत (प्रसाद) समझना चाहिए ।

जो लोग आंख कान, हाथ, पांव से रहित हैं उनसे शिक्षा ग्रहण कर

कभी भी किसी को भी दुःख नहीं देना चाहिये । सभी को प्रभु ने जीवन

देकर जीने का समान अधिकार दिया है अतः किसी को दुःख नहीं

देना ही ईश्वर प्रणिधान है ।

आसन

आसन = आ समन्तात् सन् स्थिति : इति आसन्

आसन का साधारण अर्थ बैठी आदि या कम्बल मृगचर्म आदि को बैठने

के लिए स्थापित करना है । परन्तु इसे आसन् नहीं कहते हैं । आसन् का अर्थ

प्रभु के समीप बैठना होता है । जबकि शारीरिक स्थिरता एवं प्राणायाम की

सफलता के लिए आसनों की जरूरत रहती है । जिनमें सर्वाधिक प्राणायाम की

सफलता में सहायक पद्मासन है द्वितीय स्थानगत अर्द्धपद्मासन है एवं साधारण

स्वस्तिक आसन माना जाना चाहिये इनसे अतिरिक्त हस्ति उष्ट्र भुजंगादि

सभी वपुःस्थैर्य की सिद्धि के लिए है अतः योगागी आसनों में पद्मासन सिद्धासन

एवं स्वस्तिक आसन ही उत्तरोत्तर श्रेष्ठ माने गये हैं ।

प्राणायाम

विधिपूर्वक प्राणायाम पूरक - कुम्भक एवं रेचक विधि से करने के अनेक लाभ हैं । शनैः शनैः प्राणायाम में सफलता प्राप्त करनी चाहिये सहसा कदापि नहीं ।

1. पौरुष ग्रन्थि पर नियन्त्रण
2. हृदय ग्रन्थि का वेधन कर ब्रह्मरन्ध्र तक पहुंचने में सरलता
3. सुषुम्ना का विकास
4. राग अनुराग से विरक्ति
5. बोधात्मकता का भाव
6. मुख (वदन) पर प्रसन्नता का अतिरेक उद्रेक
7. स्फुरणता
8. वक्षःस्थलस्थ मलत्रय का नाश (वात पित्त कफ का नाश)
9. स्वप्न दोषों जैसे दोषों से निवृत्ति
10. अचानक कामुक होने प्रवृत्ति पर नियन्त्रण
11. वीर्य पतन को रोकने में सफलता ।
12. धमनियों में हवा के दबाव को यथोचित बनाये रखना
13. हृदयघात सम्बन्धी रोगों से निवृत्ति
14. मन पर नियन्त्रण स्थापित करना
15. मनोयोग की सिद्धि
16. योग लाभ में सफलता में क्रमशः लाभ

17. आँख, नाक, कान एवं गले से सम्बन्धित रोगों से निवृत्ति

18. वाणी का सही उच्चारण

19. प्राणायाम द्वारा मनोयोग के माध्यम से किसी के मन की बात का पता लगाना

20. दुःख एवं सुख का अनुमान लगाने में सरलता

21. प्राणायाम बिना लौकिक यन्त्र के परोक्ष सूचना को ग्रहण करने एवं सूचना प्रेषणात्मक सफल प्रक्रिया है। जो अनुभवजन्य है। लेकिन विधिपूर्वक करना चाहिये।

22. प्राणायाम मन चित्त से करना चाहिये एवं अनोपान सहित जैसे प्राणायाम से पूर्व एवं पश्चात् तुरन्त अल्पमात्रा पूर्वक जलपान करना चाहिये या दुग्धमिश्रित जल पीना चाहिए जैसे महाभारत में कहा गया है "अपः मिश्र पयो पिबेत्" ।। - यही इसकी विधि है।

प्रत्याहार

प्रत्याहार की सफलता में मुख्य भूमिका निभाने वाला प्राणायाम साधन है और साध्य प्रत्याहार। प्राणायाम से पौरूष ग्रन्थि आदि पर नियन्त्रण करने में महत्वपूर्ण सफलता मिलती है जो कि लौकिक आनन्द का परम हलादकारी है जिसे भागवत में आनन्द कहा है और इसके देवता प्रजापति कहे गये हैं। अत: जिसने इस पर नियन्त्रण पा लिया उसने मन जगत् पर विजय प्राप्त कर ली। अत: प्रत्याहार इन्द्रियों को लौकिक एवं कुत्सित इरादों (भावों) से हटाना एवं पारमार्थिक भावों में लगाना ही प्रत्याहार है। प्रत्याहार लक्ष्य

है और प्राणायाम मार्ग है । प्राणायाम पर चलकर ही प्रत्याहार रूपी मंज्जिल (लक्ष्य) को वेधन छेधन किया जा सकता है और इसके लिए योगाभ्यास निरन्तर अपेक्षा है । प्रत्याहार का लाभ लौकि एवं अलौकिक दोनों ही तरह से सफलतादायक हैं । लोक में मान सम्मान देने वाला एवं योगी को पुण्य लोकों की प्राप्ति कराने वाला है ।

धारणा

धारणा से मनोबल सशक्त होता है मन स्थिर होता है और मन की स्थिरता ही योग की सफलता में मुख्य भूमिका है । मन की स्थिरता को प्राप्त करना केवल याग पक्ष में ही लाभ नहीं है अपितु सर्वत्र सामाजिक पक्ष में एवं स्वाध्याय के लिए भी अत्यावश्यक है अर्थात् मानसिक पटल पर परब्रह्म लक्ष्य को धारण करने को धारणा कहते हैं । लोक में किसी लक्ष्य विशेष को धारण को धारणा कहते हैं ।

1. धारणा प्रबल (मन स्थिर) न होने से कभी मंज्जिल प्राप्त नहीं की जा सकती ।
2. मन की अस्थिरता अविश्वसनीयता (अदृढ़ता) के कारण ही परीक्षा में असफलता हाथ लगती है ।
3. मन की अस्थिरता अर्थात् धारणा प्रबल न होने के के कारण कार्य व्यापार असफल हो जाते हैं ।
4. मन की चञ्चलता मनुष्य में भ्रान्तियां पैदा करती हैं ।
5. भ्रान्तियां मनुष्य की कमजोरियां मानी गयी हैं ।

6. मन की स्थिरता के बिना कोई भी किसी भी क्षेत्र में सफलता प्राप्त नहीं कर सकता जैसे डॉक्टर, अभियन्ता, उद्यमी, शिक्षक, विद्यार्थी एवं कलाकार इत्यादि ।

अत: मनुष्य की सफलता का रहस्य मन की स्थिरता में छुपा हुआ है और मन को स्थिर करने के लिए धारणा एवं प्राणायाम दोनों ही अत्यावश्यक है ।

ध्यान

ध्यान केन्द्रित करने पर लक्ष्य आसान बन जाती है । कठिन लगने वाला लक्ष्य भी साधारण बन कर उपस्थित हो जाता है । अत: ध्यान ही सफलता है और धारणा सफलता का मार्ग है । अर्थात् ध्यान मन्जिल है धारणा मार्ग ।

समाधि

समाधि परमानन्द है ध्यान रूपी मन्जिल पर चढ़कर बिना विमान के ऊर्ध्व गमन अर्थात् आकाश में स्वच्छन्द विचरण कराने वाली सिद्धि है । जब जहाँ कहीं योगी जाना चाहे इसी पर चढ़कर पहुंच सकता है अर्थात् योग का परम लक्ष्य वेधिका यदि कोई है तो समाधि ही है । जिसका फल कैवल्य है ।

xxxxxx

xxxx

xxx

चतुर्थ अध्याय

विज्ञान भैरव

विज्ञान भैरव

भरणाद् रवणात् वमनादिति भैरवः यः ऐषां अशेष विशेष वैज्ञानिक विधिना भरति रवयति वमति इति सहे विज्ञान भैरवः अर्थात् पालन निमीलन तथा सृजना कर्ता को भैरव करते हैं तथा जो इन तीनों को सम्पूर्णतया विशेष वैज्ञानिक विधा प्रदान करता है उसे विज्ञान भैरव अर्थात् परम शिव कहते हैं। इस भैरव शब्द की व्याख्या को इसी विज्ञान भैरव के 127वें श्लोक स्थान प्राप्त है जिसके लिए अलग से अन्वेषण की आवश्यकता नहीं पड़ती है। जैसे कि लिखा गया है कि - जो भय से सभी को अपनी या अर्थात् अपनी ज्ञानात्मिका शक्ति से ऐकार अर्थात् माहेश्वर्य की अभिव्यञ्जिका क्रिया शक्ति से अखिल विश्व का विमर्श करता है। उसे भैरव कहते हैं। विशेष ज्ञान से जो युक्त है जिसके समान कोई दूसरा ज्ञानी नहीं है वही विज्ञान भैरव है।"[1]

परन्तु जो इस श्लोक का वास्तविक अर्थ है वह इस प्रकार से है जिसके "भय से सभी उसमें विलीन हो जाते हैं अर्थात् बाह्य भौतिकता से आक्रान्त कर जो अपने विषय में लगाता है कैसे भय से और जिसके प्रकाश से अखिल जगत् प्रकाशित हो रहा है अर्थात् जो सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त होने से व्यापक है।[2]

---

1. भया सर्व रवयति सर्वदा व्यापकोऽखिले।
इति भैरवशब्दस्य सन्ततोच्चारणा च्छिवः॥ -वि०भै०, श्लोक - 127

2. सर्वज्ञः सर्वकर्त्ता च व्यापकः परमेश्वरः। -वही - 107

जो इसी प्रकार के अर्थों वाला है वही भैरव है । यह भैरव शब्द जिसके नित्य संकल्प से साधक भी शिव हो जाता है । तभी तो श्रुति भी कहती है कि जिसके भय से सूर्य प्रकाशित होता है अर्थात् उसके प्रकाशित होने पर ही सब सूर्य चन्द्र तारागण इत्यादि उसके पीछे उसी के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं उसी के प्रकाश से यह सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित होता है ।"[1]

रूद्रयामलसार

प्रस्तुत आगम शास्त्र के प्रथम श्लोक एवं 160 श्लोक इन दो श्लोक में रूद्रयामल नाम आया है प्रथम श्लोक में कहा गया है कि यह त्रिक दर्शन का एक सम्पूर्णाम सार रूप शास्त्र है । इसी ग्रन्थ के आरम्भ में ही श्रीभैरवि के मन में भगवान परमशिव के रूद्रयामल भाव को सुनने की इच्छा होती है ।[2] जिसमें कहा गया है कि हे परमेश्वर मुझे सम्पूर्णतया त्रिक दर्शनानुसार सार का सार भूत अर्थात् सूक्ष्मतर रूप से रूद्रयामल की कथा सुनाईये जिसे भगवान भैरव सुनाते हैं कहते हैं कि सभी विकल्पों से जब अन्तःकरण मुक्त हो जाये और साधनापरक ध्यान में बैठे साधक का चित्त परमानन्द से स्व अनुभव के आनन्द से भर जाये वही भैरवि भैरवावस्था है ।"[3]

1. तमेव भान्तमनुभाति सर्व, तस्यभासा सर्वमिदं विभाति ।। कठो०उ० 2/2/15, श्वेताश्वतोप -6/14 -मु०उप०मु०-2, खण्ड-2, मं०-10,
2. श्रुतं देव मया सर्व रूद्रयामल सम्भवम् । त्रिकभेदमशेषेण सारात्सार विभागशः ।। -वि०भै० श्लो० - 1
3. अन्तः स्वानुभवानन्दा विकल्पोन्मुक्तगोचरा । यावस्था भरिताकारा भैरवि भैरवात्मनः ।। - वही - श्लो० - 15

मैने जिसे रूद्रयामल तन्त्र के सार को सुनकर देवी भैरवि प्रसन्न हुई और भगवान के गले मिल गई । अर्थात् उन्हीं में समाहित सी हो गई ।[1] इस प्रकार से विश्लेषण करने पर पता चलता है कि इसका प्रादुर्भाव रूद्रयामल भाव से एवं रूद्रयामल नामकतन्त्रस्य से हुआ है । जिसका लोप हो चुका है यह मात्र उसका सार भूत स्वरूप है जिसे विज्ञान भैरव नाम दिया गया है ।

विज्ञान भैरव का परिचय

भरणाद् रवणात् (रमणात्) वमनादिति भैरव: ।।

विज्ञान भैरव का परिचय यद्यपि आज के भाष्यकारों के अनुसार जानना कठिन नहीं है । परन्तु इसका वास्तविक परिचय कराने वाले साक्षात् विद्या शरीरी वेद है यहां इनकी स्तुतिगान हुआ है और इनकी संख्या भी गिनाई गयी है ।

प्रभु प्रतिष्ठार्णव एवं सर्वदेव प्रतिष्ठा पद्धति के अन्तर्गत भैरव संख्या में आठ गिनाये गये हैं - जैसे - 1. असितांग भैरव , 2. रूरूभैरव , 3. चण्ड भैरव 4. क्रोध भैरव , 5. उन्मत्तभैरव , 6. काल भैरव , 7. भीषण भैरव एवं अष्टम् संहार भैरव ।

इन्हीं भैरवों के स्वामी हरिहर महादेव परमशिव ही हैं, जिन्हें विज्ञान भैरव कहना युक्ति युक्त प्रतीत होता है। जबकि योगिनी हृदय में भी नव भैरव हैं, क्योंकि किसी विषय या जाति समुदाय या देश के नेता को उस-उस जाति

---

1. देवदेव महादेव परितृप्तास्मि शंकर ।।
रूद्रयामल तन्त्रस्य सारमद्यावधारितम् ।
सर्वशक्तिप्रभेदानां हृदयं ज्ञातमद्य ।।
इत्युक्त्वाऽऽनन्दिता देवी कण्ठेलग्नाशिवस्यतु ।। -वि0भै0 - 159-161

2. प्रभु प्रतिष्ठार्णव , पृ0 - 251

समुदाय एवं देश के नाम से विशिष्ट स्थानोंपलब्धि प्राप्त होती है जो कि तत्तत् में निहित होती है । अतः आठों भैरवों के अधिपति विज्ञान भैरव है ।

वेदों के पश्चात् उपनिषदों में भी परमशिव परमेश्वर महादेव का स्तुति गान हो चुका है, जैसे श्वेताश्वतोपनिषद में वर्णन मिलता है। जिसमें महेश्वर की स्तुति करते हुये कहा गया है कि उस ईश्वरों के भी ईश्वर महेश्वर सम्पूर्ण देवताओं के भी परम देवता पतियों के परम पति समस्त ब्रह्माण्ड के स्वामी उस समान ब्रह्माण्ड के स्वामी स्तुति करने योग्य उस परमात्मा महेश्वर को सबसे परे जानते हैं । पुराणों में सर्वप्रथम शिवपुराण की छठी कैलास संहिता में जिसके सम्पूर्ण अध्यायों में विज्ञान भैरव का परिचय मिलता है, यहाँ इसको उद्धृत किया गया है । जो कि वास्तव में देवी देव सम्वादात्मक है; केवल वर्णावलि में अन्तर दिखाई देता है । जबकि विष्णु पुराण में भी भैरव का विज्ञान भैरवानुसार रूप रंग वर्ण का उल्लेख हुआ है ।

जैसा कि सर्वविदित है कि बहुत समय तक भारतवर्ष एवं सनातन संस्कृति पर अनेक धर्मों, जिनमें नास्तिकों में अग्रणी बौद्ध हुये उनका अधिकार रहा । जिसने न केवल भारतवर्ष बल्कि एशिया के बहुत बड़े भाग पर आधिपत्य स्थापित

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं, तं देवतानां परमं च दैवतम्
पतिं पतीनां परमं परस्ताद् विदामदेवं भुवनेश्मीड्यम् ।। - श्वे०श्वत०उप०अ०-6 मं०-10

संहिता कैलाश -6 द्वितीय अध्यायात लगभग सम्पूर्ण संहितापर्यन्त सार है - शिव पुराण

तृतीय खण्ड , अध्याय - 59, कुल श्लोक -7, पृ० - 341 - विष्णु पुराण

करके नास्तिक मत का प्रचार किया था। जब वो प्रचार प्रसार करते - करते काश्मीर के बहुत बड़े भाग पर भी अपने धर्म को फैलाने में सफल हो रहे थे। तभी एक चमत्कारिक अद्भुत ज्ञान से सम्पन्न भगवान परमशिव के अनन्य भक्त एवं योगवेत्ता वसुगुप्त जी का प्रादुर्भाव हुआ। जिनकी श्रद्धा एवं विश्वास को परख कर भगवान परमशिव ने उन्हें स्वप्न में ही शिव सूत्रों का ज्ञान करवाया, जो उन्हें स्वप्न में ही एक शिला पर लिपिबद्ध रूप से प्राप्त हुये थे। उन्हीं शिवसूत्रों में क्रमशः भैरव नाम आया है, भैरव परम शिव है और उन्मेष को प्राप्त साधक जब ज्ञान सम्पन्न होकर अतिरोहित उर्ध्वगामी होता है तो वह भैरवस्वरूप ही हो जाता है। अतः यह स्पष्ट है कि यह शास्त्र आगम शास्त्र के रूप में प्रसिद्ध था। जिसे प्रथमतः लिपिबद्ध सर्वशास्त्र प्रवर्तक महर्षि कृष्णद्वैपायन सत्यवती नन्दन पराशर सूनु वेद व्यास जी ने किया और आगे चलकर इसका पुनरूद्धार करने का श्रेय महामहिम कविराज पं० गोपी नाथ जी को जाता है। जिन्होंने अपना सम्पूर्णजीवन काश्मीर शैवदर्शन के लोप हुये या जीर्णशीर्ण शास्त्रों को पुनः संस्कृत कर लिपिबद्ध करते हुये प्रकाशित कराने में अथक प्रयास करते हुये सफलता अर्जित की। उन्हीं में से एक लोप हुआ आगम शास्त्र विज्ञान भैरव भी थी, जिसका उल्लेख काश्मीर शैव दर्शन शास्त्रों में तो प्रायशः हुआ था जबकि इस शास्त्र का कलेवर का पता ठीक से नहीं चल पा रहा था।

इस शास्त्र को वसुगुप्त के शिवसूत्र के अन्तर्गत उद्यमो भैरव: के सदृश ही हुआ है । तन्त्रालोक, में भी हुआ एवं ईश्वरप्रत्यभिज्ञानविमर्शिनी भाग 1, 2 में अधिकतर हुआ है ।

इसी को काश्मीर शैव दर्शनज्ञों में अगुनी अभिनवगुप्त ने "शिवविज्ञानोपनिषद्" रूद्रयामलसार के नाम से उद्धृत किया है और ग्रन्थ के अन्त में कहते हैं कि आज मैंने रूद्रयामल तन्त्र को समझ लिया है जिसके फलस्वरूप इसका नाम "रूद्रयामल सार" हुआ होगा । इसका ही उल्लेख नित्यषोडिकार्णव में भी मिलता है । अभिनवगुप्त रचित परमार्थसार के टीकाकार योगराज ने इसे "शैवोपनिषद्" की संज्ञा देकर उद्धृत किया है । योगिनी हृदय दीपिका में अमृतानन्द योगी इस ग्रन्थ का उल्लेख अनेक स्थलों पर हुआ है । जिसमें इस ग्रन्थ को "विज्ञान भैरव भट्टारक" कहा है । जैसे पृष्ठ 192 में भी इस शास्त्र की दो धारणाओं के बाद विज्ञान भैरव भट्टारक से समुद्धृत बताया है । इस प्रकार यह ग्रन्थ योगशास्त्र एवं आगम शास्त्र का उज्जवल रत्न है । यह ग्रन्थ अन्य शैवागमों की भान्ति भैरवभैरवि के सम्वाद रूप में जगत् कल्याणार्थ अविर्भाव में आया है । इसमें परमसत्ता विषयक अन्य वर्तमान (अन्योपलब्ध) मतों का खण्डण करके युक्तिसंगत ढंग से सर्वमान्य पारमार्थिक स्वरूप प्रस्तुत किया गया है । यही नहीं, दुःखी प्राणियों के कल्याणार्थ एवं उनकी विविध प्रकार की मानसिक स्थिति एवं स्तरों को ध्यान में रखते हुये एकत्र ही 112 धारणाओं का निरूपण किया गया है जो अपने आप में प्रत्येक परम सत्ता की प्राप्ति का एक स्वतन्त्र उपाय है इसी से इस ग्रन्थ की महत्ता आंकी जा सकती है ।

---

1. ई०प्र०वि०वि०भाग-1, पृ०-287, भा०-2, पृ०-214, 405 एवं 427
2. भाग-3, पृ० - 285 एवं श्लोक - 160
3. नित्यषोडिकार्णव - 4- 59
परमार्थसार टीका, योगराजकृत, पृ०-148, 151

विज्ञान भैरव का लेखक

विज्ञान भैरव एक आगम शास्त्र के रूप स्वीकृत ग्रन्थ है और आगम शास्त्र का अर्थ गुरुमुख परम्परा के अनुरूप में अनुश्रुत होता है। जैसे वेद परम्परा है वस्तुत: वैसे ही आगमे तिहास की भी परम्परा रही है। जिसे सिद्धयोगीश्वर समुदाय प्रयोग में लाते एवं क्रमश: शिष्य परम्परा को इस क्रम को चलाते रहने का सन्देश देते रहे होंगे। तभी युग क्रमानुसार जैसे - जैसे युग बदलते गये वैसे वैसे मनुष्य की आयु, स्मरण शक्ति, श्रद्धा एवं विश्वास में भी कमी आती गई। इसी को सम्मुख रखकर एवं विचार कर सर्वशास्त्र प्रवर्तक महर्षि वेदव्यास जी ने सभी वेदादि एवं पुराणतथा आगमशास्त्रों को लिपिबद्ध किया था। जिसमें विज्ञान भैरव का भी उल्लेख मिलता है। अत: विज्ञान भैरव का वास्तविक लेखक कौन है ऐसा प्रत्युत्तर दे पाना कठिन है जबकि यह परम सत्य है कि इसके लेखक उपदेष्टा स्वयं भैरव है। क्योंकि "विज्ञान भैरव प्रश्न प्रति वचनात्म शैली में लिखा गया एक आगम ग्रन्थ है। जिसमें प्रश्न भैरवी करती है और उसका उत्तर स्वयं भैरव देते हैं। इस विधा के अनुसार इसका रूद्रयामल भाव से, शिव एवं शक्ति के सामरस्य से हुआ है। और सिद्ध योगीश्वर इसके प्रवक्ता माने गये हैं[1]।" जैसा कि इसी ग्रन्थ के प्रश्नोत्तर करने वाले दोनों तत्व हैं - 1. प्रश्नकर्त्ता भैरवि तथा 2. उत्तरकर्त्ता भैरव[2]।

1. काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की मातृकाओं (पृ० - 220, 766) में सिद्धयोगीश्वर इस ग्रन्थ के प्रवक्ता माने गये हैं। वि० भै० [illegible] द्विवेदी पृ० 8

2 - भैरवि उवाच, भैरव उवाच वि० भै० पृ० 1 तथा 94

क्योंकि भैरव का प्रथमत: उल्लेख वेद में हुआ है और तत्पश्चात् इसे लिपिबद्ध महर्षि वेदव्यास जी ने शिवपुराण की संहिता क्रमाङ्क 6 कैलास नामक संहिता में हुआ है[1]। अत: इसके लेखक की वस्तु स्थिति का पता लगाना आज भी उतना ही कठिन है, जितना प्राचीन व्याख्याकारों के लिए रहा है। जबकि इसका प्रथमत: आगम शास्त्रों के अन्तर्गत रूद्रयामल तन्त्र में उल्लेख है परन्तु दुर्भाग्य वश काल को प्राप्त हो चुके, उस ग्रन्थ का प्राचीन स्वरूप उपलब्ध नहीं है। इसका परिचय हमें विष्णु पुराण से भी मिलता है यहाँ भैरव के रूप रंग, वर्ण, का वर्णन किया गया है[2]। शिव पुराण के प्रथम खण्ड में ही प्रारम्भ में भैरव का रूद्रयामल सार उल्लेख हो चुका है जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यह किसी सिद्धयोगी श्वर की कृति है, जिसने स्वयं भैरव की सिद्धि प्राप्त की थी और बाद में उसी की शक्ति से वर अर्थात् ज्ञान प्राप्त कर इसे सम्वादात्मक रूप दिया हो। संभवत: उसे शास्त्र ज्ञान भी पूर्ण था वे ही शिवपुराण में भी पारंगत थे।

---

1. शिवपुराण कैलास संहिता, 2 अध्याय से संहिता समाप्ति पर्यन्त, ख0-3, अ0 - 59, श्लोक - 1-7
भैरवाख्यं भ्रुवोर्मध्याद् ब्रह्मदर्प जिघांसया ।। -शि0पु0, सं0-1, अ0-8, श्लो0-8

2. तथा षष्ठ कैलाश संहितायाम्, अ0-19, श्लो0 -14
अथातोरूपनिर्माणं वच्म्यहं भैरवस्यते ।लम्बोदरं तथा कुर्याद्वृत्तपिङ्गललोचनव्यालेन दंष्ट्रं करालवदनं फलनासापुटं तथा ।कपालमालिनं रौद्रं सर्वतः सर्वभूषणम् ।। त्रासयन्तं च देवीं पर्वतनन्दिनीम् ।सजलादम्बुसंकाशं गणचर्मोत्तरच्छदम् ।।
नचास्यापुरत:कम्पदिवीपर्वतनन्दिनीम् ।।

-विष्णु0पु0, ख0-3, अ0-59, श्लो0 - 1-7

विज्ञान भैरव का आगम काल (समय)

रुद्रयामल तन्त्र वह शास्त्र है, जिसका उल्लेख तो मिलता है, परन्तु वास्तविक रूपेण उपलब्ध नहीं है। जिसमें प्रथमत: विज्ञान भैरव का प्रादुर्भाव रुद्रयामल के रूप में शिवशक्ति के सामरस्य से हुआ है परन्तु आज उपलब्ध नहीं है वही इसका प्रादुर्भूत आगम शास्त्र रहा है। अत: उसके प्रादुर्भाव के काल के विषय में कुछ भी कहने की स्थिति में नहीं है। परन्तु इतना अवश्य है कि इसका प्रादुर्भाव वसुगुप्त के शिव सूत्रों से बहुत काल शताब्दियों पूर्व हो चुका होगा क्योंकि इन्होंने अपने शिवसूत्र नामक ग्रन्थ में भैरव को परमशिव के ही पर्यायवाची अर्थ में निहित किया है[1]। जबकि शिवसूत्र को तो स्वयं भगवान ने रचा मानते हैं। तब भैरव की स्थिति काल के विषय में कुछ कहना उचित तो नहीं लगता। परन्तु आज के युग की दौड़ में सम्पर्क स्थापित करने के लिए इन्हें सातवीं शताब्दि से भी पूर्व का मानना युक्ति संगत लगता है जबकि वास्तविक रूप से बुद्ध धर्म से पूर्व ही अपना विस्तार कर चुके थे। अनुमानत: किसी भी धर्म को अपनी संस्कृति एवं सभ्यता का विस्तार करने के लिए कम से कम 150 से 200 वर्षों का समय लग ही जाता है और पुरातन संस्कृति मूलत: नष्ट न होकर जीर्ण शीर्ण हो जाती है। जो काल चक्र के परिवर्तित घटनाक्रम के अनुसार अपने श्रद्धा एवं विश्वसनीय पुत्रों के रूप में पुन: पनपने लगती है। इसी प्रकार से यह कहना कि यह महात्मा बुद्ध के बाद इनका प्रादुर्भाव हुआ होगा युक्ति संगत नहीं लगता है। तब ऐसी परिस्थिति में इसे महात्मा बुद्ध के

1. उद्यमो भैरव: । - शिव सूत्र, वसुगुप्त, सू0 - 5

पूर्व में स्थापित करने में कोई कठिनाई भी नहीं आती है। ऐसा इसलिए कि यहां पर भी शून्य को माना गया है[1] और महात्मा बुद्ध को भी शून्य ही प्रिय था। परन्तु दोनों के शून्य में अन्तर रहा है। विज्ञान भैरव का शून्य स्वतन्त्र परिपूर्ण शिव ही शून्यता का स्थान है। जहां से सारे तत्व निकलते हैं और लीन भी हो जाते हैं। परन्तु बुद्ध इस शून्य को अर्थ की दृष्टि से अभाव के रूप में लेते हैं।

इसलिए इस शून्य की युक्तियों से बौद्धों से पूर्व कहना युक्ति संगत लगता है अर्थात् इसका प्रादुर्भाव तो प्राचीन है ही जबकि विकास की दृष्टि से भी विक्रमी 448-505 से भी पूर्व हो चुका था। तभी शून्य को ग्रहण कर बुद्ध ने आदेश किये होंगे और अपने मतानुसार छल जाति से शून्य को परमशिव न मान कर अभाव के रूप में चर्चा करते हुये शिष्यों को शिक्षा दी होगी, जिन्हें बाद में शून्यवादी बौद्ध कहा जाने लगा। क्योंकि बुद्ध ने तपस्या से पूर्व बहुत से ग्रन्थों को पढ़कर मन्थन कर लिया था और वह वस्तुत: बौद्ध होने से पूर्व सांख्य सम्प्रदाय से ही सम्बन्धित सांख्यज्ञ आराडकलाम के शिष्य थे[2]। जिन्होंने उन्हें

---

1 यदवेद्यं यदग्राह्यं यच्छून्यं यदभावगम् ।
तत्सर्वं भैरवं भाव्यं तदन्ते बोधसम्भव: ।। - वि०भै०श्लो०-124, पृ०-137
नित्ये निराश्रये शून्ये व्यापके कलनोज्झिते ।
बाह्याकाशमन: कृत्वा निराकाशंसमाविशेत् ।। - वही -श्लो० - 125

2 बौद्ध दर्शनपरिच्छेद 5-6 (बौद्ध धर्म का दार्शनिक विकास), पृ० - 132
भा०द०, ब० उपा०

ज्ञान की शिक्षा भी दी होगी और जो इसी शिक्षा को पाकर साकार मूर्तियों का आश्रय (अवलम्बन) पाकर शून्यालय रूपी गगन के नीचे वट वृक्ष की छाया में तपस्या के लिए बैठे थे। अतः बुद्ध पर शून्य का प्रभाव था और वह विज्ञान भैरव जैसे आगम ग्रन्थों के अध्ययन एवं श्रवण से हुआ होगा। अतः विज्ञान भैरव के विकास की गति विक्रम सम्वत् से पूर्व या कुछ अर्वाचीन मानी जाये तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। जबकि प्रादुर्भाव के समय के विषय में कुछ भी कहना कठिन है। वेदों की तरह ही आगम शास्त्रों को आप्त एवं अपौरुषेय माना गया है।

आधुनिक इतिहासज्ञ काश्मीर के आगम ग्रन्थों के आविर्भाव का काल ई० सातवीं-आठवीं शताब्दि में ही मानते है और उनमें ईश्वरप्रत्यभिज्ञा का जो कि भट्ट उत्पल देवाचार्य जी की कृति है। उसका समय नवमी शताब्दि मानते हैं और विज्ञान भैरव को उससे परवर्ति कभी भी नहीं माना जा सकता। परन्तु जिन युक्तियों को समक्ष रखकर विद्वान एवं समय का ज्ञान बोध कराने वाले युक्तियों का आश्रय लेते हैं यदि इन्हीं के सदृश शून्य का आश्रय लेकर संकलन किया जाये तो बुद्ध से भी प्राचीन होने का श्रेय विज्ञान भैरव को जा सकता है। अतः स्वयं अनुभव जन्य लगता है कि इसका प्रादुर्भाव महात्मा बुद्ध से भी पूर्वभव हो चुका था और केवल मात्र पुनरुद्धार की यहां तक बात आती है वह सातवीं या आठवीं शताब्द मान लेने में आपत्ति नहीं है, क्योंकि बहुत समय-तक सातवीं आठवीं शताब्द के पश्चात् भी काश्मीर पर बौद्ध मतावलंबी राजाओं का राज रहा है। जिनमें वसुगुप्त जैसे आस्तिकवादी योगवेत्ताओं का प्रादुर्भाव भी हुआ, ऐसा इतिहास का ही कहना है। अतः सभी तार्किक शून्यादि युक्तियां बौद्ध से प्राचीन होने की ओर इंगित करती हैं।

जबकि समयाकलन कर्त्ताओं द्वारा भी इसे "योग वशिष्ठ" से पूर्व का माना जा चुका है जैसे कि योगवशिष्ठ में "नोर्ध्वेप्रयुध्यज्जीत प्रमुच्यान्ति" प्रभृति नेत्र तन्त्र के और "न सक्तमिह चेष्टासु" के श्लोकों में भी विज्ञान भैरव उपदिष्ट कुछ स्थूल भावनाओं का निषेध है। इन्हीं से पता चलता है कि विज्ञान भैरव का प्रादुर्भाव पहले हो चुका था। जबकि योग वशिष्ठ को समय निर्धारकों ने सातवीं शताब्दि का रचित ग्रन्थ माना है। अतः यदि हम ग्रन्थ को कसौटी को बौद्धों से पहले रखते हैं तो उसमें कोई विस्मय नहीं होना चाहिये क्यों कि सनातन की पद्धति इतनी संकुचित न थी न है और न आगे ही रहेगा इसमें सामायें बाधायें नहीं थी, तभी तो इस पर प्रहार होते रहे। इसका जितना बड़ा इतिहास है, उतनी ही खुला आंगन है जिसे जो सम्मत उसी को अपना कर साधक सफल हो सकता है इसलिए विज्ञान भैरव में 112 धारणायें गिनाई हैं। अतः बौद्धों से पूर्व निश्चित लगता है।

भाष्य व्याख्याकार

भारतीय मनीषियों में अग्रगण्य महामहिम कविराज पं० गोपीनाथ जी की कृपा से विज्ञान भैरव के व्याख्याकारों के विषय में सामग्री उपलब्ध होने लगी है। इसका सर्वश्रेष्ठ साधन यदि कोई परिश्रम है तो वह लुप्तागमसंग्रह उपोद्घात रहा है जिसके प्रकाशन में आने से काश्मीर शैव दर्शन एवं धर्म के विषय में प्रचुर मात्रा में दिग्दर्शन होने लगा है। लेखक के विषय में तो स्पष्ट हो ही चुका है।

1.

नोर्ध्वे ध्यानं प्रयुज्जीत.................नेत्रतन्त्र ....

..........नसक्तमिह चेष्टासु ।। -योग वशिष्ठ, उपशम 69, श्लोक-2-7

कि यह सिद्धयोगीश्वरों द्वारा रचा गया ग्रन्थ है । इसके उपदेशक स्वयं भैरव हैं जो भैरवी के प्रश्नों के उत्तर के रूप में अपने भावों को प्रकटित करते हुये भैरवी को उपदेश देते हैं । जबकि इसके भाष्यकारों में प्रथम: "वामन नाथ" का नाम आता है उनका अद्वयसम्पत्ति वार्तिक में मिलता है । इनका सम्बन्ध काश्मीर के ऐतिहासिक राजा जयपीड़ (779-813) से रहा है । इसी समय विज्ञान भैरव का पुनः प्रादुर्भाव हो चुका था । ऐसा मान लिये जाने में कोई आपत्ति नहीं आती है । जबकि व्याख्याकारों में क्षेमराज, शिवोपाध्याय एवं भट्टानन्द का नामोल्लेख मिलता है । शिवोपाध्याय ने विवृत्ति नामक टीका लिखी है जबकि दूसरी विज्ञान कौमुदी भट्ट आनन्द की है ।[1]"

क्षेमराज जी ने विज्ञानोद्योत नाम की व्याख्या इस पर लिखी है । इनमें क्षेमराज जी की टीका जीर्ण शीर्ण रूप से उपलब्ध है जो प्राय: अधिकतर लुप्त हो चुकी है जिसका ज्ञान हमें शिवोपाध्याय की विवृति के अन्तिम श्लोकों (पृ० - 143) से मालूम होता है । तान्त्रिक साहित्य में शिवोपाध्यायकृत विज्ञान भैरव की टीका नाम विवृत्ति न बतलाकर विमर्श दीपिका बतलाया है,

---

1.

श्रुतं देव ममेत्यादिप्रश्नग्रन्थार्थबन्धनम् ।
ऊर्ध्वे प्राणादि पद्यान्तं क्षेमराजकृतं शुभम् ।।

ततः परमुपाध्यायकुश काशीावलम्बनम् ।
यद्वृत्तिग्रन्थकाकलपुस्तकहस्तगोचरम् ।।
भूर्जात्मकं वा नायातं जग्धं कालघुणेन तत् ।
दग्धं वा वह्निनाच्छिन्नमत्रसाक्षी महेश्वर: ।।

-वि०भै०, उपोद्घात , पृ० -

और विमर्श दीपिका का नाम लेकर कुछ श्लोक उद्धृत किये हैं।[1] परन्तु विमर्श दीपिका उससे सर्वथा भिन्न है, श्लोकों के अन्तर्गत शिवोपाध्याय केवल अपनी एक अन्य कृति से समाज को किसी बहाने परिचित करवाने का प्रयास करते हुये दिखायी देते हैं।

इस प्रकार से विज्ञान भैरव के भाष्यकारों की संख्या तीन की संख्या में उपलब्ध होती है। भट्ट आनन्द शिवोपाध्याय एवं अभिनवगुप्त के परमप्रिय शिष्य क्षेमराज।

भट्ट आनन्द के द्वारा भाष्य समाप्ति काल कलिसम्वत् 4774 की चैत्र प्रतिपदा है[2] अर्थात् लगभग 1730 ईस्वी आता है और अनुमानतः जन्म 17वीं शताब्दी के लगभग बैठता है अर्थात् 1660 से 1730 तक है और शिवोपाध्याय[3 क] का स्थिति काल काश्मीर के राजा सुख जीवन के सम है अर्थात् अठाहरवीं[3 ख] शताब्दि माना गया है। क्षेमराज इन सबसे पूर्व के हैं जिनका स्थिति काल 11वीं शताब्दि माना जा चुका है।

xxxxxxx

---

1. तान्त्रिक साहित्य, पृ० - 596
2. श्लोक - विज्ञानभैरव विवृत्ति, पृ० - 110-111
वेदसप्तर्षिवेदान्त्ययुगाब्दमुखप्रतौ।
विज्ञानकौमुदीमेतां भट्टानन्दोव्यकासयत् ।।, पृ० - 93
3. क ख काश्मीर शैविज्म्, पृ० - 32 तथा शिवोपाध्याय विवृति, पृ०-143-144
सुखजीवनाभिधाने रक्षति काश्मीर मण्डले नृपतौ।
अगमन्निःशेषत्वं विज्ञानोद्योतसंग्रहसुगमः ।। ; पृ० - 144

पञ्चम अध्याय

विज्ञान भैरव का प्रतिपाद्य विषय - परमशिव, जीव, जगत, बन्ध, मोक्ष, उपाय एवं योग ।
विज्ञान भैरव के आधार पर धारणाओं की संख्या एवं विवेचना

विज्ञान भैरव का प्रतिपाद्य विषय - परमशिव, जीव, जगत्, बन्ध, मोक्ष, उपाय एवं योग तथा विज्ञान भैरव के आधार पर धारणाओं की संख्या एवं विवेचना

परम तत्व

जैसा कि सर्वविदित है कि प्रत्येक ग्रन्थकार का ग्रन्थ लेखन में अपना एक दृष्टिकोण रहता है और लगभग अधिकाधिक रूपेण विशेष कर दार्शनिक जगत् के विद्वान् कुछ नया प्रतिपादन करने का हर सम्भव प्रयास करते हैं । इन प्रयासों के पीछे कारण उनकी ईश्वर चिन्तन से उत्पन्न अपनी अपनी अनुभूति रही होती है । क्योंकि जो भारतीय दर्शन है विशेष कर ईश्वरपरक उनके अपने अपने ईश्वर विषयक मत हैं कोई राम को मानता है कोई विष्णु को एवं कोई महादेव परमशिव इत्यादिक नाम संज्ञा से वर्णन करते हैं । जबकि लक्ष्य एक ही है केवल नाम में भिन्नता पाई जाती है और आत्मा लाभ (आत्म ज्ञान) की प्राप्ति के बाद शास्त्राभ्यास के बाद उस परमात्म तत्व का अपने अपने ढंग से निरूपण होता है जिनके विषय में हमें इस विज्ञान भैरव नाम शोधार्थी चयन आगम शास्त्र से भी चलता है इस शास्त्रकार ने भगवान के विषय में अभिव्यक्त किये गये आठ रूपों को नकार कर स्वयं द्वारा प्रतिपादित एक नया रूप जो कि निष्कल, निराधार, विभु, नित्य इत्यादि है स्पष्ट किया है । जबकि शेष जो अन्य द्वारा अनुभूति से प्राप्त व्यक्त मान्यतायें जिनका निराकरण किया गया वे परम तत्व विषयक निम्न प्रकार से रही है -

1. शब्द राशीमय, 2. नवात्मा, 3. त्रिशिरोभैरव, 4. शक्तित्रयात्मक, 5. नादबिन्दुमय, 6. प्रणव कलामय, 7. चक्रारूढया अनच्क, 8. शक्तिस्वरूप।[1]

शब्द राशी मय – वैयाकरण एवं कुलदर्शन मतावलम्बियों का मानना है कि वह परम सत्ता शब्द राशीमय है जैसा कि वाक्य पदीय में कहा गया है कि वह "ब्रह्मसत्ता सभी शब्दों का वाच्य है, वह उस नित्य स्फोट शब्द से पृथक् नहीं है। पृथक् न होने पर भी दोनों का सम्बन्ध जीव और परमात्मा की तरह है"।[2]

शब्द ब्रह्म ही संसार की विभिन्न वस्तुओं के रूप में प्रतिभासित होता है और उसी से इस संसार की सारी प्रक्रियायें होती हैं अतः शब्द ही ब्रह्म है।[3]

महाभारत में कहा गया है कि शब्द ब्रह्म में प्रवीण होकर पुरूष परब्रह्म की प्राप्ति करता है।[4]

---

1. नित्यविभुर्विराधारोव्यापश्चार्हितलिरधप: ।।–वि०भै०, श्लो०–129
तत्वतो च नवात्मासौ शब्दराशिन भैरव: ।
न वासौ त्रिशिरा देवो न च शक्ति त्रयात्मक: ।।
नादबिन्दु मयोवापि न चन्द्रार्धनिरोधिका ।
न चक्रक्रमसंभिन्नो न च शक्तिस्वरूपवाद ।। –वही– ।।–12

2. वाच्या सा सर्व शब्दा नां शब्दाच्च पृथक्त: ।
अपृथक् त्वेऽपि सम्बन्धस्तयोर्जीवात्मनोरिव ।।–वा०प० 3/2/16

3. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्द तत्वं तदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थ भावेन प्रक्रिया जगतो यत: ।। – वा०प० 1/1

4. शब्द ब्रह्मणि निष्णात: परब्रह्माधिगच्छति ।। –म०भा०शां०प०अ० 270

वही कहा है कि वह व्याकरण शास्त्र अपवर्ग का साधन है, वाणी के मलों की चिकित्सा करने वाला है सभी विद्याओं में पवित्र है और मोक्ष प्राप्त करने वालों के लिए तो सीधी मार्ग है ।[1]

स्वच्छन्द तन्त्र में भी कहा गया है कि "अहं " प्रत्याहार मातृका चक्र ही शब्द राशी स्वरूप परम तत्व है, क्योंकि इसी के गर्भ में समस्त संसार के सकल शास्त्र विद्यमान हैं । सम्पूर्ण शास्त्र इन्हीं की सहायता से प्रकट होते हैं । [2]

कुलदर्शन वालों के मत के समर्थन मे ही प्रस्तुत ग्रन्थ में एक श्लोक मिलता है जिसमें कहा है कि अनुत्तर अकार अकुल तत्व और विसर्ग { हकारोच्चारण-स्वरूपा } कौलिक शक्ति है । इसी का शिव बिन्दु भी कहते हैं इसी शिवबिन्दु रूप विसर्ग से ही सारे जगत् की सृष्टि होती है । अर्थात् "सविसर्ग अकार में दृढ़ धारण करे और अन्ततः अकार रहित केवल विसर्ग में ही चित्ति के ध्यान में ही चित्त समाविष्ट करे इस प्रकार जैसे विसर्ग बिना अकार के है उसी प्रकार निराधार चित्त के द्वारा उस ब्रह्म सनातन को जाने "[3] । ऐसे अनेक उदाहरण शब्द राशीमय के योगिनी हृदयदीपिका { पृ0 - 170 } में लिखा है कि परमात्मा

---

1. तद्द्वारमपवर्गस्य वाङ्.मलानां चिकित्सितम् ।
पवित्रं सर्वविद्यानामधिविद्यं प्रचक्षते ।। - वा0प0 1/14
इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धिसोपानपर्वणाम् ।
2. इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः ।। - वा0प0 1/16
अकार हकार प्रत्याहार त्यागभी कृताशेषविश्वसमग्रशास्त्र
3. प्रसरप्रथमांकुररूपो भगवान् शब्दराशिः ।। - स्व0त0, भा0 - 1, पृ0 - 6
वर्णस्य सविर्गस्य विसर्गान्तं चितिं कुरू ।
निराधारेण चित्तेन स्पृशेद् ब्रह्म सनातनम् ।। - वि0भै0, सव्याख्या , पृ0-89

निखिल जगत में अन्तर्यामी रूप से स्थित है ऐसा ब्राह्मण ग्रन्थों में भी प्रतिपादित है । इस प्रकार वह द्वादश राशी मयी परावाक् है ।[1] इसी में लिखा है कि अकार हकार का सामरस्य रूप ही अर्थात् अहः प्रत्यय ही परावाक्, पश्यन्ति, मध्यमा एवं वैखरी स्वरूप चार भेद हैं । जैसे कि संकेत पद्धति में भी कहा गया है अकारसभी वर्णों के पूर्व में होने से वही अकार परमशिव प्रकाश स्वरूप है । और हकार अन्तिम वर्ण होने से अकला विमर्श स्वरूप है ।

नवात्मा - (योगीनी हृदय दीपिका में भी नवात्म मन्त्र का उद्धार किया है (द्रष्टव्य, पृ० - 257) इसमें सभी शक्तियों को अन्त में नवात्मा भैरव से जोड़ना चाहिये । विशुद्ध स्थान में, हृदय, नाभि, स्वाधिष्ठान एवं कहा है कि मूल आज्ञाचक्र मे सभी धातु देवता है। इनमें नवात्मा भैरव है, जिसके लिए कहा है आनन्दभैरव (उसी नवातमा भैरव का तर्पण करो आनन्द भैरव के लिए शब्द का उच्चारण करना चाहिये । इस प्रकार से नवात्मा भैरव का पता चलता है ।[2]

---

1. परमात्मा तु निखिलान्तर्यामी ब्राह्मणेप्रतिपादित: ।।-यो०हृ०दी०, पृ०-170
गणेशो5भून्महाविद्या परा वागादिवाङ्.मयी ।
बीजबिन्दुध्वनीनां तु च त्रिकूटेषु गृहात्मिका ।। -यो०हृ०दी०, श्लो० -63
अकार:सर्ववर्णाग्रय: प्रकाश: परम: शिव: ।
हकारो5न्त्यकलोरूपो विमर्शाख्य: प्रकीर्त्तित: ।।
अकारहकारसामरस्यरूपा परावागर्दियसिता: पश्यन्ति
मध्यमा वैखर्यौवा चतस्तिक: ।। , पृ० - 170
2. अंर्शेशयोजयेदन्ते नयात्मायं समुद्धृत: ।। विशुद्धौ हृदये नाभौ स्वाधिष्ठानेतु मूलत: । आज्ञायां धातुनार्थश्चन्यस्तव्या धातु देवता: । नवात्मा - पूर्वोक्तेनतर्पयेत् ।। - यो० 104-105

आनन्दभैरवमिति । नवात्मनव आनन्दभैरवं तर्पयेतदिति ।।
आनन्दभैरवायवौषट् ।। - यो०हृ०, पृ० - 257

तन्त्रालोककार ने और उसके टीकाकार जयरथ ने भी ब्राह्मी प्रभृति आठ मातृकाओं के मध्यवर्ती भैरव स्वरूप को नवात्मा माना है। जो इस प्रकार हैं - अष्टारचक्र के मध्य में नवात्मा भैरव ही है।[1]

त्रिशिरोभैरव = प्रत्यभिज्ञाहृदय में त्रिशिरोभैरव मत का ज्ञान इस प्रकार से होता है जहां एक प्रश्नात्मक स्वरूप श्लोक आया है जिसमें कहा गया है कि - हे प्रिये। अब सुनो शरीर सब देवों से युक्त होता है। वहां कठिन अंश पृथ्वी द्रवांश जल कहा गया है। इस प्रकार इस विश्व में (शरीर) में भगवान त्रिशिरोभैरव, साक्षात् (व्यक्ति के रूप में) विश्व को व्याप्त करके स्थित है।[2]

शक्तित्रयात्मक - इस स्वरूप के विषय में इसी ग्रन्थ में प्रकाश डाला गया है कि इनके तीन भेद हैं - परा परापरा-अपरा। अर्थात् इच्छा, ज्ञान, क्रिया इनके सम्बन्ध में कहा है कि परापर का एवं अपरा का सकल स्वरूप बन सकता है परन्तु परा शक्ति निष्कल रहती है यदि उसमें सकलत्व माना जाने लगेगा तो उसका परत्व ही नष्ट हो जायेगा। अतः परा का स्वरूप निष्कल ही है।[3]

---

1. एकवीरो यामलोऽथ त्रिशक्तिश्चतुरात्मकः।
पञ्चमूर्त्तिः षडात्माऽयं सप्तकोऽष्टकभूषितः ।।
नवात्मा दशदिक्छक्तिरेकादशकलात्मकः।
द्वादशारमहाचक्रनायको भैरवस्त्विति ।।- आ0-1, श्लो0 -110-111
नवाऽस्याः शक्तयाः पूज्यास्तदारूद्रविनायकौ।

2. त्रिशिरोमतेऽपि - सर्वदेवमयः कायस्तं चेदानीं श्रृणुप्रिये।
पृथिवी कठिनत्वेन द्रवत्वेऽम्भः प्रकीर्तितम् ।।
इत्युपक्रम्य -त्रिशिरोभैरवः साक्षाद्व्याप्य विश्वं व्यवस्थितः ।।-
प्र0भि0हृ0, पृ0-11

3. परापरायाः सकलमपरायाश्च वा पुनः।
परायां यदि तद्वत् स्यात् परत्वं तद्विरुध्यते ।।
न हि वर्ण विभेदेन देहभेदेन।
परत्वं निष्कलत्वेन सकलत्वेन तद्भवेत् ।।-वि0भै0, श्लो0-5-6
-(च) स्वच्छन्द तं0 7/238-39

नाद बिन्दु

शैव सिद्धान्त के एक पक्षधर उसके भी समर्थक हैं इनके अनुसार शिव, शक्ति एवं बिंदु – ये तीन रत्न हैं । ये ही समस्त तत्वों के अधिष्ठाता हैं और उपादान रूप से प्रकाशमान होते हैं । शुद्ध तत्वमय शुद्ध जगत् के कर्ता शिव, करण, शक्ति तथा बिन्दु हैं । विशुद्ध सत्व जो जाना जाता है वही बिन्दु है । इसी का नाम "महामाया " है । यही बिन्दु शब्द ब्रह्म कुण्डलिनी , विद्या शक्ति तथा व्योम, इन विचित्र भुवन तथा भोग्य रूप में परिणत होकर शुद्ध जगत् की सृष्टि करता है क्षुब्द होने पर "इस बिन्दु से एक ओर शुद्ध देह , इन्द्रिय भोग तथा भुवन की उत्पत्ति है (शुद्ध अध्वा) दूसरी ओर शब्द का भी उदय होता है । सूक्ष्मनाद, अक्षर बिन्दु और वर्ण भेद से शब्द तीन प्रकार का होता है । अत: समस्त जगत् का कारण नाद बिन्दु है " इसी प्रकार से श्री मृगेन्द्रागम में भी वर्णन मिलता है ।[2] प्रस्तुत ग्रन्थ के उपोद्घात् में भी शैव रत्न संग्रह से लिपिक किया गया है कि नाद को मालिनी, महामाया, समना अनाहत, बिन्दु, अघोषा वाक् , ब्रह्म कुण्डलिनी बताया है ।"

---

1. जायतेऽध्वा यत: शुद्धो वर्तते यत्रलीयते ।
   स बिन्दु: परनादाख्य: नादबिन्दुर्वर्णकारणम् ।।–र०त्र० का०–22
2. सिद्धोनाद:परसूक्ष्मः मला मालिनी महामाया ।
   समनाऽनाहतबिन्दुरघोषा वाग ब्रह्मकुण्डलिनी तत्व ।।
   विद्याख्यं चेत्युक्तस्तैस्तै: शब्दै स्तदाममेषिवस्थेम ।।
   –शैवरत्न संग्रह पृ० –40, द्रष्ट०प्रस्तुत ग्रन्थ उपो०, पृ०– 10

प्रणवमय

यह प्रश्न अर्धचन्द्र निरोधिका प्रभृति से सम्बन्धा है । प्रणव मय भगवान के स्वरूप की व्याख्या पर लगभग सारे का सारा काश्मीर शैव दर्शन आकर्षित लगता है इस प्रणव के स्वरूप को जिस प्रकार से काश्मीर शैव दर्शन कारों ने प्रस्तुत किया है वह अपने में अनुपम भी है और धारणीय भी है । प्रणव की (ॐ) 12 कलाओं को वे इस तरह प्रस्तुत करते हुये 19वें मन्त्र की व्याख्या में कुछ निम्न प्रकार से प्रस्तुत करते हुये कहा है कि "प्रणव, नवात्म प्रभृति पिण्ड मन्त्र कहलाते हैं"। इनको ऐसा इसलिए कहा जाता है कि "इनमें पृथक्-पृथक् अनेक वर्णों की स्थिति रहती है और अन्त में प्रायः एक संयोजक स्वर रहता है । इस तरह के लगभग सभी मन्त्रों के स्थूल वर्णों का क्रम से उच्चारण कर लेने के बाद बिन्दु, अर्धेन्दु, नादान्त प्रभृति सूक्ष्म से सूक्ष्मतर मात्रा में बढ़ते जा रहे सूक्ष्म वर्णों के उच्चारण का शून्य अवस्था पर्यन्त अनुसन्धान किया जाता है"[1,2]। जैसे कि प्रणवात्मक पिण्ड मन्त्र के स्वरूप को शिवोपाध्याय उद्घाटित करते हुये लिखते हैं कि - ॐ[3] इसमें अकार - नाभि में उकार की हृदय में, मकार की मुख में , बिन्दु को भ्रूमध्य में अर्ध चन्द्र की ललाट में, निरोधिनी की ललाट

1.
पिण्डमन्त्रस्य सर्वस्य स्थूलवर्णक्रमेण तु ।
अर्धेन्दु बिन्दुनान्दान्त शून्योच्चाराद् भवेच्छिव: ।।-सव्याख्या वि०भै०
श्लोक-42

2.
तेन प्रणवात्मके पिण्डमन्त्रे अकार उकारमकारोच्चारणानन्तरं
हकारात्प्रभृति षष्ठ स्वरान्ते नवात्मपिण्डमन्त्रे च ....
अकारोच्चारणानन्तरं बिन्दु-अर्धचन्द्र-निरोधिनी-नाद-नादान्त-शक्ति-
व्यापिनी-समना -उन्मना नामन्तो पर्यवसाने -शून्य रूपात् प्लुतोच्चाराद्
तथा च -

3.
ओमिति स्फुरदुरस्यनाहतं गर्भ गुम्फितसमस्त वाङ्मयम् ।
दन्ध्वनीति हृदि यत्परं पदं तत्सदक्षरमुपास्महे महः ।।-वि०भै०, पृ0-48/49

के ऊर्ध्व भाग में, नाद को शिर में, नादान्त की ब्रह्म रन्ध्र में, शक्ति की त्वक् में, व्यापिनी को शिखा के मूल में, समना की शिखा मे और उन्मना की शिखा के अन्तिम भाग में स्थित रहती है। इस उन्मना को भी लांघ कर, अर्थात् द्वादशान्त पर्यन्त सभी सोलह भूमियों को पार कर लेने पर सत्रहवें निरञ्जन द्वादशान्त स्थान में अवस्थित व्योमाकार परमशिव के रूप में साधक अपने को देखने लगता है। प्रणव को पिण्ड मन्त्र इसलिए कहा जाता है कि यह नाभि से लेकर द्वादश पर्यन्त इस पिण्ड में विभक्त है।

शिवोपाध्याय के श्लोक की व्याख्या इस प्रकार से है कि है समस्त वाङ्मय को अपने गर्भ में समेटे हुये यह ऊंकार प्रत्येक प्राणी के हृदय में अनाहत नाद के रूप में ध्वनित होता रहता है। हृदय में विद्यमान यह प्रणव रूप सदक्षर ही परमपदस्थानीय है। हम इसी तेज की उपासना करते हैं"

अनच्क या चक्रारूढ - मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्धाद्या एवं आज्ञा ये छह चक्र कहे गये हैं इनमें सार्धत्रिवलया प्राण कुण्डलिनी रहती है। इन चक्रों के भी मूलाधार या हृदय से लेकर द्वादशान्त पर्यन्त भावना की जाती है जिसमें अन्ततः परम तत्व की भावना होती है। ये चक्र इस प्रकार से हैं जन्माग्र -मूल-कन्द-नाभि-हृत-कण्ठ तालु-भ्रूमध्य-ललाट-ब्रह्म रन्ध्र-शक्ति-व्यापिनी। इनमें जन्माग्र से लेकर व्यापिकी पर्यन्त नित्यशः उपरोपरि विकास से ही चक्रभेदन होता है और साधक मुक्त हो अर्थात् भैरव में समाविष्ट हो जाता है। इस प्रकार के ज्ञान के लिए प्राणापान वाहिनी ईडा पिंगला के अतिरिक्त

मध्यनाडी सुषुम्ना के भीतर जो परम तात्विक रहस्य है उसे जानना जरूरी हो जाता है वह इन प्राणापान से विशेष है और स्वाभाविक है। इन दोनों प्राणापान को प्राणायामादि क्रियाओं से सुषुम्ना में परिवर्तित कर उस स्वाभाविक सुषुम्ना को विकसित किया जा सकता है जिसके विकसित हो जाने पर साधक भैरव में समाविष्ट होने में देर नहीं लगाता स्वतः समाविष्ट होकर शिवमय हो जाता है। अर्थात् यही मध्यनाड़ी स्थित बिना क्रम के स्वाभाविक रूप से उच्चरित होने वाली यह प्राण शक्ति ही अनच्क कहलाती है। अजपा जप में इसी का स्फुरण होता है। इसके स्वरूप को इसी ग्रन्थ की क्रमशः धारणा एक से लेकर आठ तक उपाय में वर्णन किया गया है।"[1]

1.
ऊर्ध्वे प्राणोह्यधो जीवो विसर्गात्मा परोच्चरेत् ।
उत्पत्ति द्वितयस्थाने भरणाद् भरिता स्थिति ॥

मरुतोऽन्तर्बहिर्वाऽपि वियुद्युग्मानिवर्तनात् ।
भैरव्या भैरवस्येत्थं भैरवि व्यज्यते वपुः ॥

न व्रजेन्न विशेच्छक्तिर्मरुद्रूपा विकासिते ।
निर्विकल्पतया मध्ये तया भैरव रूपता ॥

कुम्भिता रेचिता वापि पूरिता वा यदा भवेत् ।
तदन्ते शान्तनामासौ शक्त्या शान्तः प्रकाशते ॥

आमूलात् किरणाभासां सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरात्मिकाम् ।
चिन्तयेत् तां द्विषट्कान्ते शाम्यन्तीं भैरवोदयः ॥

उद्गच्छन्ति तडिद्रूपां प्रतिचक्रं क्रमात्क्रमम् ।
ऊर्ध्वमुष्टित्रय यावद् तावदन्ते महोदयाः ॥
क्रमादद्वादशकं सम्यग् द्वादशाक्षरभेदितम् ।
स्थूलसूक्ष्म परस्थित्या मुक्त्वाऽन्ततः शिवः ॥

तयाऽऽपूर्याशु मूर्धान्तं भङ्क्त्वा भ्रूक्षेपसेतुना ।
निर्विकल्पमनः कृत्वा सर्वोर्ध्वे सर्वगोद्गमः ॥ -सत्याख्या, वि०भै०-24-31

शक्ति स्वरूप

नाम से ही स्पष्ट है कि यह तत्व शक्ति स्वरूप परमतत्व है और इसके मानने वाले भी शाक्त रहे हैं । शक्ति स्वरूप परम तत्व को मानने वालों का मत है कि यह पराशक्ति ईश्वर की अभिन्न शक्ति है इसके बिना ईश्वर की सत्ता का ज्ञान ही नहीं हो सकता जैसे "अग्नि की दाह शक्ति से भिन्न अग्नि की सत्ता एवं सूर्य से प्रकाश भिन्न करके उसकी सत्ता के विषय में वर्णन नहीं किया जा सकता वैसे ही यह शक्ति भी है"।[1] जिसके विषय में कहा गया है कि यह "जो यह मातृका शक्ति है यह परात्मक तेज से युक्त है उसी से यह सुब्रह्म भुवन पर्यन्त जगत् व्याप्त है । यह इस जगत् में सदा व्याप्त है और देवताओं द्वारा पूजित है । जैसे अवर्ण में जैसे वर्ण स्थित है उसी प्रकार यह भी सर्वत्र व्याप्त है"।[2] जिसका सुन्दर विवेचन श्री दुर्गा सप्तशती के चतुर्थ अध्याय में तथा एकादश अध्याय में अनेकत्र तथा अन्य कुछेक अध्यायों में भी सर्वतन्त्र स्वतन्त्र परा शक्ति स्वरूप स्तुतिपरक पाठ पढ़ने को मिलता है तुम वैष्णवी हो अनन्त वीर्या हो विश्व की जननी हो जगत् की आधार विश्वेश्वरी हो तुम्ही मुक्ति की हेतु हो ।[3] परा हो तेरे से अतिरिक्त हम किस की पूजा करें।

---

1. जलस्येवोर्मयो वह्ने ज्वाला भङ्गयः प्रभारवेः ।
ममैव भैरवस्यैता विश्वभङ्गयो विनिरिता ।। - वि० भै०, श्लो० - 108

2. या सा मातृका देवि परः ते जसमन्विता ।
तया व्याप्तमिदं विश्वं सब्रह्म भुवनान्तकम् ।।
तत्रस्थं च सदा देवि व्यापितं च सुरार्चिते ।
अवर्णस्थो यथा वर्णः स्थित सर्वगतः प्रिये ।।- शिवसूत्र, पृ० - 90

3. देविप्रपन्नार्तिहरे प्रसीद............परापरोक्तिः ।।
- श्री दु० स० अ० -11, श्लोक - 3 - 6 ।

परम तत्व

जब से मानव का जन्म हुआ है तभी से वह द्वन्द्व में फंसा हुआ है और ब्रह्मा से लेकर सभी जितने भी अशेष प्राणी हैं दुःख से निकलने के लिए एक अनुसन्धान करते आ रहे हैं । हमारे इस जगत के पीछे जो परमार्थ सत्य है, उसी का अन्वेषण किया और इसी प्रकार विज्ञान भैरव कार का भी है । जिसने आठों को छोड़ कर भैरव को माना है ।"

विज्ञान भैरव का परम तत्व निर्विकार निरालय निराश्रय नित्य, विभु, व्यापक एवं अखिल ब्रह्माण्ड पति निराधार, सर्वकर्ता, सर्वज्ञ, सर्वगोचरी, परम शून्य स्वरूप भैरव है ।[1] यही विज्ञान भैरव का परमतत्व है और योग साधना का परम लक्ष्य भी है । जिसका ज्ञान जिसका स्वरूप क्रमशः आणवोपाय उच्चार, करण ध्यान मुद्रादि से, पराशक्ति से जिसे शाक्तोपाय से भी कहते हैं । सर्वत्र शिवमय भाव का अपने अन्तःकरण में धारणा से अर्थात् शाम्भवोपाय से एवं गुरूपदेश से शीघ्र शक्तिपात होने अर्थात् अनुपाय योग से परमतत्व का बोध होता है ।

विज्ञान भैरवकार ने "सविकल्प यज्ञ पूजादि"[2] को इस परम तत्व की प्राप्ति के लिए अयोग्य बतलाते हुये कहा है कि ये सभी कर्म इस परमतत्व की प्राप्ति के लिए अक्षम है, केवलमात्र स्वर्गादि एवं कामनाओं की प्राप्ति भूत साधन है । "उस की प्राप्ति के लिए किसी भी तीर्थ यात्रा की आवश्यकता नहीं है और न ही लौकिक हवन एवं तर्पण की ही आवश्यकता है । इन सबकी प्राप्ति के लिए मन को स्रुचा एवं चेतना को सामग्री बनाकर जो परमशून्य रूपी अग्नि में स्वयं को

---

1. नित्यविभुर्निराधारो व्यापश्चाखिलाधिपः ।
शब्दान् प्रतिक्षणं ध्यायन् कृतार्थोऽनुरूपतः ।।-वि०भै०,श्लोक-129
2. एवं विधे परतत्वे कः पूजा कश्चतृप्यति ।। - वही-, श्लोक -16

आहूत करता है ।[1] वही वास्तविक हवन है जिसका निरूपण करते हुये शिव सूत्रों में कहा है कि यही "शरीर हवन है"[2] जिस अलौकिकाग्नि में परम तत्व की प्राप्ति के लिए योगी को आहूत करना चाहिये ।"ज्ञान रूपी अन्नभक्षण करना चाहिये" ।[3] इन सबके सब उपायों का अर्थ होता है इस "इन्द्रजालमय नारी से विमुक्त जिससे ज्ञाता ज्ञान का आश्रय प्राप्त कर ज्ञेय को जानकर मुक्त होकर अद्वय को हो जाता है ।[4] जिसका अन्तःकरण विकल्प से रहित है वही भैरवि भैरव को प्राप्त करता है ।[5] जबकि ज्ञान भी ज्ञान और आत्मा का सम्बन्ध प्रकाश एवं प्रकाशक का है आत्मा के बिना ज्ञान नहीं रहेगा और ज्ञान से ही आत्मा प्रकाशित होता है" ।[6] इनका सम्बन्ध जल से उर्मियों, अग्निका से अग्नि का एवं जैसे सूर्य एवं किरणों का सम्बन्ध रहता है इसी प्रकार अन्योन्याश्रय भाव ज्ञान एवं आत्मा का बतलाया गया है ।"[7]

---

1. महाशून्यलये वहनौ भूताक्षविषयादिकम् ।
2. हूयते मनसा सार्धं स होमश्चेतना स्रुचा ।। वि0भै0, श्लोक - 146
3. शरीरं हविः ।। - शि0सू0 पा0-2, सू0 -8
4. ज्ञानमन्नम् ।। - वही - , सू0 - 9

अतत्वमिन्द्रजालाभमिदं सर्वमवस्थितम् ।

5. किं तत्वमिन्द्रजालस्य इति दार्ढ्यं शमं व्रजेत् ।।-वि0भै0, श्लो0 -130

नित्य स्वानुभवानन्दः विकल्पोन्मुक्तगोचरः ।

6. याऽवस्थाभरिताकारा भैरवि भैरवमात्मनः ।।- वही- , श्लोक -15

ज्ञानं प्रकाशकं सर्वं सर्वेणात्मा प्रकाशकः ।

7. एकमेकस्वभावत्वाज्ज्ञानं ज्ञेयं विभाव्यते ।। - वही - , श्लोक - 134

जलस्येवोर्मयो वहने ज्वालाभङ्गयः प्रभा रवेः ।

ममैव भैरवस्यैता विश्वभङ्गयो विभेदिताः ।। - वही-, श्लोक - 108

परन्तु विज्ञान भैरव ज्ञान को भी पराकाष्ठा नहीं मानते हुये कहते हैं कि यह भी केवल बाह्य लोक को ही प्रकाशित करता है जबकि ज्ञेय इसकी पकड़ में नहीं आता । ज्ञेय के स्वरूप को केवल कल्पना के माध्यम से वर्णन करता है जबकि ज्ञेय निर्विकार एवं निराश्रय है और केवल धारणादि योगोपाय से ही वेद्य है । इस तरह सभी तरह के लौकिक कर्मकाण्ड प्रतिपादित विषयों से दूर हटकर ही उस परमतत्व को प्राप्त किया जा सकता है । जो विभु नित्य - निराश्रय सर्वकर्त्ता धर्ता परमशून्य आदि सब कुछ है । वही विज्ञान भैरव का ग्रन्थ परमतत्व परम शिव (भैरव) है । जिसकी प्राप्ति के लिए सुदृढ़ मानसिक बल की परमावश्यकता है जिसका उल्लेख प्रथम धारणा से लेकर ग्रन्थ कर्त्ता ने ग्रन्थ समाप्ति पर्यन्त विस्तृत रूप से वर्णन भी किया है । उसी को जानकर साधक जीवन्मुक्त होते हैं । बिना मानसिक बल के इस ज्ञेय को जानना कठिन ही नहीं अपितु असम्भव है । विज्ञान भैरव का मत है कि किसी भी उपाय मार्ग से कोई परम तत्व को जानने के लिए प्रयास क्यों न करे प्रत्येक पथ पर चलने के लिए दृढ़ मनोबल की आवश्यकता है , जिसके बिना परमतत्व का निरूपण कठिन है जिसके लिए धारणा एक से लेकर धारणा समाप्ति पर्यन्त अनेक युक्तियाँ दर्शाते हुये परमतत्व का अन्ततः निरूपण भी किया गया है ।"[2]

---

1. निस्तरङ्गोपदेशानां शतमुक्तं समासतः ।
द्वादशाभ्यधिकं देवि यज्ज्ञात्वा ज्ञानविज्जनः ।।"
अत्र चैकतमे युक्तो जायते भैरवः स्वयम् ।
वाचा करोति कर्माणि शापानुग्रहकारकः ।।"
अजरामरतामेति सोऽणिमादि गुणैर्युतः ।
योगिनीनां प्रियो देवि सर्वमेलापकाधिपः ।।"
जीवन्नपि विमुक्तोऽसौ कुर्वन्नपि न लिप्यते ।।-वि0भै0, श्लो0पूर्वार्द्ध 136-139

जीव

काश्मीर शैव दर्शन विशुद्ध अद्वयनय दर्शन है जो जीव में भी भगवान की परमसत्ता को ही देखता है। ऐसा इसलिए कि काश्मीर शैव दर्शन भगवान के दो स्वरूपों को दर्शाता है जो इस प्रकार से है एक विश्वोत्तीर्ण द्वितीय विश्वमय। विश्वोत्तीर्ण रूप में उसकी चित्त सुखात्मक तो वो है ही जबकि अनन्त इच्छा अनन्त ज्ञान एवं अनन्त क्रिया शक्तियों से सम्पन्न होता है और ये पांचों चित्त, आनन्द, इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया शक्तियां उसकी अपनी हैं उससे भिन्न इनकी सत्ता नहीं है। इन्ही इच्छा ज्ञान क्रियात्मक शक्तियों को परमशिव संकुचित कर लेते हैं तो अनन्त के स्थान को सीमित स्थान को प्राप्त करते हुये सीमित इच्छा, सीमित ज्ञान एवं सीमित क्रिया शक्ति युक्त विश्वमय स्वरूप में प्रकटित होते है जिन्हें काश्मीर शैव दर्शन शास्त्रों में पशु: कहा गया है इसी पशु को वह संसारी भी कहते हैं। जिसे प्रत्यभिज्ञा हृदय में क्षेमराज ने भी अपने शब्दों में स्पष्ट करते हुये इस प्रकार से कहा है कि जब चित्त मलावृत होता है तो वह संसारी कहलाता है[1]। दूसरे शब्दों में क्षेमराज कहते हैं कि चित्त परमशिव स्वरूप है जो कि स्वयं प्रकाश है पञ्चकृत्य कर्ता है क्योंकि "यह चिति सर्वतन्त्र स्वतन्त्र है" सर्वज्ञ है सर्वकर्ता है और विशुद्ध है,[2] जबकि यह "चिति जब चेतन पद से अवरूढ़ (नीचे पतित) होती है तो चित्त कहलाती है।[3]

1. चितवच्छक्तिसंकोचात् मलावृत: संसारी ।। -प्र०भि०, सूत्र - 9
2. चिति: स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतु: ।। - वही- , सूत्र -1
3. चिति चेतनपदादवरू चेत्यसंकोचिनी चित्तम् ।। - वही-, सूत्र - 5

इसी प्रकार की व्यवस्था क्रमशः शिवसूत्रों में भी मिलती है जिसमें आत्मा को चेतन से ओत प्रोत माना गया है। जिसमें कहा गया है कि यह "आत्मा चिति शक्ति से युक्त है वह चित्ति शक्ति जो सर्वतन्त्र स्वातन्त्र्य से युक्त है-[1] अनाश्रित है। जबकि पृथिवी सकल पर्यन्त सभी इसी पर आश्रित है। इसी व्याख्या में लिखा है कि यह चिति शक्ति परमशिव से भिन्न नहीं है अर्थात् अभेदात्मक है। चैतन्यमात्मा ही सूत्र में यह स्पष्ट होता जाता है कि यह आत्मा चिति: शक्ति से युक्त चित्त है, चिति नहीं। क्योंकि इसके ज्ञान का क्षेत्र सीमित है जैसा कि शिवसूत्र के द्वितीय सूत्र ही इस बात को भी स्पष्ट करता है। जैसा कि परमार्थत: देखते हैं कि वह परमात्मा या आत्मा स्वरूप-ईश्वर एक ही है केवल अनेक स्वरूपों में भेदवाद भाव से दृष्टिगोचर हो रहा है जबकि सन्तजन सिद्ध उसे सर्वत्र स्वरूप भेद से ऊपर उठकर आत्मा के साथ ही वार्तालाप करते हैं। उनकी दृष्टि में कलात्मक शरीर नाशवान् एवं आत्मा के ऊपर आवृत मल (मैल) को त्याग देते हैं।

श्री क्षेमराज ने कहा है कि जो यह चैतन्यमात्मा कहा गया है यही आत्मा है, भावाभाव रूप विश्वात्मक जगत के अन्दर विशेष रूप से यह प्रकाशित हो रहा है। इसके अतिरिक्त कहीं भी कोई भी ऐसा अचेत्यमान नहीं है जो चेतित स्वभाव से युक्त हो चेत्यमान ही स्वप्रकाशविमर्शिकशील होने से

---

1. चैतन्यमात्मा ।।-शि०सू० - । तथा क्षेमराज कृत विमर्शिनी द्रष्टव्या -शि०सू० - ।

चैतन्यमात्मा है, जिसके लिए श्रीमदुच्छुष्मभैरव में कहा है कि "हे प्रिये ! जब तक आपने इसे नहीं जाना तब आप ने किसे एवं क्या जाना यही जानने योग्य है यह वेदक एवं वेद्य एक ही है इसी को तत्व से तुम जानो।

जैसा कि चैतन्य विश्व का स्वभाव है तदनन्तर उसके साधन के लिए जितने भी प्रमाण दिये जायें वे लगभग अनुपयुक्त ही माने जायेंगे।"

यह "चिति जब इच्छा ज्ञान क्रिया का सन्धानकर्त्ता है तभी शरीर स्वरूप अर्थात् शरीरों को उत्पन्न करती है"[1] जिसे दूसरे शब्दों में संसारी कहा है और यही शिव या चिति शक्ति जब शुद्ध तत्व का अनुसन्धान करती है तो वह अपशु अर्थात् शिव कहलाती है।"[2] यह पशु त्रिविध मल से युक्त होता है। जो क्रमशः आणव मायीय एवं कार्म मल से लिप्त होने से कहा गया है। जब इन्हीं मलों के कारण स्वरूप वह संसार के आवागमन के चक्र खाता रहता है जिसके विषय में श्रीमालिनी विजय में कहा गया है कि इच्छा ज्ञान क्रिया शक्तियों से युक्त होकर जब शिव लीला विलास करते हैं तो वे नट की तरह अपने शुद्ध स्वरूप को भूल जाते हैं और संसारी बन जाते हैं जिसे अनेक धर्मात्मक भी कहा जाता है और इसी को ध्यान में रखते हुये क्षेमराज ने श्रीमालिनी विजय से कहा है कि संसारी होने के कारण मल को न छोड़ पाना है अर्थात् "मल की ही इच्छा रखना है"[3]।

1. शक्तिः सन्धाने शरीरोत्पत्तिः । - शि0सू0 - 19
2. शुद्धतत्व संधानाद्वा ऽपशुशक्तिः ।।- शि0सू0 - 16
3. मलमज्ञानमिच्छन्ति संसाराङ्कुरकारणम् ।। शि0सू0 विमर्शिनी पृ0 22-2

"इसी मन के कारण स्वरूप जीव अज्ञानात्मक होकर जगत् में बंधा रहता है। इनसे जो नाता तोड़ता है और गुरू दीक्षा या आणवोपाय शाक्तोपाय एवं शाम्भवोपाय का जो आश्रय लेकर या अनुपाय का आश्रय लेकर मुक्त होने की इच्छा रखते हैं वही मुक्ति के भाजक हैं और जीव दशा को छोड़कर शिव में समाहित हो जाते हैं।

भगवान श्री कृष्ण भी कहते हैं कि चित्त आत्मा का ही अंश है अर्थात् "मेरा अंश है"।[2] यही चित्त विज्ञान भैरव के अनुसार चिन्मात्र सार या "चिद्धर्म कहलाता है।"[3] और यह भगवान का लीला विलास रूप है इससे भिन्न कुछ भी नहीं जिसका समान धर्मी ज्ञान एवं सुस्पष्ट पशु एवं पशुपति दोनों संज्ञाओं का परिचय भी वेद विद्या करवाती है जिसमें कहा गया है कि "भगवान को जब इच्छा हुई की मैं प्रजावान बनूं अर्थात् प्रजा की रचना करूं तब उन्होंने इस सोमव्रत को धारण कर अपनी अम्बिकाओं अर्थात् इच्छा ज्ञान क्रियात्मक शक्तियों से जुड़कर अर्थात् इनका सम्भोग कर रचना की जिसके कारण वह पशु कहलाये।"[4] जिसे शास्त्र विस्मय भी कहते हैं और "यही ईश्वर जो कि अनन्त धर्मात्मक इच्छादि शक्तियों से युक्त है और पराक्रम, ज्ञान कर्तृत्व

---

1. इति अज्ञानाद्बध्यते लोकस्ततः सृष्टिश्च संहृतिः ।। - शि०सू०वि०, सू०-2 पृ० - 16

2. ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि च कर्षति ।। - गीता - 15/7

3. चिद्धर्मा सर्वभूतेषु । विशेषो नास्ति कुत्रचित् ।
अतश्च तन्मयं सर्वं भावयन् भवाईजजनः ।। - वि०भै०, श्लोक - 18

4. प्रजावन्तः सचमहि ।।
ॐ वयं सोमव्रत तव मन स्तनूषु बिभ्रतः । प्रजावन्तः सचमहि ।। ... रुद्रभागः आखुस्ते पशुः ।। एषते रुद्रभागः सहस्वस्त्राम्बिकया तज्जुषस्व स्वाहैषते रुद्रभागः आखुस्ते पशुः ।। - रुद्राष्टाध्यायी, अ० षष्ठ, श्लो० - 1-2

में भी सभी से श्रेष्ठ है उन्हें उसी वेद विद्या में पशुपति[1] अर्थात् विश्वोत्तीर्ण कह कर स्तुति की गई है इस प्रकार से जो अद्वयनय की जीव एवं ईश्वर की अभेदात्मक व्याख्या एवं स्वरूप काश्मीर शैव दर्शन शास्त्रों से उपलब्ध होता है वह वास्तव में गुह्य है ।

जिस परमेश्वर के दो स्वरूपों का पहले उल्लेख किया उनके विषय में जिन जिन धर्मावलम्बियों के मत हैं उन्हें स्पष्ट करते हुये क्षेमराज कहते हैं कि "भगवान के विश्वोत्तीर्ण है ऐसा तान्त्रिकों का मत है कुलाद्याम्नाय के मत में वे विश्वमय है तथा त्रिकदर्शन इन दोनों स्वरूपों को ग्रहण करता है । इस प्रकार क्षेमराज अपनी टिप्पणी में कहते हैं कि एक ही चिदात्मक भगवान के स्वातन्त्र्य से ये सभी भूमिकायें अवभासित हैं । इनमें पारस्परिक भेद, स्वातन्त्र्य शक्ति के प्रच्छादन और उन्मीलन के तारतम्य द्वारा घटित होता है, अतः इन सभी भूमिकाओं में व्याप्त एक ही आत्मा है । परिमित दृष्टि वाले लोग अंश और अंशांश रूप आत्मा की उन-उन भूमिकाओं में, आत्मा की इच्छा से अभिमति रखते हैं । जिससे देहादि भूमियों में पूर्व - पूर्व प्रमाताओं की व्याप्ति सारता के प्रसृत होने पर भी परशक्तिपात के बिना उक्त महाव्याप्ति को उपलब्ध नहीं कर पाते ।"[2]

---

1. ॐ उग्रं ललोहितेन मित्रं सौव्रत्येनरुद्रन्दौर्व्रत्येनेन्द्रम्प्रक्रीडेनमरुतो बलेन साद्धयान्प्रमुदा ।। भवस्य कण्ठयहंरुद्रस्यान्तः पार्श्व्यम्महादेव स्ययकृच्छर्वस्यवनिष्ठुः पशुपतेः पुरीतत् ।।-रु०अ०अ०-7, मं० - 3

2. विश्वमयम् - इति कुलाद्याम्नायः । विश्वोत्तीर्णम् - इति तान्त्रिकाः । विश्वोत्तीर्णम् विश्वमयञ्च इति त्रिकदर्शनविदः ।। एवं एकस्यैव चिदात्मनो भगवतः .....महाव्याप्ति परशक्तिपातं न लभन्ते ।।
-प्रत्य०भि० पृ० - 23/24

संसारी के विषय को स्पष्ट करते हुये लिखते हैं कि चिद्विभु शक्ति संकोच के कारण मलों से आवृत होकर संसारी बन जाता है।[1] "जब चिदात्मा परमेश्वर, अपने स्वातन्त्र्य से अभेद व्याप्ति को सङ्कुचित करके भेद व्याप्ति का आवलम्बन ग्रहण करते हैं तब उनकी इच्छादिक शक्तियां असंकुचित होने पर भी सकुचित प्रतीत होती हैं तभी ये मलों से आवृत होकर संसारी हो जाता है और अप्रतिहत स्वातन्त्र्य रूप इच्छा शक्ति, संकुचित होकर अपूर्णम्मन्यतात्मक आणवमल के नाम से कही जाती है। जब ज्ञान शक्ति क्रमशः संकुचित भेद दशा में सर्वज्ञता से अल्पज्ञत्व को प्राप्त करती है और अन्तःकरण तथा ज्ञानेन्द्रियता की प्राप्तिपूर्वक अत्यन्त संकोच को ग्रहण करती है तब उसको देह आदि भिन्न-भिन्न वेदों का विकास रूप मायीय मल है"।[2]

इसी प्रकार भेद दशा में क्रमशः जब "क्रिया शक्ति की सर्वकर्तृता शक्ति अल्पकर्तृता को प्राप्त होती है तथा कर्मेन्द्रिय संकोच को ग्रहण करके अत्यन्त परिमित हो जाती है तब उसे ही अशुभ कर्ममय कार्ममल कहा जाता है और सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व और व्यापकत्व शक्तियां जब सङ्कुचित होकर क्रमशः कला, विद्या, राग, काल, और नियति रूप से भासित होती हैं, तब इस प्रकार आत्मा शक्तियों से दरिद्र होकर संसारी कहा जाता है।"[3]

---

1. चिद्वच्छक्तिसंकोचात् मलावृतः संसारि: ।। -प्र०भि० हृदयम् - 9
2. यदा चिदात्मा परमेश्वरः स्वातन्त्र्यात् अभेदव्याप्तिं निजज्य भेदव्याप्तिम् अवलम्बते तदा तदीया इच्छादिशक्तयः "......मायीय मलम् ।।
3. क्रियाशक्ति क्रमेण ......संसारी उच्यते, स्वशक्ति विकासे तु शिव एव ।। - प्र० भि० हृदयम्, पृ० - 25-26

अपनी शक्ति की विकास दशा में तो वह शिव है परन्तु इसमें भी पशु ईश्वर के सदृश परन्तु सीमित पञ्चकृत्य करने में सामर्थ्य रखता है ।"[1] जो इस प्रकार से है - "सृष्टि, स्थिति, संहार विलय एवं अनुग्रह "[2] केवल यही प्रकार "पञ्चविध कृत्य के सम्बन्ध में नहीं है, इसकी अन्य गोपनीय विधि इस प्रकार है जिसे क्षेमराज निर्देश करते हुये कहते हैं -

आभासन, रक्ति, विमर्शन, बीजावस्थापन और विलपन भेद से वे पांच हैं और यही उसकी पञ्चविध कृत्य कारिता है जिसका अर्थ इस प्रकार से है - जिसे क्षेमराज ने महार्थ मञ्जरी से उल्लिखित कर बताया है कि महार्थ मञ्जरी की दृष्टि से सृष्टि आदि देवियों के विकास क्रम से जो जो आभासित होता है उसी की रचना की जाती है । रचित पदार्थ की जब स्थिर रूप से कुछ काल तक अनुरक्ति होती है तो स्थिति देवी के द्वारा उसकी स्थापना की जाती है । चमत्कार ही जिसका पर्याय है ऐसे विमर्शन के समय उसका संहार किया जाता है । उपसंहृत होता हुआ यह पदार्थ, जब हृदय में विचित्र आशङ्कादि संस्कारमयता को धारण करता है तब उदय होने वाले संसार के बीज भाव को प्राप्त होकर विलय पदवी को उपलब्ध करता है और जब वही संस्कार रूप से हृदय में स्थापित अथवा दूसरे रूप में अनुभूयमान अर्थ हठपाक क्रमात्मक अलंग्रास युक्ति द्वारा चिदग्नि भाव को प्राप्त होता है तभी पूर्णत्व को प्राप्त होने के कारण अनुगृहीत कहा जाता है । इस प्रकार की पञ्चविध कृत्यकारिता सबके निकट रहती है[3]।

1. तथापि तद्वत पञ्चकृत्यानि करोति ।। - 10
2. सृष्टिसंहारकर्तारं विलयस्थितिकारकम्।अनुग्रहकरं देवं प्रणतार्तिविनाशनम् ।।
3. आभासन, रक्ति, विमर्शन, बीजावस्थापन, विलापनतस्तानि ।।
-प्र०ह्०सू० -11, सव्याख्या , पृ० - 28/29

जगत्

जगत् विषयक काश्मीर शैव दर्शन का मत है कि यह वास्तव में भगवान शिव की जो कि सृष्टि, स्थिति, संहार, विलय एवं अनुग्रह[1] पञ्चकृत्यकारी हैं[2] उनकी अपनी रचना है। भगवान परमशिव की जब स्वेच्छा होती है और सुन्दर-सुन्दर कल्याण कारी व्रतों को धारण करते हैं, तब वे अपनी परमशक्ति के साथ लीला विलास करते तो एक अति सुन्दर जगत् की रचना होती है। इसी के कारण स्वरूप उन्हें विश्वमय नाम से भी जाना जाता है, क्योंकि भगवान के यूं तो बहुत से रूप हैं, परन्तु वास्तविक रूप से दो ही है एक विश्वोत्तीर्ण द्वितीय विश्वमय।

विश्वमय का जगत् स्वरूप है। जिसके अनुमोदनार्थ यजुर्वेद के रुद्राष्टाध्यायी के षष्ठ0 अध्याय में से स्पष्ट होता है कि जब "भगवान महादेव (परमशिव) को इच्छा हुई कि मैं प्रजावान् होऊं, तब उन्होंने सोमव्रत (कल्याणकारी व्रत) को धारण कर अपनी अम्बिका के मिल कर विश्व की रचना की अर्थात् प्रजा की रचना की। इसी रुद्र भाग रूपी प्रजा को पशु कहा जाता है और भगवान को अतिकृष्ट रूप से पति जिसे हर प्रकार से श्रेष्ठता प्राप्त है उसी को महादेव इत्यादि के रूप में इसी रुद्राष्टाध्यायी के सातवें अध्याय के मंत्र -2-3 स्वयं स्पष्ट करते हैं, जिसमें

---

1. सृष्टिसंहारकर्त्तारं विलयस्थितिकारकम् अनुग्रहकरं देवं प्रणतार्ति विनाशनम् ।।
   -स्वच्छन्द पट0 -1, श्लो0 - 3
2. नमः शिवाय सततं पञ्चकृत्यविधायिने चिदानन्दघनस्वात्मपरमार्थावभासिने
   - प्रत्य0 हृद0, श्लो0 - 1
3. ॐ वय षष्ठ0 सोमव्रते तव मनस्तनूषु बिभ्रतः। प्रजावन्तः सचेमहि ।।1।। एष ते रुद्रभागः सह स्वस्राम्बिकया तं जुषस्व स्वाहैष ते रुद्रभाग आखुस्ते पशुः ।।2।। अवरुद्रमदीमह्यवदेवं त्र्यम्बकम्। यथा नो वस्यसस्करद्यथा नः श्रेयसस्करद्यथा नो व्यवसाययात् ।।3।।
   - रुद्राष्टाध्यायी अ0 6

भगवान के बल पराक्रम क्रीड़ा एवं अनेक प्रकार के रूपों को वे कैसे धारण करते हैं बताया गया है और अन्त में उन्हें पति अर्थात् महादेव एवं पशुपति कहा गया है ।[1] अत: इस प्रकार से जो परमशिव ने जगत् की रचना की वे वास्तविक यथार्थ है क्योंकि भगवान को यदि सत्य माना जायेगा तब उसकी रचना अर्थात् जगत् को सत्य मानने में कदापि आपत्ति दिखाई नहीं देती है । इसलिए यह जगत् भगवान की लीला विलास अर्थात् क्रीडा रूप है और विश्वमय स्वरूप है जिसको इसी रुद्राष्टाध्यायी में आगे आ०वें अध्याय में बहुत ही सरल एवं स्पष्ट रूप से भगवान ने कहा है कि जो भी जड़ चेतनमय इस जगत् में दिखाई दे रही है या अदृश्य है वे सब मेरा ही रूप हैं सत्य, श्रद्धा, जगत्, धन, विश्व, महान् इत्यादि सब में मैं ही हूं ।

इसी तरह हम देखते हैं कि भगवान सर्वस्वतन्त्र स्वभाव से परिपूर्ण है और हर प्रकार की रचना करने की अपने में सामर्थ्य रखते हैं जिसको आगे चलकर काश्मीर शैव मतावलम्बियों ने आश्रय लेकर अपने शास्त्रों की रचना की ये शास्त्र लगभग सभी जगत् विषयक एक जैसा मत रखते हैं । सोमानन्द ने शिव के इसी रूप को दर्शाते हुये कहा है कि वही एक तत्व है जो विश्वगत अनन्त वैचित्र्य रूप में स्फुरित हो रहा है ।[2]

---

1. ॐ अग्नि ह्0 हृदयेनाशनिं ह्0 हृदयाग्रेणपशुपतिं कृत्स्न हृदये न भवंयकना । शर्वम्मतस्नाभ्यामीशानमन्नयुनत्महादेवमन्त: पर्शव्येनोग्रदेवंवनिष्ठहुना वसिष्ठहनु: शिङ्गीनिकोश्याभ्याम् ।। 2 ।। उग्रंल्लोहितेन मित्र 90 सौव्रत्येन रुद्रंदौर्वत्येनेन्द्रम्प्रक्रीडेनमरुतो बलेनसाद्ध्यान्प्रमुद ।।भवस्य कण्ठय ह्0 रुद्रस्यान्त ह्0 पार्श्वव्यम्महादेवस्ययचकृच्छर्वस्य0वनिष्ठु: पशुपते:ह्0 पुरीतत् ।। 3।। रुद्राष्टाध्यायी अ0 -7
हरि: ॐ वाजश्च । मे प्रसवश्च मे इत्यादि प्रथम मन्त्र से लेकर अध्याय पर्यन्त अर्थात । से 29 मन्त्र पर्यन्त स्पष्ट है ।। रुद्राष्टाध्यायी अ0 अष्टम ।।
2. आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृतचिद्विभु: । -शिव दृष्टि0आ0-1, श्लो0 - 2
अनिरुद्धेच्छाप्रसर: प्रसरद्दृक्क्रिया: ।।

जिनमें कहा गया है कि भगवान अपने पांच मुखों से इस जगत् की रचना करते हैं जिनके क्रमानुसार मन्त्र इस प्रकार से हैं – ईशान से ईश्वर का मस्तक, तत्पु० से मुख, अघोर० से हृदय, वाम० से गुह्य एवं सद्यो० से पाद बना।[1]

इसी प्रकार से शिव की अनन्त शक्तियाँ है, किन्तु उनमें पांच "प्रकाश, रूप चित्त शक्ति, स्वातन्त्र्य रूप आनन्दशक्ति, उपभोगात्मक चमत्कार रूप इच्छा शक्ति, आमर्शात्मक (वेद्य के प्रति उन्मुखता स्वरूप) ज्ञान शक्ति और सर्व कार योगित्व रूप क्रियाशक्ति "[2] मुख्य हैं।

सोमानन्द लिखते हैं कि –"चिदानन्दघन[3] परम शिव विश्वक्रीडा के प्रारम्भ में, इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया इन तीनों शक्तियों द्वारा शिव तत्व से लेकर पृथिवी पर्यन्त समस्त सृष्टि चक्र की रचना करते हैं। सार्वभौम नृप की लीला वश पदाति सम्बन्धी चेष्टाओं के समान वे प्रभु आनन्द से उच्छलित नाना प्रकार

---

1. ऊँ ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वभूतानाम् । ब्रह्माधिपतिर्ब्रह्मणोधिपति ब्रह्मा शिवो मेऽस्तु शिवोम् । 9 । ऊँ तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि तन्नोरुद्रः प्रचोदयात् ।। 8 ।। अघोरेभ्योथघोरेभ्योघोर घोरतरेभ्यः सर्वेभ्यः सर्वशर्वेभ्यो नमस्तेऽस्तु रुद्ररूपेभ्यः ।। 7 ।। वामदेवाय नमो ज्येष्ठाय नमः श्रेष्ठायनमो रुद्रायनमःकालायनम कलविकरणाय नमो बलविकरणायनमो बलायनमो बलप्रमथनाय नमः ।। 6 ।। ऊँ सद्योजातं प्रपद्यामि सद्यो जातायवै नमो नमः । भवे भवे नाति भवे भवस्वमांभवोद्भवाय नमः ।। 5 ।। – रुद्राष्टाध्यायी, स्वस्ति प्रार्थना मन्त्रः, पृ० – 121-122
2. प्रकाशरूपताः चिच्छक्तिः, स्वातन्त्र्यमानन्दशक्तिः, तच्चमत्कारेच्छाशक्तिः, आमर्शात्मकज्ञान शक्तिः, (आमर्शश्चईषत्तया वेद्योन्मुखता, सर्वाकारयोगित्वं क्रियाशक्तिः । –तन्त्रसार, आ० – 1
3. क्रीडन् करोति पादातधर्मस्तिद्धर्म यथा नृपःसार्वभौमःप्रभावामोदभावितः ।। क्रीडत्येवं तथा तथा ।। इत्थं शिवो बोधमयः धर्ति: तथा प्रभुः प्रमोदात्मा क्रीडत्येवं तथा तथा ।। इत्थं शिवो बोधमयः स एवं परानिर्वृतिः । सैव चोन्मुखतां याति से च्छाज्ञान क्रियात्मताम् ।। सैव शाक्त शरीरादिनारकान्तं हि भूतता । प्रसूयते स्वचिद्रूपप्रमुखं पार्थिवान्तिकम् ।। पदार्थत्वेन भगवान सर्वत्रैव तदात्मता । स्वशिव त्वमिवाजानन् पश्चात्मव्यपदेशतः ।। –शिवदृष्टि, आ०–1, श्लो०–37–41 एवं भेदात्मकं नित्यं शिव तत्वमनन्तकम् । तथा तस्य व्यवस्थानान्नानारूपेऽपि सत्यता ।।– वही–, श्लो०–49

के भूत भेदों में व्याप्त होकर क्रीडा करते हैं। अपने शिवत्व को भूले हुये से वे पशु प्रमाताओं और नील सुखादि प्रमेयों का भेद अङ्गीकार करते हैं। इस प्रकार भेद से अभिन्न रूप से भासमान शिव रूप सत्यता का बोध परमार्थतः कभी भी नहीं होता। व्यवहार दशा[1] में स्वरूप की विस्मृति तथा सुख दुःखादि अनेक संवेदनों से समाकुल, समल संकुचित चित्त पशु (जीव) को स्वरूपाभिज्ञान की आवश्यकता होती है, जिसके बिना वह अपने पूर्व स्वातन्त्र्य या आनन्द से रहित होकर कृपण बना रहता है। इस कार्पण्य को दूर करना ही का० शैव दर्शन का प्रयोजन रहा है तथा विज्ञान भैरव का भी प्रयोजन रहा है। जिसमें कहा गया है कि यह सारा जगत् शिवमय ही है यहां वहां भी आपकी दृष्टि पड़ रही है उसे दृढ़तापूर्वक भैरव मय स्वीकार करो जिससे सतत भगवान का परम भक्त शिवमय ही हो जाता है अर्थात् शिव स्वरूप हो जाता है।[2] अतः इस प्रकार से पता चलता है कि जगत् शिव का विश्वमय रूप है और विश्वोत्तीर्ण निष्कल रूप है। इस जगत् के साथ भगवान परम शिव का स्वर्ण एवं स्वर्णनिर्मित कुण्डल जैसा सम्बन्ध है। जिसके विषय में शिव दृष्टि एवं स्तवचिन्तामणि में भी स्पष्ट किया गया है कि विश्वोत्तीर्ण विश्वमय[3], चिदानन्दघन परमशिव इस दर्शन शास्त्र के परमप्रतिपाद्य तत्व है। चिति, आत्मा, शिव, महेश्वर ये एक ही तत्व के नाम हैं। समस्त पदार्थों में विद्यमान आत्मा ही शिव है परमार्थतः बाह्य जगत् में ग्राह्य एवं ग्राहकादि भेद नहीं है विश्वगत अनन्त वैचित्र्य के रूप में वही एक शिवतत्व स्फुरित हो रहा है।

1.
२. किन्तु मोहवशादस्मिन् दृष्टेऽप्यनुपलक्षिते।
शक्त्याविष्करणेनेयं प्रत्यभिज्ञोपदर्श्यते ।।-ई०प्र०कारि० 1-3
3. सर्वत्रभैरवोभावः सामान्येष्वपि गोचरे: न च तद्व्यतिरेकेण परोऽस्तीत्यद्वय गतिः ।। - वि०भै० श्लो०-121, धारणा-18
निरुपादान संभारमभित्तावेव तन्वते। जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने।। स्तवचिन्तामणौ।। इह हि सर्वत्र अप्रतिहतशक्तिः परमेश्वरएव तथा तथा भवति, न तु अन्यः कश्चित् परमार्थतः अस्तीति। शि-प्र०वि० 1/1/7

इस जगत् का विधान ईश्वर ने मार्मिक चित्र रेखाओं को खींच कर चित्रित किया है जिसकी तुलना इन्द्रजाल के समान जादूगर की बनाई गई नगरी एवं उसमें बैठे हुए जादूगरों से अस्तित्व हीन मायामय बाग-बगीचे, खिलौने जो कि अनजान दर्शकों का मन मोह लेते हैं ऐसे ही यह जगत् है और साधक के लिए उपदेश किया है कि इससे उत्तीर्ण होने के लिए इनसे लिप्त न हो इन्हें मिथ्या समझता हुआ अपने मनोबल को सुदृढ़ बना ले। इसे जीत कर परम शिवानन्द को प्राप्त होता है।

दूसरे पक्ष का निरूपण करते हुये कहते हैं कि यह जगत् इन्द्रजाल की नगरी तो है परन्तु वास्तविक रूप से यह भी सनातन ब्रह्म का ही एक रूप है और इसमें भी शिव ही सर्वत्र व्याप्त है क्योंकि वही नित्य एवं व्यापक है तथा अखिलाधिपति है जब वह परमेश्वर अखिलाधिपति है तो यह जगत् उनसे परे नहीं हो सकता है अतः इसे शिव स्वरूप समझता हुआ निष्काम भाव से विचरण करे और अपने मन को दृढ़ एवं विश्वसनीय बनाता हुआ विश्वोत्तीर्ण करने का हर सम्भव प्रयास करे जिसके लिए साधक के लिए प्रस्तुत ग्रन्थ में 112 धारणाओं को कूट-कूट कर भरा है।

तीसरे पक्ष को रूपान्तरित करतें हुये बताया गया है कि यह नगरी मायामयी विमोहिनी सबको आहिस्ता-आहिस्ता अपने प्रति आकर्षित करती है इसका निर्माण माया की कलाओं से हुआ है जबकि माया भी परमेश्वर की ही इच्छा शक्ति ज्ञान एवं क्रियात्मक शक्ति है जिससे ईश्वर जगत् की रचना करते हैं। अतः मायामयी नगरी होने पर भी इसे माया का रूप न जानकर, शिव का रूप

Foot note, PTO

जानकर साधना से मनोबल ऊँचा करते हुये भैरव स्वरूप होने का हर सम्भव प्रयास करना ही जगत् विजयी होना कहा है । बातें तो दो ही हो सकती हैं -

1. जो भी मनुष्य जन्म ग्रहण करता है, वह अपने कार्ममल के दोषों से ग्रहण करता है और जो भी मरता है वह भी उन्हीं दोषों के फलस्वरूप मृत्यु का ग्रास बनता है।[5] यह कार्ममल निष्काम न होकर सकाम माना गया है तभी तो इस ग्रन्थ में सकल को गौण एवं निष्कल को उत्तम बताया है, सविकल्प को छोड़कर निर्विकल्प की आराधना करते हुये विश्वोत्तीर्ण करना चाहिये । क्योंकि सर्वत्र निर्विकल्प स्थित है । इस जगत् में काल और जगत् भी दो ही योद्धा हैं एक जन्म से पूर्व ही स्थित है जो जीव को निगलने के लिए मुख खोलकर बैठा हुआ है और दूसरा जीव अभी जन्म लेकर इस पर विजयाभिलाषी बनना चाहता है । जो मनुष्य साधना के पल्लवित पुष्पित हो जाते हैं वह विश्व विजयी कहलाते हैं उन्हें विश्व विजयी कहलाते हैं उन्हें विश्व मार नहीं सकता वह अमर हो जाते हैं और जो माया नगरी की चपेट में आ जाते हैं, उन्हीं को जगत् जीत लेता है और मार कर उनके चिह्न भी मिटा देता है यही विज्ञान भैरव का जगत् है । जो वास्तव में नाशवान् तत्वों से निर्मित वस्तुतः सारहीन एवं नाशवान ही है । इससे कभी भी लिप्त नहीं होना चाहिये । सर्वत्र निराकार का ही निवास है ऐसा समझकर जानकर दृढ मनोबल वाला परमशान्ति को प्राप्त होता है।[5]

---

1. कुहनेन प्रयोगेण सद्य एव मृगेक्षणे । समुदेति महानन्दो येन तत्वं प्रकाशते ॥
2. इन्द्रजालमयं विश्वं व्यस्तं वा चित्रकर्मवत् । भ्रमद्वा ध्यायतः सर्वं पश्यतश्च सुखोद्गमः ॥ - वि० भै० - 65, 100
3. माया विमोहिनी नाम कलायाः कलनं स्थितम् । इत्यादिधर्म तत्वानां कलयन्न पृथग् भवेत् ॥ - वि० भै० - 93
4. मलमज्ञानमिच्छन्ति संसाराङ्कुरकारणम् ॥ मालिनी विजय ॥ मा० वि०
5. अज्ञानाद्बध्यते लोकस्ततः सृष्टिश्च संहृतिः [illegible] ॥ नित्यो विभुर्निराधारो व्यापकश्चाखि[illegible] ॥ [illegible] ॥ (29) अतत्वमिन्द्रजालाभमिदं [illegible] ॥ (30) ॥ [illegible]

बन्ध (पाश)

शैव दर्शन पति पशु एवं पाश तीनों को प्रकाशित करता है जिसमें पति एवं पशु का निरूपण हो चुका अब क्रमशः पाश के संदर्भ में कहते हैं। पाश चार प्रकार के हैं - मल , कर्म , माया , रोध शक्ति ॥[1]

मल - जो आवरण अर्थात् अच्छी तरह (प्र) आत्मा की स्वाभाविक दृक् (ज्ञान) और क्रिया शक्तियों को आवृत करे (आच्छादित करे) उसे प्रवृत्ति या अपवित्र मल कहते हैं।

साथ ही साथ जो स्वतन्त्रता पूर्वक शासन करे वह ईश है अर्थात् शासक मल ही प्रावृतीश है। कहा भी है जो एक होने पर भी अनेक शक्तियों से युक्त है तथा पुरुष के ज्ञान और क्रिया को ढकने वाला है वही मल है इसका ज्ञान तुष-तण्डुल के सम्बन्ध की तुलना से करें या आच्छादक और आच्छाद्य का सम्बन्ध या ताम्र - धातु में स्थित कालिका की तुलना से कर सकते हैं।[2]

बल का अर्थ रोध शक्ति है। यह शिव शक्ति (वस्तु की अपनी सामर्थ्य जैसे अग्नि में दहन शक्ति, जल में शैत्योत्पादनशक्ति आदि) पाश में अधिष्ठित होकर पुरुष (आत्मा) के स्वरूप को छिपा देती है, इसलिए इसे औपचारिक

---

1. अथ पाशपदार्थः कथ्यते। पाशश्चतुर्विधः मलकर्ममायारोधशक्ति भेदात्। - स०द०सं०, पृ० - 294

2. अथ यार्थः प्रावृणोति प्रकर्षेणाच्छादयत्यात्मनः स्वाभाविकयौ दृक्क्रिये इति प्रावृतः स चासौ ईष्टेस्वातन्त्र्येणेति ईशः। तदुक्तम् - प्रावृतीशो बलं कर्म मलः। स च ईष्टेस्वातन्त्र्येणेति ईशः पुंसः। एकोह्यनेकशक्तिर्दृक्क्रिययोश्छादको मलः पुंसः। तुषतण्डुलवज्ज्ञेयस्ताम्राश्रितकालिकावद्वा ॥- इति ।-वही-, पृ० - 295

(आलंकारिक) विधा से पाश मानते हैं। कहा गया है - इनमें मैं सर्वश्रेष्ठ शक्ति हूं और सबों पर दया करने वाली शिवा (कल्याणमयी) हूं। धर्म के अनुसार चलने के कारण उसे पाश कहते हैं - [1] (ज्ञान और क्रिया की शक्तियों को ढक देने (रोक देने) का सामर्थ्य ही रोध शक्ति है जो मल में स्थित है।

कर्म - " फल के इच्छुक व्यक्ति जो कुछ करें उसे कर्म कहते हैं जिसमें धर्म और अधर्म दोनों ही आते हैं। बीज और अंकुर के रूप में यह अनादि काल से चला आ रहा है। श्रीमत किरण में कहा गया है कि जिस प्रकार मल अनादि है उसी प्रकार जीव के जो थोड़े से कर्म हैं वे भी अनादि हैं। यदि कर्मों को अनादि सिद्ध नहीं करेंगे तो कर्मों की विचित्रता कैसे सिद्ध कर सकेंगे "। [2]

"प्रलयकाल में शक्ति के रूप में जिसमें सकल विश्व परिमित रहता है तथा सृष्टिकाल मे अभिव्यक्ति प्राप्त करता है वही माया है जैसे श्रीमत सौरभेय में कहा गया है कि महाप्रलय होने पर शक्ति के रूप में सारे कार्य उसी में विलीन हो जाते हैं और विकृति दशा में (सृष्टि में) कालादि कार्य के द्वारा पुनः अभिव्यक्त हो जाते हैं उसे ही माया कहते हैं।" [3]

---

1. बलरोधशक्तिः। अस्याः शिवशक्तेः पाशाधिष्ठानेन पुरुषतिरोधायकत्वादुपचारेण पाशत्वम्। तदुक्तम् -
तासामहं वरा शक्तिः सर्वानुग्रहकारिका शिवा धर्मानुवर्तनादेव पाश इत्युपचर्यते।
- सर्व द० सं०, पृ० - 294
2. क्रियते फलार्थिभिरिति कर्म धर्माधर्मात्मकं बीजाङ्कुरवत्प्रवाह रूपेणानादि।
यथोक्तम् श्रीमत्किरणे -
यथानादिर्मलस्तस्य कर्माल्पकमनादिकम्।
यद्यनादिन संसिद्धं वैचित्र्यं केनहेतुना।। - वही-, पृ० -
3. मात्यस्यां शक्त्यात्मना प्रलये सर्वं जगत्सृष्टौ व्यक्तिं यातीति माया।
यथोक्तं श्रीमत् सौरभेये -
शक्तिरूपेण कार्याणि तल्लीनानि महाक्षये।
विकृतौ व्यक्तिमायाति सा कार्येण कलादिना।। - वही-, पृ० -296

इस प्रकार से हमें शैव दर्शन शास्त्रों से चतुर्विध पाश का पाठ मिलता है,[1] जो कि संक्षेप से स्पष्ट किया गया है जबकि प्रस्तुत शोध पत्र में विज्ञान भैरव के आधार पर जिस प्रकार के पाश को प्रस्तुत किया गया है वह इन सबसे लगभग भिन्न है क्योंकि ऐसा सुस्पष्ट चतुर्विधात्मक पाश प्रणाली यहाँ पर दृष्ट नहीं है। इस विज्ञान भैरव में पाश का कारण स्वयं को न समझ पाना है एवं भेद भाव मय जगत् में पड़े रहना ही पाश का कारण माना है जैसा कि इसी ग्रन्थ से स्पष्ट होता है जब भैरवी, भैरव से प्रश्न करती है कि परमतत्व विषयक मेरे संशय को कृपया काट डालिये।[2]

प्रत्युत्तर में भगवान भैरव उत्तर देते हुये कहते हैं कि "जो कुछ भी भैरव सकल रूप कहा है वह असार रूप इन्द्रजाल मय है ऐसा ही है जैसे स्वप्न में देखा हुआ गन्धर्वकार ये जो जितना भी क्रियाआडम्बर है यही अविमुक्ति का कारण है और ये जितने भी स्वरूप शब्दराशीमय इत्यादि हैं यह भी मोह से दूर करने में सक्षम नहीं है यह सब अप्रबुद्ध पाश से बंधे हुये हैं उनकी कल्पना स्वरूप हैं जिनकी बुद्धि शक्तिपात से अच्छी तरह शुद्ध नहीं हुई है वह ही मातृ-मोदक के समान इन में फंसे हुये हैं। ये कोई भी इस प्रकार के पूजा, पाठ, तर्पण से उस परमतत्व को नहीं पा सकते हैं।" उसे केवल वही पा सकते हैं "जो विकल्प से उन्मुक्त हैं और निष्कल[3]

---

1. श्रीमृगेन्द्रेऽपि – प्राकृतीशौ बलं कर्म माया कार्यं चतुर्विधम्।
पाश जालं समासेन धर्मा नाम्नैव कीर्तिताः॥
–सं०द०सं०, पृ० – 294

2. –वि०भै०, श्लो०-7 पूर्वार्द्ध

3. –वही– श्लो० – 8 पूर्वार्द्ध

प्रसादं कुरुषे नाथ निःशेषं छिन्धिसंशयम्॥
यात्किञ्चित् सकलं रूप भैरवस्यप्रकीर्त्तितम्॥
तदसारतया देवि विज्ञेयं शक्रजालवत्।
माया स्वप्नोपमं चैव गन्धर्वनगरभ्रमम्।
ध्यानार्थंभ्रान्तबुद्धीनां क्रियाडम्बर वर्तिनाम्।
केवलं वर्णितं पुंसां विकल्पनिहतात्मनाम्॥ ॥ 11
तत्वेता च नगतमाऽसौ शब्दराशिर्न भैरवः॥ 12 13
2. निस्तरङ्गरूपकः प्रवृत्त्यर्थमुदाहृतम्॥ अपि दूषिता शक्ति...

निर्विकार स्वरूप को अपने अन्तःकरण में पाकर अपने - अपने अनुभवों के परमानन्द में डूबकर उससे भराचित्त है क्योंकि उसका स्वरूप परम शुद्ध निर्मल है और विश्व को पूरित करने वाला है फिर उसके लिए लौकिक कर्म कैसा यह पाखण्ड कैसा । इस प्रकार वर्णन करते हुये अन्ततः कहा गया है कि शक्ति और शक्तिमान अभेद रूप से हमेशा सर्वत्र विराजमान रहते हैं धर्म धर्मिका इन दोनों परा एवं परमात्मा का परस्पर सम्बन्ध है जैसे वह्नि एवं उसकी दाहिका शक्ति परस्पर है ऐसे ही इन पाशों का नाश करने के लिए केवल ज्ञान सत्ता की बड़ी आवश्यकता है । इससे उस परम तत्व को जानकर पाश नष्ट हो जाते हैं और साधक शिवमय हो जाता है ।"[1]

<u>मोक्षोपाय</u>

विज्ञान भैरव के मतानुसार मोक्षोपाय बहुत सरल एवं सुलभ्य है । इस उपाय को पाने के लिए इस शास्त्र ने कम से कम एवं अधिकाधिक एक सौ बारह धारणाओं के माध्यम से मोक्षोपाय को सुरुचिपूर्ण ढंग से लिपिबद्ध किया है ।[2] जिनकी प्राप्ति से साधक "अजर अमरता को प्राप्त होता है और सिद्ध योगिनियों के प्राप्ति एवं सभी सिद्धियों को भोगते हुये मोक्ष को प्राप्त होता है "।[3]

---

1. अन्तः स्वानुभवानन्दा विकल्पोन्मुक्तगोचरा ।
याऽवस्था भरिताकारा भैरवि भैरवमात्मनः ॥ 15
तद्वपुस्तत्वतोज्ञेयं विमलं विश्वपूर्णम् । एवं विधे परे तत्वे कः पूज्यः
कश्च तृप्यति ॥ शक्तिशक्तिमतोर्यद्वदभेदः सर्वदा स्थितः ।
अतस्तद्धर्मधर्मित्वात् पराशक्तिः परात्मनः ॥ न वह्ने दाहिकाशक्तिर्व्यति
रिक्ता विभाव्यते । केवलं ज्ञान सत्तायां प्रारम्भोऽयं प्रवेशने ॥–18–19
ज्ञायते दिग्विभागादितद्वच्छक्त्या शिवः प्रिये ॥ 21

2. निस्तरङ्गोपदेशानां ....ज्ञानविज्जनः ॥ –वि०भै० 133

3. अजरामरतामेति..........सर्वमेलापकाधिपः ॥ – वही– 138

यह उपाय अत्यन्त सरल है इन उपाय पर चलने वाले साधकों को किसी प्रकार की भी कठिनाई नहीं आ सकती है । क्योंकि इन उपायों का अनुसरण करने वालों के लिए विशेष प्रधान रूप भी साधना मार्ग जो प्रदर्शित किया है वह भगवान का विश्वमय स्वरूप है अर्थात् "कुछ भी करो कुछ भी खाओ, पिओ भोगो उन सब में भगवान का प्रसाद समझ कर उसी का दिया हुआ समझने वालों को जो आध्यात्मिक क्षेत्र से जुड़े हुये एवं मोक्ष पाना चाहते हैं मार्ग प्रशस्त किया है ।"[1] जिनका आगे एक सौ बारह धारणाओं के रूप में प्रदर्शित किया गया है जिन पर चलते हुये "साधक जीवन्मुक्त हो जाता है" ।[2]

धारणा - 1

हे भैरवि ! देहधारियों के शरीरान्तर्गत जो प्राण वायु की स्थिति है इस प्रकार से है - द्वादशान्त ऊपर मूर्द्धा स्थित प्राण वायु का निवास रहता है और हृदयान्त द्वादशान्त पर्यन्त अपान वायु के रूप में पशु प्रमाता जीव का निवास निश्चित है । प्राण को विसर्ग कहते हैं अर्थात् हकार कहते हैं और अपान वायु को जीवात्मा कहा है । जब जीव इसी प्राणापान को हृदयाकाश द्वादशान्त में भर लेता है तब उसी पूर्ण रूप से भैरव स्थिति होती है । आगे व्याख्याकार बतलाते हैं कि प्राणापान की स्वाभाविक उच्चारण परा देवी का उदाहरण है, स्पन्दन

---

1. जाग्ध्यपानकृतोल्लासरसानन्दाविजृम्भणात् ।
भावयेत भरितावस्थां महानन्दस्ततो भवेत् ।। - वि0भै0 71

2. जीवन्नपि विमुक्तोऽसौ कुर्वन्नपि न लिप्यते ।। - वही - श्लो0 13 पूर्वार्द्ध

है। परा देवी ही स्वयं उसका उच्चारण करती रहती है, जो कि प्राणापान रूप में परिवर्तित होती रहती है। इस प्रकार की प्राणापान गति वास्तव में पशुप्रमाता की मानी गया है।

"प्राणों का सम्बन्ध, नैसर्गिक माना गया है"[1] अर्थात् स्वाभाविक है अन्दर जाना बाहर आना इत्यादि"

धारणा - 2

प्राणवायु अन्तर और बाहिर दोनों ही ओर द्वादश अंगुल लम्बा चलता, बरतता रहता है। यह प्राणवायु बाहिर निकलकर भी द्वादश अंगुल लम्बा होता है और आभ्यन्तर्गत हृदयान्त भी द्वादश अंगुल प्रमाण से लम्बा माना गया है। इस भैरव के शरीर में भैरवी के द्वारा ही उस शरीर की व्यंजना है अर्थात् यही प्राणापान रूप शक्ति ही शिव के शरीर की शक्ति है, क्योंकि प्राणापान वायु की गति के बिना शरीर शव माना गया है।

इसी को पातंजल योगदर्शन में श्वास और प्रश्वास कहा है जिसकी गति का भेदन साधक के लिए आवश्यक है।[2] अर्थात् प्राणापान को इकट्ठा करना मन्थन करना है। तभी योगी परम लाभ प्राप्त कर सकता है[3]। तभी सांख्य

---

1. ऊर्ध्वे प्राणो ह्यधो जीवः विसर्गात्मा परोच्चरेत्।
उत्पत्ति द्वितीय स्थाने भरणाद् भरिता स्थिति॥

2. नैसर्गिको प्राणसम्बन्धः॥ शि०सू०पा०-3, सू० - 43

मरुतोऽन्तर्बहिर्वापि वियदयुग्मानि विवर्तनात्।
भैरव्या भैरवस्येत्थं भैरवि व्यज्यते वपुः॥

तस्मिन्सति श्वास प्रश्वासयो गतिविच्छेदः प्राणायामः॥-पा०यो०द०, पा०-2, सू०-49

3. [illegible]

दर्शन में श्वास प्रश्वास के जाल को तोड़ना चाहिये कहा है । यही प्राणायाम है और स्वाभाविक प्राणायाम है, क्योंकि इसमें कुम्भक की स्थिति पूर्णतः प्रदर्शित नहीं है जो कि आने वाले सूत्र में प्रदर्शित है ।

<u>धारणा - 3</u>

प्राणापान दोनों को रोक कर सुषुम्ना का विकास हो जाने पर मनुष्य निर्विकल्प आकाश की तरह अन्तःकरणस्थ भी आकाश को प्रकाशित कर लेता है जैसे कि इसी धारणा में कहा है कि - न ही प्राणबहिर्गमन करें और न अपान अन्दर ही आये इसके लिए प्राणवायु को प्राणायाम में बतलाये गये कुम्भक के माध्यम से विकसित करना चाहिये । इसके कुम्भक के माध्यम से प्राणापान के मध्यस्थ इड़ा पिंगला के मध्यस्थ सुषुम्ना में विकसित करके लाभ प्राप्त कर लेने पर साधक निर्विकल्प उस निर्विकल्प गरुड़ की तरह ही निर्विकल्पकभैरव स्वरूप को प्राप्त कर लेता है ।[1] इसी के विषय में कक्ष्या स्तोत्र का मत है कि ऐसी दशा में योगी सब शक्ति समूहों को अपने अपने विषयों में लगा देता है उन पर आधिपत्य रखते हुये वह प्रसन्नचित्त के समान हो जाता है तब ऐसी दशा में उसकी कुगति कैसे हो सकती है ।[2]

---

1. न व्रजेन्न विशेच्छक्तिर्मरुद्रूपा विकासिते ।
निर्विकल्पतया मध्ये तया भैरवरूपता ।।- विज्ञान भैरव, श्लो0 - 26

2. तत्र स्थितः तु भावेन स्वभावमवलोकयन् ।
स्मयमान इवास्ते यस्तस्येयं कुगतिः कुतः ।।-कक्ष्यास्तोत्र, श्लो0 - 11

ऐसी अवस्था को प्रकाशित करते हुए स्पन्द कारिका कहती है कि सदा अन्तर ही देखने के लक्ष्य को आधार कर जो आंख खोलकर बाहिर देखता हुआ भी देखता है और ऐसी स्थिति को प्राप्त कर लेने पर उसका निमेष उन्मेष पलक खुलना बन्द होना समाप्त हो जाता है, इसी को सभी तन्त्र शास्त्रों में रहस्यात्मक भैरव मुद्रा भी कहा है और यह कुम्भक स्थिति को प्राप्त हुये मध्य विकासात्मक योगी को ही प्राप्त होता है।[1] क्योंकि शिव सूत्रों में भी प्राणापान के मध्य को ही श्रेष्ठ माना गया है।[2]

जैसा कि श्री अभिनवगुप्त के परम शिष्य भी इसी के लाभ से चिदानन्द लाभ मानते हैं।[3]

इसी के विषय में शिव सूत्र विमर्शिनी में श्री कालिका क्रम के उदाहरण से बतलाया गया है कि उसके लाभ से योगी बोध स्वरूप हो जाता है, सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान्, सिद्धि आदियों से युक्त हो जाता है।[4]

---

1. अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टि निमेषोन्मेषवर्जितः । इयं सा भैरवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥-स्प0का0
2. नासिकान्तर्मध्यसंयमात्, किमत्र, सव्यापसव्यसौषुम्नेषु ॥ -शि0सू0 भा0 -3, सू0 - 45
3. मध्यविकासाच्चिदानन्दलाभः ॥ - प्र0भि0हृदयम्, सू0 - 17
4. तस्य देवातिदेवस्य परबोधस्वरूपिणः । विमर्शः परमा शक्तिः सर्वज्ञा ज्ञान शालिनी ॥श्री कालिका क्रम द्रष्टव्य ग्रन्थ शिवसूत्र , पृ0 - 228

धारणा – 4

कुम्भक रेचक और पूरक रूप प्राणायाम का नित्य निरन्तर यदि अभ्यास होवे तो निश्चय ही मुख्य शक्ति सुषुम्ना का विकास हो जाता है और साधक योगीजन इसको प्राप्त करने के पश्चात् परम शान्ति को प्राप्त कर उस प्रकाशक प्रभु भैरव के स्वरूप को अपने अन्दर प्रकाशित कर लेता है और भैरवाकार हो जाता है।[1]

इसप्रकार धारणा देते हुये अभिनव गुप्त ने भी कहा है कि सम्पूर्ण योगियों के मार्ग [illegible] आदि, जलौरादि एवं अन्य इवनादि के होम सामग्री को खा जाने वाले जो महा भैरव है, योगी उन महाभैरव को हृदयाकाश रूपी महान कुण्ड में भैरवाग्नि प्रज्वलित आनन्द से परमगति को प्राप्त कर लेता है।[2]

धारणा – 5

आमूलात् = हृदयाकाश अथवा जन्माग्र से लेकर व्यापिनी पर्यन्त सुषुम्ना जागृत हुई कुण्डलिनी का क्रमशः ऊपर की ओर गतिमान होती हुई सूक्ष्मातिसूक्ष्म किरण का सूक्ष्मातिसूक्ष्म आभास करे, उस प्रकाश की प्रस्फुटित होती हुई किरण का चिन्तन करते हुये जब वह व्यापिनी पर्यन्त पहुँच जाती है अर्थात् ऐसा आभास

---

1. कुम्भिका रेचिका वाऽपि पूरिका वायदा भवेत् ।
तदन्ते शान्त नामासौ शक्त्याः शान्त प्रकाशते ।। 27 ।।

2. लोकयानारोणसंजोभान्महाभैरव हव्यभुक् ।
हृदयाख्ये महाकुण्डे जाज्वलयन् स्फीततां व्रजेत् ।। तं0 लो0 –
नेत्र तंत्र उद्योत भा – 1, श्लो0–200 भा0–3, आ0–5, पृ0– 40।

प्रतीति होने लगती है, तब निश्चित ही हृदयाकाश में निराधार निराकार परम भैरव का उदय हो जाता है । प्राणायाम करने वाले योगाभ्यास से मूलाधार में सुप्त कुण्डलिनी जो कि हलाकृति वाली है, उसका छेदन करके ऊपर की ओर ब्रह्मरन्ध्र द्वादशान्त तक लाने में सामर्थ्य रखते हैं और उन्हें ये आभास होता है कि कुण्डलिनी अमुकामुक स्थान की ओर गतिमान है । यही वास्तविक प्राणायाम की सफलता भी है । अन्यथा प्राणायाम शारीरिक पीड़ा ही होगा । अभिनवगुप्त ने भी कहा है ।[1]

धारणा - 6

विद्युद्रूपिणी कुण्डलिनी क्रम से जन्माग्र से लेकर आकाश बिजली के चमकने की तरह ध्वनि नाद करती हुई ऊपर को गमन करती है और ऊर्ध्व मुष्टित्रय = द्वादशान्त स्थान तक जब पहुंच जाती है, तभी अन्त: इसके अन्तिम लक्ष्य की पूर्ति होने पर योगी के हृदयाकाश (अन्ते) अन्तःकरण में भैरव स्वरूपात्मक महाप्रकाश का उदय होता है ।[2]

1\. आमूलात् किरणाभासां सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरात्मिकाम् ।
चिन्तयेत् तां द्विषट्कान्ते शाम्यन्तीं भैरवोदयः ।। वि०भै०, श्लो0-28

2\. उद्गच्छन्तीं तडिद्रूपां प्रतिचक्रं क्रमात्क्रमम् ।
ऊर्ध्वं मुष्टित्रयं यावत् तावदन्ते महोदयः ।। - वही - , श्लो0 - 29

[illegible] तन्त्रालोक में स्पष्ट करते हुये अभिनवगुप्त लिखते हैं कि विसर्ग और [illegible] प्राणापान [illegible] को रोककर जब सुषुम्ना के अन्दर विकास को प्राप्त [illegible] जाता है अर्थात् मध्यगामिनी नाड़ी का विकास कर लिया जाता [illegible] इस विकास से उत्पन्न शक्ति की सहायता से ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश प्राप्त होगा। परम प्रकाशानन्द स्थिति को प्राप्त करके अवस्थित हो जाता है।[1]

धारणा - 7

द्वादशान्त का स्थानों का जो क्रम है जन्माग्र, मूल, कन्द, नाभि, हृदय, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य , ललाट, ब्रह्मरन्ध्र शक्ति व्यापिनी पर्यन्त बारह स्थान है जो कि क्रमशः जन्माग्र से लेकर व्यापिनी पर्यन्त उत्तरोत्तर है और इनमें षष्ठ वर्णों को छोड़ कर शेष द्वादश स्वर ही निवास करते हैं। जन्माग्र में = अ, मूल में आ, कन्द में इ , नाभि में ई, हृदय में उ, कण्ठ ऊ तालु में ए , भ्रूमध्य में ऐ, ललाट में ओ, ब्रह्मरन्ध्र में औ, शक्तिस्थ अं और व्यापिनी में अः का निवास स्थान होता है इन्हीं को भेदन करता है। स्थूल से लेकर सूक्ष्म पर्यन्त अभ्यास से परात्मक स्थिति के द्वारा मुक्त होकरके परम मुक्त सर्वतन्त्र स्वतन्त्र अनन्त शक्तिमान भगवान भैरव स्वरूप शिव को अन्ततः प्राप्त करके मुक्त हो जाता है। कल्याणमय पद को प्राप्ति कर लेता है।

स्थूल - यज्ञ - जप-होम ध्यान-मुद्रा-यंत्र-मन्त्र हैं।

सूक्ष्म - षट्चक्र भेदन एवं षोडशाधार में प्राणाचार की भावनात्मक उपाय है। इसी से सर्वशिवमय [illegible] स्थिति को पर उपाय [redacted] कहा है।[2]

---

1. अथः प्राणं संरोध्य पूर्वविद्यपानकर्शिनाद् । [illegible] प्रकाशमुदय ज्ञानव्याप्तिम् प्रदायकम् ।।
अनुभूय परे धाम्नि मात्रावृत्त्या पुरं विशेत् ।। -तन्त्रालोक: 5/88-89

2. क्रमाद्वादशकं सम्यग् द्वादशाद्यरभेदितम् स्थूल-सूक्ष्म परस्थित्या मुक्त्वा
मुक्त्वाऽन्ततः शिवः ।। - वि०भै० 30

धारणा - 8

उन बारह चक्रों का भेदनता की पूर्ति के पश्चात् साधक को त्राटक की सहायता से ब्रह्मरन्ध्र का भेदन करना चाहिये । इससे जैसे ही मनुष्य निश्चल भाव से स्थिरता को प्राप्त कर लेता है, जैसे सेतु की सहायता से नदी को पार किया जाता है ऐसा ही [illegible] ब्रह्मरन्ध्र में मन स्थिर करना चाहिये । इससे निराकार [illegible] हुये साधक सभी अवस्थाओं एवं चक्रों के ऊपर निवास करता हुआ सर्वेश्वरता भाव को उत्पन्न कर लेता है ।[1]

धारणा - 9

जैसे मयूर के चित्राकार रंगबिरंगे पंखों में मण्डलाकार के मध्य शून्य दिखाई देते हैं वैसे ही अनुत्तर (भैरव) का ध्यान करने से भी हृदय में शून्य का ध्यान करते हुये हृदय में प्रवेश करना चाहिये । इससे मनुष्य भैरव में समाहित हो जाता है । अनुत्तर = भैरव है । अनुपाय भी कहते हैं जिसे सहज योग की संज्ञा भी प्राप्त है । शून्य = योगिनः हृदय दीपिका के रचयिता अमृतानन्द योगी ने भी शून्य में प्रणवान्त [illegible] शून्य माने हैं ।

समावेश = समावेश के लक्षण को आभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक में बहुत ही सुन्दर रूप से निरूपित करते हुये कहा है कि समावेश दशा में साधक अपने बाह्य भाव को भूल जाता है और अपने परमार्थ लक्ष्य स्वरूप इष्टदेव में समाहित हो जाता है ।

दूसरा पक्ष जैसे चित्रित चन्द्रकों से देदीप्यमान मोर पंखों में पाँच शून्य दिखाई देते हैं ऐसे ही पञ्च ज्ञानेन्द्रियों को लौकिक विषयों से हटाते हुये उनमें पाँच शून्य की भावना करने पर योगी का मन निर्विकार अनुत्तर शून्य परमाकाश में समावेश हो जाता है ।[2]

---

1. [illegible] -------------------- सर्वेशोद्गमः ॥ - वि०भै०, श्लो०-31।
2. शिखिपक्षैश्चित्ररूपैर्मण्डलैः ———— हृदयेभावेत ॥ - वही- , श्लो० - 32
   हृदि ....., योगिनो हृदयदीपिका........ तन्त्रालोक, आ०-1, श्लो०-205-55

धारणा - 10

है पर वृदे ।

[illegible] पर्यन्त एवं क्रम से यहाँ कहीं भी अथवा [illegible] में चिन्तन से कहीं भी अपने शून्याकार मन को विक्षिप्त कर साधक स्वयं लीन हो जाता है, भित्ति आदि में भी । और शून्याकार मन से [illegible] आकार भैरव रूप में समाविष्ट हो जाता है ।

इसी को सन्दर्भ में अभिनव गुप्त कहते हैं कि यह सम्भवतः सीढ़ियें हैं, सोपान समाधि का आश्रय रूप हैं, जिन पर शनैः-शनैः क्रम अक्रम से चढ़ते हुये एवं उतरते हुये साधक सर्वोत्तीर्ण कर लेता है । सभी को उत्तीर्ण करते हुये परमतत्व पर आरूढ़ (सवार) होकर शिवमय भाव को प्राप्त कर लेता है ।

यहाँ विशेषकर मनोयोग भी प्रदर्शित होता हुआ दिखाई देता है, क्योंकि मनोयोगी भी [illegible] रखता है । इसी के सन्दर्भ में भी साक्ष्य मिलता है, जिसमें कहा गया है कि यह जीवात्मा सर्वमय सर्वात्मक विश्व रूप है, क्योंकि सभी [illegible] भाव इसी जीव से उत्पन्न होते हैं । यह जीव जिससे इस जीव एवं उस परमेश्वर या परमात्मा में अभिन्न सम्बन्ध है वहीं इसमें स्थित है इस तरह यह जीव सभी संवेद्य पदार्थों का जानने वाला होने से तादात्म्य भाव से जीवात्मा परमात्मा में समाहित होता है और परमात्मा जीवात्मा में दृष्टि गोचर होता है ।

---

1. इदृशेन क्रमेणैव यत्र कुत्रापि चिन्तना ।
   शून्ये कुड्ये परे पात्रे स्वयं लीनावरप्रदा ।। -वि0भै0 - 33
2. सर्वोत्तीर्णं रूपं सोपानपदक्रमेण संश्रयतः । परतत्वरूढिलाभे पर्यन्ते शिवमयी भावः:
   परमार्थ सार: वि0 भै0 - श्लो0 - 17
3. यस्मात् सर्वमयो जीवः सर्वभाव समुद्भवात् ।
   तत्संवेदन रूपेण तादात्म्यप्रतिपत्तितः ।।-स्पन्दका0, श्लो0 - 28

धारणा - 11

कपालान्त में मन का न्यास करके आँखों को बन्द करके इसमें मूर्धा स्थान को देखता रहे । इस तरह आँखें बन्द करता एवं खोलता हुआ इसी में दृढ़तापूर्वक [illegible] लक्ष्यों में उपलब्ध है ऐसा दृढ़ता से जानते हुये [illegible] लक्ष्यों में उत्तम लक्ष्य भी है ।

कपाल = क [illegible] का द्योतक है और पाल: शिव (भैरव) का वाचक है । शिव शक्ति के [illegible] योग को कपाल कहते हैं ऐसा पाठ शास्त्रों में उपलब्ध मिलता है ।[1]

धारणा - 12

मध्यनाड़ी के विषय का स्वरूप स्पष्ट करते हुये लिखा गया है कि मध्य नाड़ी सुषुम्ना इडा पिंगला के मध्य में स्थित है और वह हृदयान्तर्गत कमल नाल के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तन्तुओं के रूप में शून्यालय रचिदाकाश में विराजमान है । उसे अन्तर्गत [illegible] हृदयाकाश में ध्यानपूर्वक निश्चल मन से देखना चाहिये उसके दर्शनों से [illegible] अर्थात् उसके जानने से परमेश्वर को जान लेता है ।

---

1. कपालान्तर्मनो न्यस्य तिष्ठन्मीलितलोचनः ।
क्रमेण मनसो दार्ढ्यात् लक्षयेल्लक्ष्यमुत्तमम् ।।-वि०भै० - श्लो० - 34
कशब्देन पराशक्तिः पालकः शिवसंज्ञकः ।
शिवशक्तिसमायोगः कपालः परिपठ्यते ।। -तन्त्रकोशः

स्वच्छन्दकारिका में लिखा है कि तब चिदाकाश रूपी महाव्योम में साधक चन्द्र और राहु को भी लीन कर लेता है छुपा लेता है जैसे प्रलयकाल में सभी परमात्मा में विलीन हो जाते हैं वैसे ही मध्यस्थ सुषुम्ना के विकास से चिदाकाश में प्रकाशित होने से आपान एवं प्राण भी विलीन हो जाते हैं। वह चिदाकाश में प्रविष्ट होकर वह प्रकाश युक्त प्रबुद्ध हो जाता है। अर्थात् उसका ज्ञान जागृत हो जाता है पर सर्वत्र अत्यन्त पारमार्थिक आनन्द से युक्त आत्माराम हो जाता है। इसी को प्रबुद्ध कहते है।[1]

धारणा - 13 (मुद्राकार)

हाथ रूपी (तर्जनी + अंगूठे रूपी) शस्त्र से दृग रूपी अस्त्र को (आँख कान के) बन्द करके भ्रूमध्यस्थ ग्रन्थी को भेदन करके उसमें से उत्पन्न बिन्दु को पकड़ कर उसमें मन को स्थिर करके पराकाष्ठा को प्राप्त हो जाता है अर्थात् उसका पर भैरव रूप अभिव्यक्त हो जाता है।

इस साधना को शैवागमों एवं तन्त्र शास्त्रों में करण माना गया है या मुद्रा भी कहते हैं। जिसका तन्त्रालोक मे विशद विवेचन हुआ है इसमें करण के सात भेद दर्शाये गये हैं।[2]

---

1. मध्यनाडी मध्यसंस्था बिससूत्राभरूपया।
ध्यातान्तर्व्योमया देव्या तया देवः प्रकाशते ॥ - वि0 भै0 - श्लो0-35

2. कररुद्धदृगस्त्रेण भ्रूभेदाद् द्वाररोधनात्।
दृष्टे बिन्दौ क्रमाल्लीने तन्मध्ये परमागतिः ॥ - वही- श्लो0 - 36

धारणा - 14

पूर्वोक्त धारणा के सदृश ही इसमें भी बिन्दु के सदृश एक अन्य सूक्ष्म अग्नि से उत्पन्न चिनगारी (स्फुलिङ्ग) का अन्तःकरण में ध्यान करते हुये अर्थात् हृदयाकाश में उठती हुई चिन्गारियों में से एक सूक्ष्मातिसूक्ष्म को हृदय से उठते हुये जानकर शिखा के अग्रभाग व्यापिनी पर्यन्त वह चिन्गारी समाहित होती चली जा रही है ऐसा चिन्तन करता हुये साधक को परमलय की प्राप्ति हो जाती है।[1]

धारणा - 15

इस धारणा में अनाहत की प्रवाहता को नदी के प्रवाह के समान माना गया है जो स्वाभाविक गतिमान है। जैसे नदी का जल धारा प्रवाह से बहता रहता है वैसे ही अनाहत नाद भी अहोरात (अहर्निश) मनुष्य के भीतर समान रूप से गतिमान होती हुई चलती रहती है।

जैसे कि सभी जानते हैं कि दो पात्रों या पत्थरों या लोहेकी छड़ों से टकराने से ध्वनि गुंजायमान होती है परन्तु अन्तःकरण हृदयाकाश में भी ऐसी ध्वनि धक् धक् की गूंज होती है जिसे केवल श्रवणेन्द्रिय का पारमार्थिक विषय ही ग्रहण करने मे सामर्थ्य रखता है अर्थात् यौगिक शब्द का योगी ही सुन सकता है न कि

---

1. धामान्तः क्षोभसंभूतसूक्ष्माग्नितिलकाकृतिम्।
बिन्दुं शिखान्ते हृदये लयान्ते ध्यायतो लयः ।। - वि० भै० - 37

साधारण मनुष्य के वश का काम है । इसके लिए अभ्यास की आवश्यकता रहती है । इस नाद को ही पारमार्थिक रूपेण नादभट्टारक माना गया है जो कि शब्द ब्रह्म का ही व्यापार है जिसे तन्त्रालोक के लेखक ने 10 प्रकार का वर्णित करके स्पष्ट भी किया है । इस प्रकार 10 रूपों के नाद में धारणा, ध्यान एवं समाधि का अभ्यास ज्ञान के लिए परमावश्यक है । इन अभ्यासों से योगी शब्द ब्रह्म को जान लेता है ।[1]

धारणा - 16

हे भैरव - शब्द ब्रह्म में निष्णात = पारंगत ब्रह्म ज्ञानी के सदृश प्रणवादि में भी नादभट्टारक की धारणा रखे इस प्रणव में ह्रस्व दीर्घ प्लुतान्त पर्यन्त शून्यकार भावना करे ऐसी भावना से साधक शून्य से परशून्य रूपा पराशक्ति एवं पराशक्ति से परभैरव को प्राप्त हो जाता है ।

ऐसा ही ह्रस्व दीर्घ प्लुत के उच्चारण को स्पष्ट करती हुई श्रुति प्रतिपादित करती है कि ऋग्वेद स्वरीय प्रणव मनुष्य लोक, यजुर्वेदीय प्रणव अन्तरिक्षलोक एवं सामगीति के स्वर से उच्चारित प्रणव ब्रह्म लोक प्रदान कराता है अर्थात् विज्ञान भैरव ने भी प्लुत को ग्रहण कर जो साधना का पथ प्रदर्शित किया है वह वास्तव में परभैरव की प्राप्ति के सर्वश्रेष्ठ साधन को प्रतिपादित करता है । पुष्पदन्त रचित महिम्न स्तोत्र में भी इसी प्रणव की स्तुति करते हुये कहा गया है की यह मोक्षदायक है इसी में समस्त संसार न्यस्त एवं व्यस्त है ।[2]

1. अनाहते पात्रकर्णेऽभग्नशब्दे सरिद्द्रुते ।
शब्द ब्रह्मणि निष्णातः परब्रह्माधिगच्छती ।। -वि०भै० - 38

2. प्रणवादिसमुच्चारात् ------------भैरव ।। श्रुति उपनिषद्, श्लो० -39
त्रयीतिस्रो वृत्तीस्त्रिभुवनामयो--------पदम् ।। - महिम्नःस्तवः, श्लो० 27

धारणा - 17

केवल प्रणव में ही ऐसी भावना को न समझे अपितु जिस किसी भी वर्ण के उच्चारण की साधक में इच्छा उत्पन्न हो और वह उसी वर्ण में अपना पारमार्थिक धर्म देखता हो तो उसे उसी वर्ण के आद्यन्त प्रवेश करना चाहिये उसी वर्ण को शून्याकार समझते हुये शून्य से शून्याकार यह प्राणी सर्वोत्तम पुरुषोत्त श्री भैरव के रूप। महाशून्य को प्राप्त कर ही लेता है।[1]

धारणा - 18

तन्त्र्यादिवाद्यशब्देषु = जो सामगीति से प्रेम करने वाले साधक हैं उनके परदे खोलते हुये ग्रन्थकार ने बहुत ही सूक्ष्म विवेचन किया जिसका उल्लेख गीता में भगवान श्रीकृष्ण एवं धर्म शास्त्रों में भी उपलब्ध होता है। जैसे कि प्रस्तुत ग्रन्थ में ग्रन्थकार कहते हैं कि साधक तन्त्री आदि (वादन, वीणा, तन्त्री, शततन्त्री, वंशी आदि) यन्त्रों से उत्पन्न शब्दों में दीर्घकाल तक क्रम से सुनने के लिए स्थित रहे उन शब्दों में अनन्यचित्त साधक जब शब्दों की अन्तरङ्ग ध्वनि की लय में विश्राम करता है तो उस साधक का स्वकीय देह स्वकीय न रहकर भगवान भैरव की देह के रूप में परिणत होकर परव्योम पराकाश में स्थित हो जाती है इस जगत में स्थित रहते हुये भी वह भिन्न सी विस्मयकारी रोमाञ्च भरी दैवीय देह हो जाती है। उसी के कारण भगवान श्री कृष्ण जी ने गीता में कहा है कि मैं वेदों में सामवेद हूँ अर्थात् मुझे सामवेद का गायन सबसे सुरीला एवं मनोहारी लगता है। जिसका

---

1. यस्य कस्यापि वर्णस्य पूर्वान्तावनुभावयेत् ।
शून्यया शून्यभूतोऽसौ शून्याकारः पुमान् भवेत् ।। 40 ।। वि० भै०

अनुमोदन धर्म शास्त्रों ने भी किया है जैसे महर्षि याज्ञवल्क्य ने भी कहा है कि सुरसंगम भी साधक को मोक्ष दिलाने का परम मार्ग है जो मनुष्य को मोक्ष प्रदान करता है ।[1]

धारणा - 19

पिण्ड मन्त्र के सर्वात्मक स्वरूप के अन्तर्गत पाये जाने वाले वर्ण क्रम से स्थूल होते है जो वर्ण क्रमशः जुड़कर मन्त्र बनकर पिण्ड कहलाते हैं उनमें स्थित कुछेक अर्ध चन्द्राकार एवं अर्धमात्राकार बिन्दु तक का विधिपूर्वक किये उच्चारण से साधक शिव हो जाता है ।

पिण्ड मन्त्रों नवात्मक प्रभृति मन्त्र कहलाते हैं इनकी व्याख्या करते हुये शिवोपाध्याय लिखते हैं कि ऊं {ओइम्} प्रत्येक प्राणी के हृदय में ध्वनित होता रहता है । यह प्रणव अकार से लेकर उन्मना पर्यन्त द्वादशमात्राओं को द्वादश भागों में विभाजित कर देता है । जिसमें वर्णों के उच्चारण का क्रम स्थूल कहा जाता है । नाभि, हृदय एवं मुख में क्रमशः तीन मात्राओं का उच्चारण होता है इनके उच्चारण काल को मात्रा कहा जाता है जबकि बिन्दु से समनापर्यन्त अर्ध मात्रा एवं उससे ऊपर गगनाकाश स्थित शिवरूप हो जाता है । बिन्दु से समना पर्यन्त = इसे संक्षेप में =बिन्दु - अर्धचन्द्र-निरोधिनी-नाद-नादान्त-शक्ति-व्यापिनी-समना और उन्मना के उच्चारण से अर्थात् द्वादश मात्रा के उच्चारण से योगी स्वयं शिव हो

---

1. तन्त्र्यादिवाद्यशब्देषु दीर्घेषु क्रमसंस्थिते ।
अनन्यचेताः प्रत्यन्ते परव्योमवपुर्भवेत् ।। 41 ।।
वेदानां सामवेदोऽहं .... गीता अ० 10 श्लो० 22
वीणावादन तत्त्वज्ञः स्वरजातिविशारदः ।
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं नियच्छति ।। या०स्मृ० प्रायश्चित्ताध्याय श्लोक 115 पृ०552

जाता है ।

धारणा - 20

योगी न अपना देह में सभी दिशाओं शून्य भाव से ध्यान करते हुये एक साथ देखे और इन्हें निर्विकार जाने ऐसे शून्यकार जानते हुये मन को स्थिर करे और ऐसा चिन्तन करे कि सभी दिशाओं में एक ही शून्याकार परमतत्व ही परिवर्तित हो रहा है और उसी परमशून्य में स्वयं को भी परिवर्त्तित करे यही परम धर्म है ।

दिशाओं का उल्लेख यजुर्वेद में भी हुआ है यहां 10 दिशाओं के रूपों को तोड़ते हुये उसे पांच भागों में विभाजित करके दिखाया गया है । इस शुक्ल यजुर्वेद के मन्त्र में दस दिशायें 10 प्रदिशायें दस आदिदशायें दस विदिदशायें और बिल्कुल चक्षु के समीप दस उदिदशायें व्याप्त रहती हैं । जो वस्तुः निर्विकल्पक निराकार ही है जिनका कोई भी रूप नहीं दिखाई देता है ।

ऐसा ही पाठ ईश्वर प्रत्यभिज्ञा में भी मिलता है जिसमें स्पष्ट कहा गया है कि बाह्य नीलपीतादि से लेकर शून्य पर्यन्त सभी पद-पदार्थ विकल्पस्वरूप माने गये हैं इनमें कुछ साधारण मार्गीय ग्रहण करते हैं और परमतत्व को चाहने वाले साधक शुद्ध भाव रखते हैं ।[2]

---

1. पिण्डमन्त्रस्य सर्वस्य स्थूलवर्णक्रमेण तु । अर्धेन्दुबिन्दुनादान्तशून्योच्चाराद् भवेच्छिवः ।। 42।।
ओङ्कमिति स्फुरदुरस्यनाहतं गर्भगुम्फितसमस्तवाङ्मयम् दन्ध्वनीति हृदि यत्परं पदं तत्सदक्षरमुपास्महे महः ।। - शिवोपाध्याय रचित द्रष्टव्य ग्रन्थ वि०भै०, पृ०-49

2. निजदेहे .... सर्वं प्रवर्तते ।। 43
ॐ प्राची धृतपावान: .... स्वाहा ।। - शु०य०वे० अ० मं०
चित्तत्वं .... नभसीव वा ।।
प्रमातृत्वेनाहमिति .... भासजः ।। - ई०प्र०भा० 1/6/4-5

धारणा - 21

आगे पीछे सर्वत्र शून्य ही है ऐसी एक जैसी भावना करे जो ऐसी भावना करता है कि अब आगे और पीछे बायें दायें के मध्य धरती आकाश के मध्य, शरीर के निचले एवं ऊपरि भाग के मध्य - जन्म जन्मान्तर के समान मध्य में जो यह मायीय दृष्टिगोचर है यह भी शून्य ही है निर्विकल्प भाव सा है उसी निर्विकल्प से परमनिर्विकल्प भैरव का उस साधक के हृदय में उदय हो जाता है अर्थात् हृदयाकाश स्वयं प्रकाश से खिल उठता है । जैसे कि शिवोपाध्याय ने इसी की पुष्टि हेतु वासुदेव का श्लोक भी स्पष्ट किया है जिसका अर्थ है ऊर्ध्व भी शून्य है नीचे भी शून्य है मध्य में भी शून्य रूप में आश्रयहीन स्थित है इन तीनों शून्यों को जो जान लेता है वही कुलभूषण है ।[1]

धारणा - 22

अपने शरीर में भी शून्यता को ही भावना करे और ऐसी भावना करे की यह क्षण मात्र जीव है । तथा यह पूर्व में जन्म से पहले भी शून्याकार निर्विकल्प था आगे भी निर्विकल्प ही रहेगा अतः मुझे उसी निर्विकल्प परभैरव की ही भावना करनी चाहिये जो ऐसी भावना से ओतप्रोत हो जाता है वह पर भैरव स्वरूप हो जाता है ।[2]

---

1. पृष्ठशून्यं मूलशून्यं युगपद्भावयेच्चयः ।
युगपान्निर्विकल्पान्निर्विकल्पोदयस्ततः ।। - 44
ऊर्ध्वशून्यमधः शून्य मध्ये शून्यं निराश्रयम् ।
त्रिशून्यंयोभिजानातिसभवेत् कुलनन्दनः ।।-शिवोपाध्याया । वासुदेव
उ0ग्रन्थ वि0भै0, पृ0 - 5।

2. तनू देशे शून्यतैव क्षणमात्रं विभावयेत् ।
निर्विकल्पं निर्विकल्पो निर्विकल्पस्वरूपभाक् ।। 45

धारणा - 23

हे मृगेक्षणे ! सभी देहधारी प्राणियों में वही निर्विकल्प शून्य ही व्याप्त है । यहाँ वहाँ सर्वत्र उसी शून्य की भावना से ओतप्रोत होकर भावना करनी चाहिये जिससे वह मन भावना स्थिर होती होवे ।[1]

धारणा - 24

देह के आभ्यन्तर यह हाड़ चर्म ऐसे जाने जैसे भवन की दीवारें हों, इनमें देह की त्वचा में और ईंटें रेत से या मिट्टी पत्थर से निर्मित दीवालों में शून्य सा भी अन्तर नहीं है। इस तरह का ध्यानरत योगी ध्येय को प्राप्त कर ही लेता है । क्योंकि जो वस्तुत: सत्स्वरूप अन्त:करण में स्थित है, वह इन दीवालों से भिन्न है ये दीवालें नाशवान् है जबकि वह अविनाशी एवं अमर है । जिसके विषय में गीता का भी उपदेश है कि वह अजन्मा है, नित्य है , सनातन (शाश्वत) है, जो न किसी से मारा जा सकता न जो कभी हुआ था या होगा ऐसा ही है वह सदा था, सदा रहेगा इसी की भावना से ओत प्रोत साधक ध्येय को प्राप्त कर सकता है ।[2]

---

1. सर्वदेहगतं द्रव्यं वियद्व्याप्तं मृगेक्षणे ।
विभावयेत् ततस्तस्य भावना सा स्थिरा भवेत् ।। 46

2. देहान्तरे त्वग् विभागं भित्तिभूतं विचिन्तयेत् ।
न किञ्चिदन्तरे तस्य ध्यात्वा ध्येयभाग् भवेत् ।। 47
न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता न भूय: ।
अजो नित्य: शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।।
- गीता 2/20

धारणा - 25

हे सुभगे हृदयाकाश में कमल की आंख के समान कमल के बन्द हो जाने से
जैसे बन्द हो जाती है, ऐसे ही हृदयाकाश में वह शून्य बन्द है, उसे निलीनाक्षः,
आंखें बन्द करके अनन्यचित्त होकर स्थिर चित्त से देखें अर्थात् सुप्त हुये ज्ञान को
प्रज्ञा ज्योति से जगमगाये, ऐसा करने वाला साधक परम सौभाग्य को प्राप्त करे ।

इसी प्रकार शिव सूत्र भी वर्णन करते हुये कहते हैं कि हृदये में चित्त के
संयोजन से यह नील पीतादि स्वप्न तुल्य दिखाई देने लगते हैं ।

जबकि स्वच्छन्दशास्त्र ने भी इसी प्रकार कुछ भाव व्यक्त किये हैं जैसे
वह परमात्मा सभी भू प्राणियों में स्थावरों एवं जगमों में समान भाव से स्थित
है, किसी में चेतन रूप से अवस्थित है और किसी में अचेतनात्मक है परन्तु षडध्व भाव
से व्याप्त सभी में शिव-शक्ति सामरस्य के रस से युक्त होकर स्थित है । जबकि
स्पन्द कारिका में भी लिखा हुआ है कि जैसे अपने हृदयाकाश में स्थित है,
अधिष्ठित है वैसे ही सर्वत्र है तथा रहेगा ।

---

1. हृदाकाशे निलीनाक्षः पद्मसम्पुट मध्यगः ।
अनन्यचेत्ताः सुभगे परं सौभाग्यमाप्नुयात् ।। 48
हृदये चित्तसंघट्टाद दृश्यस्वापदर्शनम् ।। – शिव0 सू0
स च सर्वेषु भूतेषु भावतत्वेन्द्रियेषु च ।
स्थावर जङ्गम चैव चेतनाचेत संस्थितम् ।।
आध्वानं व्याप्य सर्वं तु सामरस्येन संस्थितम् ।।
– स्व0 शा0 अ0 - 4, श्लो0 - 307 - 308

धारणा - 26

सभी ओर बाह्य शरीर एवं अन्तः करण में तथा पराये शरीरों के भी रोम - रोम में अपने एवं पराये सभी के द्वादशान्त में मनोयोग से मन को लय बद्ध करे । ऐसी स्थिर हुई बुद्धि से दृढ़ विश्वसनीय होता हुआ अपने परमतत्व के लक्ष्य को पाले । इसी के सन्दर्भ में महर्षि पतञ्जली का एकतत्वाभ्यास भी लक्षित होता है । उस तत्व का अर्थ भी इस प्रकार से है ।

स्पन्द कारिका भी इसी संदर्भ में अपना मत रखती है जिसमें कहा गया है कि सौषुम्न से अन्य इड़ापिंग को परास्त करने से साधक ब्रह्माण्ड गोचरी अवस्था को प्राप्त कर लेता है ।¹

धारणा - 27

जैसे - जैसे अन्तःकरण द्वादशान्त में या बाह्य शरीर में अथवा अपने या दूसरे शरीर में यहां - वहां अपने मनः को स्थिर करके क्षेप कर दे डाले और वृत्तियों से अभिमुख हुआ प्रतिक्षण वृत्तियों को क्षीण करते हुये क्षीण हुई वृत्तियों से कुछ ही दिनों में विलक्षणता से युक्त हो जाता है । अर्थात् पर भैरव स्वरूप के लक्षणों जैसे लक्षण उत्पन्न हो जाते हैं । तन्त्रालोक में भी यही विषय प्रतिपादित हुआ है जिसके अनुसार द्वादशान्त को शक्ति में, क्षेभ = क्षोभ में, कुलावेश में

---

1. सर्वतः स्वशरीरस्य द्वादशान्ते मनोलयात् ।
दृढ़बुद्धे दृढ़ीभूतं तत्वलक्ष्यं प्रवतति ।। 49
सौषुम्नेऽप्यन्यस्तमितो हित्वा ब्रह्माण्डगोचरम् ।। -स्प० का०
श्लो० - 24

या सभी नाड़ियों के अग्र भाग में, बुद्धि मानो को चाहिये की वह मन को हृदय में प्रवेश कराये क्योंकि वह सभी आत्माओं में संकोच भाव से ﴾संकुचि तात्मक﴿ जीव रूप में स्थित हुआ व्याप्त है ।[1]

धारणा - 28

भैरव कहते हैं कि हे सुभगे । साधक योगाभ्यासी ऐसा ज्ञान करे कि मेरे दक्षिण पाद के अंगूठे से उठ रही कालाग्नि से स्व शरीर ﴾देह﴿ भस्म होती जा रही है मलदग्ध हो रहा है जैसे अग्नि पर स्थित गुग्गल भस्म हो रहा है । अब यह जल गया है ऐसा अन्तिम क्षण तक विचार करे इससे अन्त में परमाशान्त चितात्मक आभा परम किरण प्रकाशरूप भासमान होने लगती है ।

शास्त्रों में दक्षिण अंगुष्ठ में कालाग्नि का पाठ मिलता है जिसका मन्त्र भी व्याख्याकार द्वारा ग्रन्थ में प्रतिपादित है " ऊं र क्ष र य ऊं तनुं दाहयामिनमः ।" पुर: का अर्थ गुग्गुल है ।[2]

---

1. यथा तथा यत्र तत्र द्वादशान्ते मनः क्षिपेत् ।
प्रतिक्षणं क्षीणवृत्तेर्वैलक्षण्यं दिनैर्भवेत् ।। 50
शाक्ते क्षोभे कुलावेशे सर्वनाऽयग्रगोचरे
व्याप्तौ सर्वात्मसंकोचे हृदयं प्रविशेत सुधीः ।।-तं०लो० आ०-5, श्लो०-71

2. कालाग्निना कालपदादुत्थितेन स्वकं पुरम् ।
प्लुष्टं विचिन्तयेदन्ते शान्ताभासस्तदा भवेत् ।। 51
ऊं र क्ष र य ऊं तनुं दाहयामि नमः " ।।-द्रष्टव्य वि०भै० व्याख्या, पृ० - 56

धारणा - 29

एक दिन यह सम्पूर्ण जगत् अवश्य कालाग्नि द्वारा दग्ध हुआ था हो रहा है और होगा ऐसी विशेष कल्पना का सर्पन करे और इस प्रकार का चिन्तन करते हुये विश्वोत्तीर्ण करने के लिए अनन्य भाव से चित्त से सामान्य साधक पुरूष श्रेष्ठ पुरूष परभैरव स्वरूप बनने का प्रयास करे ।[1]

धारणा - 30

अपने देहस्थ या जगत् में व्याप्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म जितने भी तत्व है ये सभी उसी पर भैरव के प्रकाश से व्याप्त है और उसी में लीन भी हो जायेगे अर्थात् जितने भी छत्तीस तत्व हैं वे सभी नाशवान है जिनमें यह मिलेगे साधक को भी उसी का ध्यान करते हुये पराशक्ति को ही व्यक्त करे ।[2]

धारणा - 31

प्राण वायु के कुम्भक वृत्ति प्राणायाम से द्वादशान्तर्गत भ्रमण करने वाले अन्तर्यामी के प्राणों के समान (सुषुम्ना में व्याप्त प्राणसंचार तुल्य) कुम्भक प्राणायाम अभ्यास से एवं गुरूओं के उपदेश से मोटी बुद्धि भी तीव्र हो जाती है जिससे पशुत्व भी छूटने लगता है तथा हृदयाकाश द्वादशान्त में मुक्तेश्वर के ध्यान में सतत सलग्न मनुष्य मुक्त हो कर सर्वतन्त्र स्वतन्त्र हो जाता है ।[3]

---

1. एव मेवजगत्सर्व जग्धं ध्यात्वा विकल्पतः ।
   अनन्यचेतसः पुंसः पुमान् परमो भवेत् ।। 52
2. स्वेदहे जगतो वापि सूक्ष्म सूक्ष्मतराणि च ।
   तत्वानि यानि निलयं ध्यायन्ते व्यज्यते परा ।। 53
3. पीनां च दुर्बला शक्तिं ध्यात्वा द्वादशगोचरे ।
   प्रविश्य हृदय ध्यायन् मुक्तः स्वातन्त्र्यमाप्नुयात् ।। 54

धारणा - 32

स्थूल , सूक्ष्म एवं परात्मक रूप में विद्यमान भुवन एवं अध्वादि रूप से इस सारे जगत् का निर्माण हुआ है और ये सारे जगत् में व्याप्त है योगी इनमें भावना का तब तक ध्यान करता रहे जब तक मन हृदयाकाश में विलीन हो जावे ।

शैवागमों में भुवनाध्व=भुवन, तत्व, कला , मन्त्र, पद एवं वर्ण को षडध्व कहा जाता है यह वाच्य वाचक एवं शब्द और अर्थ का ही विस्तार है ऐसा वाक्य पदीयकार ने भी कहा है कि शब्द और अर्थ परावस्था में स्त्यानावस्था में अभिन्न रूप से विद्यमान रहते हैं । वाच्य और वाचक के भेद के अभाव में लोक व्यवहार कल्पना मुश्किल हो जाता है ।

"वाक्यपदीयकार सुस्पष्ट करते हुये लिखते हैं कि बिना शब्द के किसी भी वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता । वस्तु मात्र के ज्ञान की किसी न किसी शब्द से सम्पर्क रखता है । इस तरह परावस्था वाच्य वाचक का सम्बन्ध भेदात्मक दिखाई देता हुआ भी अभेदात्मक ही रहता है केवल जानने वाले के बोध पर निर्भर करता है ।[1]

---

1. भुवनाध्वादिरूपेण चिन्तयेत् क्रमशोऽखिलम् ।
स्थूलसूक्ष्मपरस्थित्या यावदन्ते मनोलयः ।। 55
नसोऽस्ति प्रत्ययो लोकेयः शब्दानुगमाहते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्व शब्देन भासते ।। - वाक० पदी० 1/123

धारणा - 33

षडध्व प्रक्रिया से ही इस समस्त विश्व की रचना हुई है इनमें भुवन, तत्व, कला, वाच्य है और प्रकाश स्वरूप है जबकि मन्त्र मद एवं वर्ण वाचक रूपेण विमर्शात्मक है जबकि प्रकाश और विमर्श को ही शिव का रूप माना गया है। यही शिव सारी रचना करके सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में शब्दार्थ रूप में विद्यमान है। जैसे दो अरणियों के मन्थन से पावक की उत्पत्ति होती है वैसे उन्मेष एवं निमेष से शिव सारे जगत् की रचना करते हैं। अतः इस षडध्वमय जगत् का स्वरूप शिव के स्वरूप से भिन्न कुछ भी नहीं है। इस प्रकार चिन्तनशील ध्यानरत योगी के अन्तःकरण में महान् भैरव का उदय हो जाता है अर्थात् स्वयं प्रकाश जागृत हो जाता है। जिसके विषय में तन्त्रालोक में अभिनवगुप्त ने भी कहा है कि इसी वाच्य वाचकात्मक रूप से अवस्थित अभिन्न सम्बन्ध रखने वाला साधक इस षडध्व का आश्रय लेकर महोदय अवस्था तक पहुंच सकता है स्वरूप, साक्षात्कार कर लेता है।[1]

धारणा - 34

हे देवि = साधक इस विश्व का शून्य रूप जानकर चिन्तन करे और उसी शून्यालय में मन को क्षिप्त करके लीन कर दे उसी में लीन होने से परमतत्व में लीन होने का वह साधक भागी बनता है।[2]

---

1. अध्वस्य सर्वस्य विश्वस्य पर्यन्तेषु समन्ततः ।
   अध्वप्रक्रियया तत्वं शैवं ध्यात्वा महोदयाः ।। 56 ।।
   आसंवित्तत्वमाबाह्यं योऽयमध्वा व्यवस्थितः ।
   तत्र तत्रोचितं रूपं स्वं स्वातन्त्र्येण भासयेत् ।।-त0 लो0आ0-12, श्लो0-4

2. विश्वमेतन्महादेवि शून्यभूतं विचिन्तयेत् ।
   तत्रैव च मनो लीनं ततस्तल्लय भाजनम् ।। 57

धारणा - 35

दीवालों से दृष्टि हटा करके घट के मध्य शून्य स्थान में साधक को दृष्टिपात करते हुये मन को विशेष रूप निक्षेप करना चाहिये ऐसी मन की तल्लीन अवस्था को प्राप्त योगी तत्क्षण ही अपने परम चरम लक्ष्य में तल्लीन विलीन हो जाता है ।[1]

धारणा - 36

वृक्षादि रहित मरू भूमि में पर्वतों के शिखर एवं दीवालों पर मन को विशेष रूप से स्थापित करे इनमें विलीन हुये मानस वाला साधक सभी वृत्तियों से क्षीण होकर चमोत्कर्ष लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है उत्पन्न कर लेता है ।[2]

धारणा - 37

दोनों ही प्रकार के द्वंद्वात्मक नाम को एक साथ छोड़ता हुआ साधक मध्यमार्गी बने राग - द्वेष के मध्य, सुख दुःख के मध्य उदासीन भाव का आश्रय ग्रहण करे । एक साथ दोनों को त्याग करके जो मध्य में अवस्थित हो जाता है वह तत्व को प्रकाशित करता है ।[3]

---

1. घटादि भाजने दृष्टिं भित्ती स्त्यक्तवा विनिक्षिपेत् ।
तल्लयं तत्क्षणाद् गत्वा तल्लया तन्मयो भवेत् ।। 58

2. निर्वृक्षगिरिभित्यादिदेशे दृष्टिं विनिक्षिपेत् ।
विलीने मानसे भावे वृत्तिक्षीणः प्रजायते ।। 59

3. उभयोर्भावयोर्ज्ञाने ध्यात्वा मध्यं समाश्रयेत् ।
युगपच्च द्वयं त्यक्तवा मध्ये तत्वं प्रकाशते ।। 60

गीता का उपदेश भी है कि जो दुःख सुख में सम रहता है एवं प्रिया प्रिय मिट्टी पत्थर सोने को समान मानापमानादि तुल्य मानता है अभिमान रहित है वही गुणातीत है ।[1]

धारणा – 38

न्यक्त = अन्तर्हित (कभी न देखे गये) विलक्षण ईश्वरीय रूपों में अर्थात् अपने इष्ट देव आदि ध्येय पदार्थों में मन को योगाभ्यास से स्थापित करे ऐसा कर लेने से ध्याता और ध्यान के मध्य केवल ध्येय में चित्त को स्थिर रखते हुये ध्याता ध्येयाकार होकर फिर कभी उन्मुख नहीं होता जैसे पवन रहित स्थान में [illegible] विचलित नहीं होता अर्थात् स्थिर रहता है ऐसे ही ध्येय में रत योगी भी योगाभ्यास से परम विकास की गति को प्राप्त कर विकसित हो जाता है ।[2]

न्यक्त का अर्थ निमग्नता है अपने आपको भूलना है ऐसा तैत्तिरीय आदि उपनिषदों में एवं ब्राह्मण ग्रन्थों से भी ज्ञात होता है ।[3]

---

1. समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ।।
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ।। – 14/24-25

2. भावेन्यक्ते निरूढा चिन्नैव भावान्तरं व्रजेत् ।
तदा तन्मध्य भावेन विकसत्यति भावना ।। 61

3. न्यक्तं निमग्नं विस्मृतम् ।। तै० सं० 1/5/2/4 ।। सायण भाष्यः

पञ्चदशी के अनुसार जो ध्याता ध्यान से हट कर केवल ध्येय में ही मन लगाता है वही वास्तव में समाधि अवस्था होती है ।[1]

अभिनव गुप्त कहते हैं कि अनवच्छिन्न वैसर्गिक धाम के नाम से चित्त उसी प्रफुल्ल दशा में प्रवेश करता है ।[2]

जबकि क्षेमराज ने स्पन्द निर्णय में कहा है कि जो एक तत्व केवल ध्येय की ही चिन्ता से जुड़े हुये हैं वही वास्तव में समाधिस्थ योगी कहलाते हैं ।[3]

धारणा - 39

अपनी देह में और अपने से रहित जगत् व्याप्त सभी देह देहान्तरों में चिन्मात्र की ही भावना करे । ऐसे सोचे कि सर्वत्र चिन्मात्र ही भासित हो रहा है । एक साथ ऐसी भावना को मन से केन्द्रित करते हुये हृदयाकाश में परम कल्याण जीवन्मुक्त भगवान शिव का उदय हो जाता है । स्पन्दकारिका भी इसी संदर्भ में स्वकीय मत प्रस्तुत करती हुई कहती है कि जिसको ऐसी संवित्ति ऐसा ज्ञान है कि यह सारा जगत् खिलौना है वह ऐसा ध्यान करते हुये निश्चित ही जीवन्मुक्त हो जाता है ।[4]

---

1. वैदिक पदानुक्रमकोश ।। [illegible]
2. ईहक्ताद्दृक्प्रायप्रशमोदयभाव विलयपरिकथया ।
   अनवच्छिन्नं धाम प्रविशेद् वैसर्गिकं सुभगः ।। तं०लो०आ०-29, श्लो० 118-19
3. एकाचिन्ताप्रसक्तस्य................ ।। -स्पन्दनिर्णय, श्लो० - 41
4. सर्वदेहं चिन्मयं हि जगद् वा परिभावयेत् ।
   युगपन्निर्विकल्पेन मनसा परमोदयः ।। 6[illegible]
   इति वा यस्य संवित्तिः क्रीडात्वेनाखिलं जगत् ।
   स पश्यन् सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः ।। -स्प०का० -62-63

शिवसूत्र भी अपशुता की प्राप्ति के लिए इसी भाव को व्यक्त करते हुये कहते हैं कि शुद्ध तत्व के अन्वेषण से पशुत्व का नाश एवं अपशुता का प्राप्ति होती हैं पशुत्व छूट जाता है ।[1]

धारणा – 40

अखिल जगत् एवं अपनी देह दोनों में अपने ही रस से परिपूर्ण भरा हुआ जाने एक साथ दोनों में अपने अमृतरस की अभिव्यक्ति करने से परानन्द = परमआनन्द शिवानन्द मय हो जाता है ।

इसी को पूर्व में श्रुति ने भी गाया है – यह सारा जगत् आनन्द से ही उत्पन्न हुआ है, आनन्द से उत्पन्न हुये हैं और जीव जीवित है और पुनः आनन्द में ही प्रवेश कर जाते हैं ।

शिव सूत्र के अनुसार भी लौकिक आनन्द भी एवं स्वाभ्यन्तर प्रकाश ही समाधि का परम सुख है ।[2]

---

1. शुद्धतत्वानुसन्धानाद्वाऽपशुशक्तिः ।। – शि०सू० अ० –1, सू० – 16
2. सर्वं जगत् स्वदेहं वा स्वानन्दभरितं स्मरेत् ।
युगपत् स्वामृतेनैव परानन्दमयो भवेत् ।। 63
आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति ।। – तै० उ० 3/9
लोकानन्दः समाधिसुखम् ।। – शि०सू० अ० – 1, सू० – 18

धारणा - 41

अभ्यन्तर हृदय स्थान और बाहय द्वादशान्त में प्राण एवं अपान को संयोजित करता हुआ योगी इन पर नियन्त्रण पा ले और साथ ही शून्याकार निर्विकल्प अवस्था का ध्यान करता रहे । जब उसे दोनों वायु भिन्नता को छोड़ चुके हैं और एकसम गतिमान है ऐसा लगे तब उसमें समत्व की स्थिति उत्पन्न होती है वह दोनों को समान समझता है जिससे उसमें प्रबोध उत्पन्न हो जाता है और वह ब्राह्मण चाण्डाल - हाथी चिंटी को भी समान देखने लगता है । ऐसा ज्ञान उत्पन्न हो जाता है ।

इसी समत्व की भावना को विकसित करते हुये अभिनव गुप्त कहते हैं कि समता को प्राप्त योगी परम सिद्धि को प्राप्त कर लेता है ।

महेश्वरानन्द ने तो उस अवस्था की नीव तक खोल दी है जिसमें समत्व की परते खोलते हुये लिखते हैं जगत् के सभी भावों, वृत्तियों, दृष्टियों, द्रव्यों भूमियों ओवल्लियों ﴾ योगिनियों ﴿ देवताओं और वर्णों में सब तरह से एक सी दृष्टि समता कहलाती है । इसी को वेदों ने नेति नेति गाया है जो भी चराचर जगत् में दृश्य मान में उन सब में मैं शिव ही हूं । गीता में भगवान श्री कृष्ण कहते हैं कि ज्ञान सम्पन्न साधक ब्राह्मण - गौ, हाथी, चाण्डाल और कुत्ते में समान देखता है और जो समत्व की भावना रखता है वही मोक्ष प्राप्त करता है ।

---

1. वायुद्वयस्य..................भाजनम् ।। 64
समता सर्वदेवानामोवल्लीमन्त्र.........यतः ।। तं०लो० आ०-4
श्लो० 274-275

समता......................चैवसर्वशः ।।
भूमिकानां च ....चैवसर्वशः ।।

﴾महार्थ मंजरी , पृ० - 168 ﴿

विद्याविनयेसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्ति नि ।
शुनि चैवश्वपाके चपण्डिता समदर्शिनः ।। -गीता 5 \ 18

धारणा - 42

हे मृगेक्षणे ! जैसे जादूगर अपनी जादूगरी से (कूहन क्रिया से) अनेक प्रकार के नाटकों को दर्शाता हुआ जनता जनार्दन को आश्चर्य चकित करता है वैसे ही योगी साधक भी परमानन्द में गोते खाता हुआ अपने ही आनन्द में विभोर इस जादूमय जगत् को देखता हुआ परमतत्व को अन्तः करण द्वादशान्त में प्रकाशित कर लेता है ।[1]

धारणा - 43

तदनन्तर वह सभी प्राणापान के आवागमन के स्रोतों को एवं विषयों से वृत्तियों को बन्धकरते से मन को स्थिर करता है और प्राणापान प्राण = शुद्धतत्व शिवस्वरूप एवं शक्ति = अपान जीव शक्ति को शनैः - शनैः ब्रह्मरन्ध्र को ओर अग्रसर करता है तदनन्तर उसके द्वारा प्राणापान को रोककर सुषुम्ना में व्याप्त व्यान को अनाहत कुण्डलिनी को जब ऊर्ध्वरेता करता है तो उसे शरीर पर किसी चिंटी के चलने जैसा सुख स्पर्श होता है जिससे उसे शनैः-शनैः परम सुख का लाभ हो जाता है ।

इसी विषय में महर्षि पतञ्जली जी ने प्राणायाम की चर्चा के अन्तर्गत सूत्रों के माध्यम से स्पष्ट किया है कि श्वास प्रश्वास की गति को विच्छेदित करना ही प्राणायाम कहलाता है[2] और परम प्राणायाम वह है जिसमें आपूर्यमान स्वयं प्रकाशस्वरूप प्राण शनैः शनैः अन्तः करण में ही मूलाधार से लेकर ब्रह्मरन्ध्र

---

1. कुहनेन प्रयोगेण सद्य एव मृगेक्षणे । समुदेति महानन्दो येन तत्वं प्रकाशते ।। 65
2. सर्वस्रोतो..सुखम् ।। 66
श्वासप्रश्वासयोर्गतिर्विच्छेदः प्राणायामः ।। -प0यो0द0 पा0 2/सू0-49

तक चलायमान होता है जिसकी गति को योगी लोगों द्वारा काल की संख्या में चलता हुआ देखा जाता है यही मुक्ति मार्ग का परम साधन है परम सुखकारी भी है ।[1]

धारणा - 44

वहिन एवं विष के मध्य में मन को सुखमय स्थिति में क्षिप्त करे । केवल वायु को भर कर सुषुम्ना में परमानन्द द्वारा चित्त को विकसित करता हुआ परम सुख को प्राप्त करे ।

वहिन का अर्थ - ऊर्ध्वस्था ऊर्ध्वमुखी ब्रह्मरन्ध्र में सहस्रारचक्र में वायु को पूरित करे । विष = अधोमुखी सहस्रार चक्र है दोनों के मध्य में चित्त को सुखमय बनाकर परमगति को प्राप्त करे ।[2]

धारणा - 45

शक्ति के संग (स्त्री के संग) से बुद्धि एवं मन, आत्म-देह, प्राणापन शक्ति=प्राण, संग = अपान के सामरस्यता भोग से संक्षुब्द उत्तेजित हुई आनन्दावस्था की सम्प्राप्ति से जो विशेषानन्दानुभूति होती वह वास्तव में आनन्ददायक मानी गयी है । जो सुख ब्रह्मानन्द की प्राप्ति से प्राप्त होता है वही सुख स्वयोचित। परन्तु इन शब्दों का वास्तविक भाव जीव और के आलिंगन से प्राप्त होता है । परमात्मा के संग से है ।[3]

---

1. बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टोदीर्घसूक्ष्मः ।।
-पा०यो०द० पा - 2 , सू० - 50
.........................युज्यते ।। 67

2. वह्नेः.........................स्वाक्यमुच्यते ।। 68

3. शक्ति.........................

धारणा - 46

जैसे प्रेमी प्रेमिनी के (भार्या के) अधरों को चूमने (आस्वादन) अंगों को मसलने अंगों को आलोडने एवं विशद रूप से काम विधि का यथोचित ज्ञान रखते हुये तरह-तरह के हाव भाव प्रदर्शित करता हुआ एक बार जो आनन्द लेता है तब उस आनन्द का स्मरण जैसे दूरस्थ प्रेमी को तुरन्त स्मरण दिला कर आह्लादित कर देता है। वैसा ही आनन्द शक्ति प्राप्त साधक को भी मिलता है जिसे कभी- कभी शक्ति का अभाव सा प्रतीत होता है और पुनः शक्ति को प्राप्त कर लेने पर वह साधक आनन्द से सराबोर संप्लावित होना है। यह निश्चित ही परमानन्द को प्रदान करता है।[1]

धारणा - 47

बहुत देर काल के बाद प्रेमियों बांधवों से मिलने से जो महान् आह्लादित कर देने वाला आनन्द मिलता है वही आनन्द ब्रह्मतत्व के ध्यान करके ब्रह्म तत्व को प्रकाशित (उत्पन्न) कर लेने से भी होता है जिससे साधक तन्मना हो जाता है। उसे ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी दिखाई नहीं देता।[2]

---

1. लेहनामन्थनाकोटैः स्त्री सुखस्य भरात् स्मृतेः।
शक्त्य भावेऽपि देवेशि भवेदानन्द संप्लवः ।। 69

2. आनन्दे महति प्राप्ते दृष्टे वा बान्धवे चिरात्।
आनन्दमुद्गतं ध्यात्वा तल्लयस्तन्मनाभवेत् ।। 70

धारणा - 48

जैसे मनुष्य खान-पान और षड रस युक्त व्यञ्जनों के आस्वादन से प्रसन्न होता है परिपुष्ट होकर जम्भाई (अंगड़ाईयां) लेता है वैसे ही ऊर्ध्वमुखी एवं अधोमुखी सहस्रार चक्र के मध्य में जब साधक प्राण वायु को पूरित कर लेता है भर लेता है सुषुम्ना का विकास कर स्थिर हो जाता है तो उसे भी उपरिलिखित सभी खान पान जैसे प्राप्त आनन्द से भी परम श्रेष्ठ ब्रह्मानन्द प्राप्त होता है।[1] इस विषय को भट्ट नारायण विवेचित करते हुये लिखते हैं कि जो त्रैलोकि में प्रत्येक भावों में आनन्द है या शून्यादि पदार्थों में आनन्द अभिव्यक्त होता है वह किञ्चिन मात्र है वस्तुतः शून्य की प्राप्ति से जो आनन्द उत्पन्न होता है वह भव सागर को तारने वाला आनन्द है।

धारणा - 49

गीतादि विषयों के आस्वादन से जो एकात्मक परम सुख प्राप्त होता है कभी तार ऊपर जा रही है कभी मन्द्र नीचे आ रही है और कभी से तार और मन्द्र को बुलाता हुआ राग मध्य में लयबद्ध हो जाता है और श्रोताओं को आनन्द विभोर करता है वैसे ही साधक का मन भी साधना में लीन होने के पश्चात् उछलता कूदता नीचे ऊपर छलांगे लगाता हुआ मन को आरूढ़ करता हुआ आत्माराम हो जाता है।[2] इसी के संदर्भ के अनुरूप अभिनवगुप्त भी लिखते हैं वैसे ही मधुरगीत मधुर स्पर्श एवं चन्दनादि का स्पर्श से हृदय में स्वतः स्पन्दन होने लगता है।[2]

1. जग्धपान ....भवेत् ।। 71
2. गीतादि................................मनोरूढेस्तदात्मता ।। 72
तथाहि ....स्पन्दमानता ।।
-तं०लो० आ०-3, श्लो० - 209

धारणा - 50

यहां यहां भी मन को जाकर सन्तोष प्राप्त होवे वहीं-वहीं साधक को धारणा करे वहीं वहीं सर्वत्र परमानन्द ने ही अपने आप को परिवर्तित किया है ऐसा ध्यान करते हुये योगी सर्वत्र भगवान का ही वास निवास समझते हुये अपने आप को भी परानन्द के अनुरूप उसी के स्वरूप को प्रवर्तित कर लेता है। स्पन्दकारिका भी कहती है कि जब सभी क्षोभ समाप्त हो जाते हैं तभी परमपद को प्राप्त होता है।

शिव दृष्टिकार सोमानन्द लिखते हैं कि भोषा औषधी में भी जो शिव स्वरूप की भावना करता है और यही सोचे की यह काष्ठ जड़ी-बूटियां रस युक्त फल हिम बर्फ जल सबमें शिव ही शिव व्याप्त है इनसे अतिरिक्त कोई नहीं है जो ऐसी भावना रखता है वह शिवमय हो जाता है।[1]

धारणा - 51

जब साधक साधनावस्था में स्थित हो जाता है तो बाह्य भाव से प्रतीत होता है कि उसे नींद आ रही है। यहीं वह अवस्था है जब योगी के हृदय में परादेवी का प्रकाशन हो जाता है। मन स्थिर हो जाता है। वास्तव में परमानन्द की चरमोत्कर्ष अवस्था है। निद्रा आने से पूर्व एवं जागने के कुछ पल जो योगी के पहुओं की स्थिति होती है यही साधनारत की होती है।[2]

1. यत्र-यत्र ....सप्रवर्तते ।। 73
यदा क्षोभः प्रलीयेत तदा स्यात् परमं पदम् ।।स्प०का०, श्लो० -9
शिव भावन योष्टया बद्धे मन सि संसृते : ।
काष्ठ कुड्यादिषु दिप्त रसवच्छिवहेयता ।।-शि०दृ०-7, श्लो० -47-48

2. अनागतायां ....प्रकाशते ।। -वि०भै० - 74

धारणा - 52

साधक को ध्यान के लिए प्रातः सूर्य में ध्यान लगाये रात को प्रज्वलित हुई चित्रित दीपशिखा के अग्र भाग में दृष्टि जमाकर साधना करे चित्त लगाये। इस क्रम से सूर्य एवं दीपक दोनों ही अन्ततः योगी के अन्दर ही प्रकाशित हो जाते हैं और योगी का स्वात्म स्वरूप प्रकाशित हो उठता है, जिससे अभेदात्मक ज्ञान की पराकाष्ठा को प्राप्त होता है।[1]

धारणा - 53

इस धारणा में मुद्राओं का प्रयोग हुआ है। योगी को साधना में मुद्रायें भी अपेक्षित हैं। जिसका वर्णन करते हुये इस श्लोक में कहा गया है कि कंकाल (मृत देह का पिञ्जरा विशेष) से दृष्टिपात करते हुये करङ्कणी मुद्रा को अपनायें, क्रोध से देखी क्रोधनी भैरवि मुद्रा से एव जीव से रक्त चाट रहा है पराशक्ति को देखते हुये स्वयं भी जिह्वा निकाल कर लाल वर्ण की करके, तथा खेचरी आकाश में व्याप्त खेचरी मुद्रा में अपनाये इन मुद्राओं के धारण से साधक पराशक्ति को प्राप्त कर लेता है।[2]

धारणा - 54

वस्त्र - ऊन - मृगचर्म आदि मृदु (कोमल) आसनस्थ होकर हाथ और पांव को निराश्रित करते हुये बैठना चाहिये इन्हीं आसनों को बिछाकर स्वस्तिक पद्मासन सिद्धासन लगाकर गोदी मार कर सीधे हाथ रख कर बैठना चाहिये तथा

---

1. तेजसा ....प्रकाशते ।। 75
2. करङ्कया ....प्रकाशते ।। 76

ब्रह्मदण्ड का आश्रय लेकर बैठे ताकि शरीर के नीचे भाग का वजन नीचे और ऊपर भाग का ऊपर ही रखते हुये स्थित हुआ आसनस्थ हुये योगी की मति (बुद्धि) सत्व गुण सम्पन्ना हो जाती है जिससे उसे पूर्ण विश्रान्ति प्राप्त होती है ।[1]

धारणा - 55

कोमल आसनस्थ हो करके योगी अपनी बाहों को अर्ध चन्द्राकार मोड़ कर अपनी कांख पर (कटि भाग पर) टिका दे । कांक्षगत आकाश में उत्पन्न उस विश्रान्त दशा में चित्त की एकाग्रता को बढ़ाने से यह मुद्रा सिद्ध हो जाती है जिसके सिद्ध होने से मन हृदयाकाश में लीन हो जाता है और योगी का स्वात्म स्वरूप परं शान्ति को प्राप्त होता है ।[2]

धारणा - 56

स्थूल - देह गेह घट पट आदि नाशवान् वस्तुओं पर योगी आश्चर्यमय दृष्टि से देखे और तुरन्त यह समझकर की यह नष्टीय है उन पदार्थों से दृष्टि हटाकर द्वादशान्त में ही स्थापित करे ऐसा करने से शिव को प्राप्त होता है । शिव लोक को जाता है ।[3]

---

1. मृद्वासने स्फिजैकेन हस्तपादौ निराश्रयम् ।
निधाय तत्प्रसङ्गेण परापूर्णां मति भवेत् ।। 77

2. उपविश्यासने सम्यग् बाहू कृत्वार्धकुञ्चितौ ।
कक्ष्व्योम्नः मनः कुर्वन्शममायाति तल्लयात् ।। 78

3. स्थूल रूपस्य भावस्य स्तब्धां दृष्टिं निपात्य च ।
अचिरेण निराधारं मनः कृत्वा शिवं व्रजेत् ।। 79

धारणा - 57

मुख को खोल कर (स्फारित कर) जिह्वा को मोड़ कर तालु में लगाये इसी के मध्य में चेतना को स्थापित करे अर्थात् ध्यान केन्द्रित करे । ऐसी मुद्रा बना लेने के पश्चात् मन से हकार रूपी प्राण का उच्चारण करे ऐसा करने से भी परं शान्ति में तल्लीन हो जाता है । विवेक मार्तण्ड में स्पष्ट किया गया है कि मुख खोल कर तालु से जिह्वा का स्पर्श करके रहने से खेचरी मुद्रा बनती है ।[1]

धारणा - 58

आसन पर बैठने पर, सोते हुये बैठते करके केवल निराधार की ही विशेष भावना करता हुआ योगी अपनी देह को मन में समाहित करे तदनन्तर अर्थात् क्षीण से परम क्षीणाशय परम शून्यालय में प्रवेश करता है । इसी के अनुरूप पाठ भागवत महापुराण में भी मिलता है जिसमें साधक को चलते फिरते बैठते उठते सर्वत्र हर समय प्रभु का ही ध्यान एवं कल्पना करनी चाहिये ।[2]

धारणा - 59

चलासन पर बैठे हुये की तरह आसनासीन हुआ योगी शनैः शनैः देह का परिचालन करे शरीर को हिलाता डुलाता रहे । ऐसा करते हुये मन में परम शान्ति को प्राप्त करता हुआ वह दिव्य आकाश को प्राप्त कर लेता है परम प्रकाश स्वरूप भैरव को प्राप्त कर लेता है ।[3]

---

1. मध्यजिह्वे .... प्रलीयते ।। 80
   कपालकुहरे .... खेचरी ।। विवेकमार्तण्ड ।।
   द्रष्टव्य ग्रन्थ वि०भै०, पृ० - 92
2. आसने .... क्षीणाशयो भवेत् ।। 81
3. चलासने .... दिव्यौघमाप्नुयात् ।। 82

धारणा - 60

भैरव की तरह ही समझे को सारे तत्व एवं सारा विश्व मूर्द्धा में ही से उत्पन्न हुआ है यह सर्व जगत् भैरवाकार और उसी परम शून्य में लीन हो रहा है ऐसा चिन्तन करने वाला योगी तत्वों में परमतत्व प्रकाश को अपने में समाहित कर भैरव स्वरूप हो जाता है ।[1]

धारणा - 61

जागर = शयन एवं सौषुप्ति = ज्ञान विकल्प एवं अविवेक इन तीनों बाह्य तत्वों को प्रकाशित करते हैं ज्ञान भी केवल लोक का ज्ञान दाता है जबकि द्वैतदायी संकल्प विकल्प एवं विवेक तो गौण है फिर भी इनसे ऊपर उठता हुआ योगी इस सारे संसार का भैरव रूप जानता हुआ अनन्त अनन्त प्रकाश से आभूत ढक जाता है । श्रुति भी कहती है कि यह सारा विश्व ब्रह्म है ।[2]

धारणा - 62

जैसा कि सभी भैरव मन्दिरों में भैरव की मूर्ति के दर्शन करते हुये देखते हैं कि भैरव का वर्ण रूप बिल्कुल काला है जिह्वा बाहिर निकली हुई है वैसा ही इस श्लोक में भी प्रतिपादित हुआ है ।

भैरव का रंगरूप अमावस्या को काली घोर काली अंधियारी रात की तरह ही अत्यन्त काला है और योगी इसी तिमिरता में अंधकार में {अमावस्या में} साधना करते हुये भैरव को अवश्य प्राप्त करेगा ऐसा प्रबल मत प्रदर्शित किया गया है ।[3]

---

1. लीनं ....प्रकाशते ।। 83
2. किञ्चज्ज्ञातं ....प्लुत ।। 84
   सर्वं खल्विदं ब्रह्म ।। - छा० उ० 3/14/1
3. एवमेव.....................रूपमेष्यति ।। 85

धारणा - 63

यदि अमावस्या से रहित रात में भी साधक अपने आगे अन्धेरा छाया हुआ है आँखें बन्द करके आसनस्थ होकर बैठे और यह देखे कि सर्वत्र बाल बिखेरे हुये जिह्वा बाहर निकाले हुये मेरे सामने केवल केवल भैरव ही स्थित है ऐसा साधक का मन भैरव को लीन हो जाता है।[1]

धारणा - 64

साधना में लीन योगी की जिस किसी भी इन्द्रिय से सांसारिक सम्बन्ध छूटने वाला व्याघात हो जाये उसमें अद्वय का प्रकाश उत्पन्न हो चुका होता है और उसी प्रकार यदि नहीं हो तो निरोधपूर्वक प्रकाशित करे ऐसा करते हुये साधक शून्य में स्थित हुआ उसी शून्य में अपनी आत्मा को प्रकाशित होता हुआ देखता है।[2]

धारणा - 65

बिन्दु एवं विसर्ग से रहित महान अभ्युदयकारी अकार का जप करे इसी से हे देवि सहसा योगी के अन्तःकरण में महान प्रकाश का भैरव का ज्ञान से परिपूर्ण ज्ञान घन परमेश्वर का उदय हो जाता है। इसी से अद्वय की स्थिति में स्थित हो जाता है। तभी श्रुति में कहती है कि ब्रह्म एक ही है और अद्वयस्वरूप है।[3]

---

1. एवमेव ....भवेत् ।। 86
2. यस्य ....प्रकाशते ।। 87
3. अबिन्दुमविसर्गश्च..परमेश्वरः ।। 88

धारणा - 66

विसर्ग युक्त वर्ण के एवं विसर्ग रहित वर्ण के अनुसार ही चिति को जाने। साधक ऐसा जाने कि यह चित्त निराधार है और इस निराधार चित्त के द्वारा साधक शाश्वत ब्रह्म का स्पर्श कर लेता है।[1]

धारणा - 67

अपने आत्मा को व्योमाकार निराकार निराश्रित जाने एवं सभी दिशाओं से अनावृत अर्थात् सभी दिशायें इसी से ज्ञान गोचर हैं इस प्रकार यह आत्मा ही नहीं आत्मा रूप में स्थित चिति शक्ति निराश्रित है स्वयं प्रकाश है जो ऐसा ज्ञान रखते हैं वह अवश्य चिति शक्ति के दर्शनों का लाभ पाते हैं।[2]

धारणा - 68

किसी अंग में सुई की नोक चुभो देने से जैसे वहीं चिति शक्ति चेतना चेतित हो उठती है उसी स्थान पर अपने मन को स्थिर करता हुआ योग निर्मल भैरव लोक को प्राप्त करता है।[3]

धारणा - 69

चित्तादि तत्वों की इस शरीर में कोई सत्ता नहीं है इस प्रकार यह जानते हुये भी कि मेरा शरीर चित्त से युक्त है परन्तु ऐसी विपरीत भावना के करने से कि यह भी चित्त से युक्त नहीं है तब विकल्प की हानि होगी और हानि होने से मनुष्य विकल्प भावों से ऊपर उठता हुआ उन्मज्जन स्वरूप भैरव को उदित करेगा।[4]

---

1. वर्णस्य ....ब्रह्मसनातनम् ।। 89
2. व्योमाकारं ....दर्शयित्तदा ।। 90
3. किञ्चिदङ्गं..........................गतिः ।। 91
4. चित्ताद्यन्तः..........................भवेत् ।। 92

धारणा - 70

माया तत्व से मोहित कर जीव भेदात्मक स्थिति को प्राप्त होता है। भेद दृष्टि का प्रसार करना मायाका धर्म है न कि चैतन्य का। इसी तरह कला तत्व का धर्म कुछ करना एवं विद्या तत्व का ज्ञान कराना है। इसी प्रकार से सभी तत्वों के विषय में चिन्तन करने वाले योगी की स्थिति अलग से न रहकर अभेदात्मक हो जाता है वह विभेदकों को अपने परात्पर ज्ञान से काट डालता है। इस तरह ऊपर उठता हुआ योगी शुद्ध, कूटस्थ, सर्वोत्तीर्ण, स्वात्मस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है।[1]

धारणा - 71

योगी को चाहिये जो क्षण - क्षण बदलने के साथ ही साथ सभी इच्छायें उत्पन्न होती हैं उन्हें तत्क्षण वहीं उठते ही शान्त कर दे यहां से यह उत्पन्न हुई है वहीं वही यह लीन हो रही है ऐसा जानते हुये स्वात्म स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है लीन हो जाता है।[2]

धारणा - 72

न ही इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया मुझसे उत्पन्न हुई हैं और न ही मुझमें इनकी कोई स्थिति ही है तो ऐसी स्थिति में मैं कौन हूं ? मैं तत्व ही हूं ऐसा विमर्शात्मक ज्ञान पैदा होता है जिससे साधक उसी तत्व में तन्मन लगाकर विलीन विश्रान्ति को प्राप्त भैरव से युक्त हो जाता है।।[3]

---

1. माया ....पृथक्भवेत् ।। 93
2. क्षणाति ....लीयते ।। 94
3. यदा ....भवेद् ।। 95

धारणा - 73

इच्छा ज्ञान अथवा क्रिया , किसी के भी उत्पन्न होने पर या उनसे उन्मुखता पूर्वक चित्त को हृदयाकाश में ही निवेशित करे तथा आत्मा ही सब कुछ है ऐसा भावना को प्रबल बनाते हुये अनन्य चित्त से संलग्नित योगी को परम तत्व के दर्शन हो जाते हैं ।[1]

धारणा - 74

हे प्रिये = सुनो यह सारा जगत् नाशवान् है निराधार एवं भ्रमात्मक वृत्ति स्वरूप है इस तरह ज्ञान भी निर्मित निर्हेतुक हो चाहिये वही ज्ञान वास्तव ज्ञान है वस्तुतः यह जगत् एवं वपु कुछ भी नहीं है इस तरह के भावों को रखते हुये वह साधक शिव स्वरूप हो जाता है ।[2]

धारणा - 75

चिति शक्ति (चेतन) का जो चित् स्वरूप धर्म है वही सभी देहों में अवस्थित है इससे अतिरिक्त विशेष कुछ भी नहीं है । वही चेतन मुझ में है और अन्य सब में भी है ऐसी भावना से आत प्रोत भवसागर को जीत लेता है ।

चिति के विषय को स्पष्ट करते हुये दुर्गा सप्तशति भी कहती है कि सकल जगत में चिति शक्ति से ही व्याप्त है ऐसी विश्व व्यापिनी चिति शक्ति के चरणों में बार-बार नमस्कार है प्रणाम है ।[3]

---

1. इच्छायामथवा ....दर्शनम् ।। 96
2. निर्निमित्तं ....प्रिये ।। 97
3. चिद्धर्मा ....भवाज्जनः ।। 98

धारणा - 76

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य ये छः चित्तगत दोष हैं इनमें से किसी एक में योगी को धारणा प्रबल = दृढ़ करनी चाहिये ऐसा उसी धारणा में उपशम (शान्ति) को प्राप्त हो जाते हैं इस तरह बुद्धि को इनसे हटाते हुये इन पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् केवल ब्रह्म तत्व ही अवशेष रह जाता है अतः इस षड् और वर्ग पर योगी को विजय पाने के लिए सतत उद्योग करना चाहिये[1]।

धारणा - 77

यह सारा संसार इन्द्रजालमय (जादूगर की नगरी के समान) है जिसे चित्रकेतु ने अपने हाथों से चित्रित किया है अर्थात् कल्पनाशील है भ्रमादि दोषों के कुचक्करों में डालने वाला है इस प्रकार इसमें कोई वास्तविकता नहीं है ऐसा ध्यानरत साधक परम सुख को प्राप्त होता है[2]।

धारणा - 78

साधक अपने चित्त को न दुःख में प्रविष्ट होने दे और न ही सुख से अनुरञ्जित ही होने दे दोनों भावों को समान समझते हुये उदासीन स्वरूप समान भाव रखते हुये मध्य मार्गानुगामी बनते हुये जो सकल जगत् के नाश के बाद बचता है इसी परम भैरव का ध्यान एवं ज्ञान करे[3]।

---

1. काम ....तत्तत्वम्वशिष्यते ।। 99
2. इन्द्रजालमयं............................सुखोदगमः ।। 100
3. न चित्तं ....तत्वमवशिष्यते ।। 101

धारणा - 79

अपने शरीर को हीन छोड़कर अपितु सर्वत्र मैं ही व्याप्त हूं यह सकल विश्व मुझ से परिपूर्ण है ऐसी भावना अपने में मन पैदा करे । इसका दृढ़ता से मन के द्वारा दृष्टि डालने वाला परमेश्वर से अतिरिक्त कुछ भी नहीं देखता है और अपने से अतिरिक्त भी किसी को नहीं देखता है ।[1]

धारणा - 80

घटाकाश में जो विज्ञान छुपा हुआ है वह कुछ अन्तर को छोड़ मुझमें भी समान भाव से वही भाव एवं विज्ञान है । जो शिव के इच्छा , ज्ञान एवं क्रियादि व्यापार है वही मेरे भी है । क्या ये सर्वत्र व्याप्त मुझ से उत्पन्न नहीं हुये हैं तो और किससे हुये हैं अर्थात् मुझ से ही उत्पन्न हुये हैं । साधक ऐसी भावना को स्थिर बनाता हुआ सर्वत्र व्याप्त हो जाता है । सर्वदिग्गोचरी बन जाता है ।[2]

धारणा - 81

ग्राह्य , ग्राहक जैसा ज्ञान सभी देह धारियों में तुल्य पाया जाता है । योगियों का सामान्यों से भिन्न होता है क्योंकि उनमें विशेष परम एवं प्रभु का परमांश जो व्याप्त होकर उनके ज्ञान को प्रकाशित कर रहा होता है अतः उन योगियों का विशेष होना स्वतः सिद्ध होता है ।[3]

---

1. विहाय .... भवेत् ।। 102
2. घटादौ .... सर्वगः ।। 103
3. ग्राह्य .... साधारणता ।। 104

धारणा - 82

अपनी ही तरह सभी के शरीरों को समझे अपनी पीड़ा के दुःख को अनुभव कर अन्य की पीड़ा का भी अनुमान लगाये । जितना ज्ञान एवं वैज्ञानिकता मेरे शरीर में व्याप्त है उतनी ही अन्य शरीर धारियों में भी निहित है । इस प्रकार के ज्ञान को अन्दर ही अन्दर तर्क से ऊहापोह से भावना प्रबल करे । कुछ दिनों में ही सर्वव्यापक परमात्मा इस शरीर को छोड़कर समस्त संसार में व्याप्त होने जाता है ऐसा सोचे । इसी चिन्तन से साधक जीवन्मुक्त हो जाता है ।

जैसा कि त्रिरूपाद्यपंचाशिका में भी बताया गया है कि साधक को चाहिये कि अपने शरीर की तरह ही अन्य देहों में भी अपने तुल्य ज्ञान की भावना करे । ऐसा करने पर वह कुछ ही दिनों में सर्वव्यापक हो जाता है ।[1]

धारणा - 83

हे मृगनयनि । मन को आधार हीन मान करके संकल्प विकल्प की बिल्कुल ही भावना न करे । तब योगी आत्मा को परमात्मा में विलीन कर दे वही आत्मा जब परमात्मा में विलीन कर दे वही आत्मा जब परमात्मा में विलीन हो जाता है तो वह भैरव कहलाता है । यही भैरव है ।[2]

---

1. स्ववदन्यशरीरेऽपि .... भवेत् ।। 105
उत्क्रम्य विश्वतो........................ मृतो लोकः ।।
त्रिरूपाद्यपंचाशिका, श्लो० - 5
2. निराधारं .... मृगलोचने ।। 106

धारणा - 84

सभी भावा भाव पदार्थों का ज्ञाता सकल ब्रह्माण्ड का ज्ञान रखने वाला, सभी का रचयिता और सर्वत्र कण - कण में व्यापक विस्तृत रूपेण व्याप्त प्रभु है परमेश्वर ही है और वह परमेश्वर का परमांश स्वरूप मैं हूं ऐसी शैवधर्मी भावना से ओत-प्रोत होकर विश्वसनीय तौर पर साधक शिव हो जाता है ।[1]

धारणा - 85

जल और उसमें उर्मियां की तरह वहिन एवं उसमें निहित रूपानुगामी ज्वालाओं के समान सूर्य एवं उसमें निहित अभिन्न रूप से विद्यमान किरणों के सदृश मैं और भैरव हम दोनों एक ही है अर्थात् मैं भी उसी भैरव का हूं और इसी तरह विश्व रूपी किरणों भागयों का विशेष ज्ञान रखना चाहिये ।[2]

धारणा - 86

घूम - घूम कर अपने शरीर को ﴾घुरमुटाकार घूम कर﴿ जल्दी - से पृथिवी पर पड़ने से जो सहसा क्षोभ शान्त हो जाता है उसी क्षोभ चञ्चल शक्ति के विराम होने पर जो उपलब्धि होती है आभास प्रतीति होती है वही परा दशा को उत्पन्न करने योग्य है । और इसी से परा दशा उत्पन्न होती है ।[3]

धारणा - 87

आधार एवं शक्ति से हीन ﴾ज्ञान के विषय भूत पदार्थों में असामर्थ्य ﴾शक्तिहीन﴿ होने के कारण जो चित्त में लय उत्पन्न होता है अर्थात् अज्ञान के कारण जो चित्त का लय होता है और इसी के फलस्वरूप जो अनाश्रित शक्ति में समावेश होता है उसी से क्षोभ से विराम लगता है और साधक भैरव स्वरूप हो

---

1. सर्वज्ञः ....दाढ्यच्छिवो भवेत ।। 107
2. जलस्येवोर्मयो ....विभेदतः ।। 108
3. भ्रान्त्वा.....................जायते दशा ।। 109

जाता है ।[1]

धारणा - 88

हे देवि ! सुनो । अब मैं उस शिव परम्परा को बतलाने जा रहा हूँ जिससे कैवल्य की प्राप्ति होती है वह है स्तब्ध होकर सतत हर समय आँखें खोल कर अन्तः करण में प्रभु के दर्शन करते रहना ऐसी अवस्था को भैरवि मुद्रा कहते है इससे शुद्ध तत्व को साधक त्वरितगति से प्राप्त कर लेता है ।[2]

धारणा - 89

कूपादि जैसे महान गहरे खड्डों में ऊपर खड़े होकर नीचे झांकने से जैसे अचानक दिल घबरा जाता है और कुछ काल के लिए स्तम्भित हो जाता है ऐसे ही विकल्पभाव से रहित होकर दृढ़ मति वाला साधक सतत अभ्यास से अपने चित्त में प्रकाश को प्रस्फुटित कर देता है ।[3]

धारणा - 90

यहाँ-यहाँ भी मन जाता है जिसे-जिसे भी प्राप्त करता है बाह्याकाश में (बाहरी शरीरों में) या अपने आभ्यन्तर में । वहीं-वहीं शिव अवस्था ही व्यापक होने से दृष्टिगोचर होता है फिर शिव के अतिरिक्त भला किसको प्राप्त होगा । गीता में भी भगवान श्री कृष्ण कहते हैं कि यहाँ-यहाँ मन जो कि चञ्चल एवं अस्थिर है चलता है वहीं वहीं उसको नियमित कर आत्मा के वश में लाये ।[4]

---

1. आधारेष्वथवाऽशक्त्या.......................वपुः ।। 110
2. सम्प्रदाय.......................स्तब्धात्रयोः ।। 111
3. कूपादिके ....सद्यश्चित्तलयः स्फुटम् ।।-वि0भै0-112
4. यत्र.......................सम्प्रयाति ।। -वही - 113
   यतो ....वशं नयेत् ।। गी0 6/26

धारणा - 91

यहाँ-यहाँ भी चित्त आँख के मार्ग से जिस किसी को देखना चाहते हैं वहीं-वहीं चैतन्य युक्त चेतन अवस्थित है ऐसे भावों को व्यक्त करें उसी विश्व व्यापक विभु के सन्मात्र रूप का यह चित्त तत्व धर्मि होने से उसी में लीन हो जाता है । इसकी आत्मा परमानन्द से भर जाती है ।[1]

धारणा - 92

(छिक्का) छींक आने के बाद, भय से, शोक से व्याकुल मन के होने से, प्रथमतः गुफादि में प्रवेश से डर लगने से मन की स्थिति एवं रण छोड़ कर भागने इन सबसे अतिरिक्त अत्यधिक भूख लगने के बाद भर पेट भोजन एवं कुतूहल शोर मचाने या किसी आश्चर्य मय घटना के घटने के बाद जो मन की क्षण भर के लिए स्तब्द कारी सत्ता बनती है बिल्कुल परिशुद्ध ऐसी ही सत्ता के समीप एवं तुल्य ब्रह्म प्राप्ति की सत्ता कही गयी है । स्पन्दकारिका में भी इनमें से कुछ का तुल्यात्मक पाठ मिलता है जैसे कि 'अति क्रुद्ध एवं प्रहृष्ट व्यक्ति का मन कुछ क्षण के लिए रूक जाता है तब उसे उसको ईश्वर प्राप्ति के लिए पकड़ लेना चाहिये ।[2]

---

1. यत्र ....भरितात्मता ।। वि०भै० ।।4
2. क्षुताद्यन्ते ....समीपगा ।। - वही - ।।5
   अतिक्रुद्ध: प्रहृष्टो वा ....स्प०का० श्लो० 22

धारणा - 93

अर्थात् (स्मृतिमान्) किसी स्थान या वस्तुओं में से साधक अपनी दृष्टि को तुरन्त हटा ले ऐसा लगने लगे कि मैंने इन्हें कभी पूर्व में देखा ही न हो ऐसा करता हुआ दृष्टि चुराता हुआ साधक अपने शरीर को निराधार आधारहीन करके प्रभु में प्रसारित करता है ।[1]

धारणा - 94

हे देवि । कुछेक वस्तुओं के ढेर लगाकर उन पर दृष्टिपात करे और शनैः शनैः अतात्त्विक जानकर दृष्टि हटा ले इससे जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसके सहित चित्त में हृदयान्त में प्रविष्ट हो जावे ।[2]

धारणा - 95

भक्ति रस के उद्रेक से या परम वैराग्यता के उत्पन्न होने से जो बुद्धि निश्चयात्मक सभा से विरलता का भाव रखती हुई बनती है वही बुद्धि शक्तिः शांकरी कहलाती है और तदनन्तर शिवात्मक भावना से ओतप्रोत रहती है ।[3]

---

1. वस्तुषु .... प्रभुः ।। वि०भै० - 116
2. कचिद्वस्तुनि .... भवेत् ।। 117
3. भक्त्युद्रेकाद् .... शिवः ।। - वही - 118

ऐसा तो कर्म० गुरू में कहा गया है कि हे शिव आत्मा तुम हो और शरीर घर है।

स्तवचिन्तामणि में भी कहा गया है कि हे शिव { भव } आपकी भक्ति कल्प वृक्ष के तुल्य है और अणिमादि सिद्धियों की प्राप्ति, सदाशिव प्रभृति का ऐश्वर्य मुक्ति ये सब कल्प वृक्ष के पत्तों के तुल्य हैं। जैसे कल्प वृक्ष सभी इच्छाओं को पूर्ति करता है वैसे ही आपकी भक्ति है।[1]

धारणा - 96

वस्तुओं के भीतर तक जान लेने से जैसे मनुष्य में उसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म अणु शून्य रूप समाहित हो जाते हैं और धीरे - धीरे शून्य ही शेष रहता है। उसी शून्यता का आश्रय लेकर मन में ध्यान करके ज्ञान रखने वाला ज्ञानी भी परमात्म शान्ति को प्राप्त हो जाता है।[2]

धारणा - 97

कुछ सीमित ज्ञान एवं सीमित स्मृति जो रखते हैं जैसे शौच अशौच सम्बन्धी, यज्ञ यागादि सम्बन्धी यह सब की सब भगवान शम्भु के दर्शन के लिए अनपेक्षित है इनसे शम्भु के दर्शन नहीं हो सकते जो शौचाशौच से रहित होकर अपने शरीर का वास्तविक ज्ञान न रखते हुये केवल प्रभु के ही निर्विकल्पक स्वरूप का ध्यान करते हैं उन्हें ही परम सुख प्राप्त होता है वही परम पद प्राप्त करते हैं।[3]

---

1. आत्मा त्वं ....स्मृति
संचार.........................तवाराधनम् ।।
कर्मगुरौ...................भवद्भक्तिकल्पपादपपल्लवाः ।।
- स्तव० चि०मणि, श्लो० - 55

2. वस्तुष्वन्तरे ....प्रशाम्यति ।। वि०भै० - 119

3. किञ्च ....सुखी भवेत ।। 120

मालिनी विजय तन्त्र में भी बताया गया है कि यह शुद्ध है अमुक अशुद्ध, यह भक्ष्य या भक्ष्य है यह निषिद्ध है (विधान है) यह निषिद्ध है यह सब तात्त्विक न होकर मानवों की जीवन शैली का विधान मात्र है वस्तुतः साधक का इनसे कोई सम्बन्ध नहीं होता उसका सम्बन्ध केवल परमार्थ से है जिस तरह से रहकर उसे मिले वही सर्वश्रेष्ठ साधन है विधान है।[1]

धारणा - 98

सभी प्राणियों में एवं सर्वत्र स्थानों में भैरव ही अपनी लीला का विस्तार करके सूक्ष्मातिसूक्ष्म अणुतक में प्रविष्ट है और उनसे अतिरिक्त परे कुछ भी नहीं है ऐसा भाव रखने वाले साधकों का चित्त भैरवाकार हो जाता है जिसे अद्वयवाद की गति भी कहते हैं। अद्वय की प्राप्ति निश्चित ही हो जाता है।[2]

धारणा - 99

शत्रु मित्र में समानता रखे न कोई मित्र है न शत्रु ही है जितना आनन्द मान में उतना आनन्द अपमानना (अपमान) में भी आ रहा है ऐसे ब्रह्म ज्ञान से सम्पन्न ब्रह्म ज्ञान के परिपूर्ण हो जाने से और इस प्रकार जान करके साधक परम सुखी होता है। इसी भाव को गीता में भगवान श्री कृष्ण जी ने कुछ इस प्रकार स्पष्ट किया है कि जो मानापमान एवं मित्र शत्रु में तुल्य भाव रखता है वही गुणातीत कहलाता है।[3]

1. नात्रशुद्धिर्न....................लिङ्गपूजादिकं न च ।। 74
न चापि ....संग्रह ।। 75
विहितं सर्वमेवात्र प्रतिषिद्धमथापि वा ।..........विधीयते ।। 78
तत्वे चेतः ....तथैव समाचरेत् ।। 79
-मालिनीविजयतन्त्र, पटल - 18

2. सर्वत्र ....परोऽस्तीत्यद्वयागतिः ।।-वि0भै0 121

3. समः ....सुखी भवेत् ।। - वही- 122
मानापमाना.......................गुणातीतःस उच्यते ।। गीता अ0-14श्लो0-25

धारणा - 100

न द्वेष की ही कभी भावना करे न ही कभी राग में डूब जाये दोनों राग द्वेष से विनिर्मुक्त होकर जो साधक ज्ञानी होता है उसी में ब्रह्म प्रवेश करता है । अर्थात् ब्रह्म स्वयं ही उसी परम सात्विक हृदय में प्रविष्ट हो जाता है । ज्ञानियों का यही उपाय है । गीता भी उपदेश करती है कि राग द्वेष को जीतने वाले परम शान्ति को प्राप्त करते हैं ।[1]

धारणा - 101

जो अवेद्य है (केवल योगी जन ही जिसे जानते हैं) सामान्य से अवेद्य, सामान्यों से जो अग्राह्य है जो शून्य है और जो सामान्य तौर पर अभावमय है जबकि वस्तुतः सर्वत्र जो व्याप्त है इन सबमें अवेद्य - अग्राह्य शून्य एवं अभाव को भैरव समाहित है इन सबमें रहता है ऐसी भावना करते करते अन्त में साधक को परमात्मस्वरूप पर भैरव का बोध होना सम्भव हो जाता है ।

विमर्शदीपिका में शून्य का स्वरूप निरूपित करते हुये कहा गया है कि स्वतन्त्र, परिपूर्ण शिव ही शून्यता का आश्रय स्थान है । जिसमें से सारे तत्व निकलते हैं और अन्ततः वहीं लीन भी हो जाते हैं यही शून्यात्मक शिव धाम है ।[2]

---

1. न द्वेषं भावयेद क्वापि न राग भावयेत् क्वचित् ।
राग द्वेष विनिर्मुक्तौ मध्ये ब्रह्म प्रसर्पति ।। वि०भै० - 123

2. यदवेद्यं .... बोधसम्भवः ।। -वही- 124
स्वतन्त्रं परिपूर्णं च शिवाख्यं तत् ।
तत्वानि यत्र लीयन्ते यस्मात् समुदयन्ति च ।। -विमर्शदीपिका ।।

धारणा – 102

नित्य, अनाश्रित (निराश्रय) शून्य – व्यापक और इयता से रहित अर्थात् [illegible] जिससे साधक उभर कर ऊपर उठते हैं अभ्यन्तर आकाश एवं बाह्याकाश में अपने मन को स्थिर करके साधकगण आकाश रहित उस परमधाम को प्राप्त करे उसी निराकाश को प्राप्त कर उसी में समाहित होवे ।[1]

धारणा – 103

यहाँ यहाँ भी मन चञ्चल होकर जाता है वहीं-वहीं से तत्क्षण साधक उसके पंख काट कर निस्तरङ्ग करके मोड़ कर अन्दर ही स्थिर करे ऐसा करने पर मन निस्तरङ्ग हो जाता है उसके पश्चात् परभैरव की समापत्ति होती है ।[2]

धारणा – 104

भय से जो रचना कराता है, पालन करता है, रक्षा करता है एवं संहार भी कराता है जो सर्वत्र अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त है यह भैरव है और भैरव शब्द से ज्ञान प्राप्त करना चाहिये इसी को सन्त महात्मा निरन्तर शिव शिव का उच्चारण करते हुये जप करते हैं ।[3]

---

1. नित्ये निराश्रये शून्ये व्यापके कलनोज्झिते ।
बाह्याकाशे मनः कृत्वा निराकाशं समाविशेत् ।। वि०भै० – 125

2. यत्र-यत्र मनो याति तत्तत् तेनैव तत्क्षणम् ।
परित्यज्यानवस्थित्या निस्तरङ्गस्ततो भवेत् ।। – वही – 126

3. भया सर्वं रवयति सर्वदो व्यापकोऽखिले ।
इति भैरव शब्दस्य सन्ततो च्चारणाच्छिवः ।। – वही – 127

धारणा - 105

स्वतः अनुस्यूत होने वाली इद अहं यह मैं की प्रतिपत्ति से जो ऊपर उठता हुआ मन को निराधार में लगाता है इसी की प्रेरणा से साधक सबसे शान्ति भाव रखता हुआ प्रेम करता है और सबको इस परम कल्याणकारी शान्ति स्वरूप धारणा की प्रेरणा देता है ।

जैसे श्रुति कहती है कि मनुष्य अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए सबसे प्रेम करता है । आगे कहती है कि न यह संसार ही कुछ है और न इसमें किसी प्रकार का कोई सत्ता ही है । वेदान्ती भी कहते हैं कि मनुष्य में ऐसे अनेक भाव उत्पन्न होते है कि मेरा स्थिति सदा बनी रहे, ऐसा न हो कि मैं कभी न रहूँ, ऐसा प्रेम मनुष्य में देखा जा सकता है । इससे बढ़कर और कोई प्रेम नहीं है अतः आत्मा को परमानन्द स्वभाव मानना पड़ता है ।

स्तोत्रावली में कहा है कि हे स्वतन्त्र प्रभु आप ही प्रत्येक पुरुष की आत्मा है जिससे पुरुष अपनी आत्मा से अनुराग रखता है जो भक्त इस तरह के अनायास फूटने वाले भावों को जान लेता है वह संसार को जीत लेता है ।[1]

---

1. अहं ममेत्यादिप्रतिपत्तिप्रसङ्गतः । - वि0भै0 - 127
निराधारे मनोयाति तद्ध्यानप्रेरणाच्छमी ।। बृ0उप0 2/4/5
आत्मनस्तुकामाय सर्व प्रियं भवति ।। - बृ0 उप0 4/4/19
नेह ना नास्ति किञ्चन ।।
मा न भूवं हि भूयासमिति प्रेमात्मनीक्ष्यते ।
अतस्तत्परमं तेन परमानन्दतात्मनः ।।-पञ्चदशी अ0 - 1, श्लोक 8-9
त्वमेवात्मेश ! सर्वस्य सर्वश्चात्मनि रागवान् ।
इति स्वभावसिद्धां त्वद्भक्तिं जानन् जयेज्जनः ।।-स्तोत्रावली 1/7
भट्ट उत्पल

धारणा - 106

यह प्रभु ऐसा नित्य है, विभु है, निराधार है व्यापक और अशेष गुणों का धाम है ऐसे शब्दों को प्रतिक्षण ध्यान करने वाला उन शब्दों के अर्थों को आत्मसात् कर कृतार्थ हो जाता है धन्य-धन्य हो जाता है ।[1]

धारणा - 107

यह सारा जगत् तत्त्वरहित था है रहेगा केवल इन्द्रनगरी की तरह कपोल कल्पना शील जादूनगरी के समान है इस इन्द्रजाल से परिवेष्टित नगरी में रहना भी अनुचित है इससे ऊपर उठना होगा ऐसा चिन्तनशील दृढ़ विश्वसनीय होकर परम अद्भुत शान्ति को प्राप्त होता है ।[2]

धारणा - 108

आत्मा तो निर्विकार है विकारों से रहित है रूप रंग से रहित है उसके लिए क्या ज्ञान और क्या क्रिया यज्ञादि साधन ये सभी प्रकार का ज्ञान बाह्य जगत् का ज्ञान कराने में ही सामर्थ्य रखता है न कि आत्मा का ज्ञान करा सकता है अतः ऐसा जाने की आत्मा के समान ही यह जगत् भी शून्य ही है ।[3]

---

1. नित्यो विभुर्निराधारो व्यापकश्चाखिलाधिपः ।
   शब्दान् प्रतिक्षणं ध्यायन् कृतार्थोऽर्थानुरूपतः ।। - वि०भै० 129

2. अतत्त्वमिन्द्रजालाभमिदं सर्वमवस्थितम् ।
   किं तत्त्वमिन्द्रजालस्य इति दार्ढ्याच्छमं व्रजेत् ।। - वही - 130

3. आत्मनो निर्विकारस्य क्व ज्ञानं क्व च वा क्रिया ।
   ज्ञानायत्ता बहिर्भावा अतः शून्यमिदं जगत् ।। - वही - 131

धारणा - 109

न मैं बन्धन से मुक्त हूं और न मुझे मोक्ष से ही कुछ लेना देना है क्योंकि आत्मा का निर्गुण स्वभाव स्वरूप है। यह बन्धन और मोक्ष एवं जन्म मरण का भय केवल मोह से डरने वालों को ही डराता है और यह सब बुद्धि के विषय हैं जो स्थिर होकर आत्मा में देखकर अपने को प्रधान मानने लगती है। जिसे योगदर्शन में सबीज समाधि भी कहते हैं। जैसे सूर्य का आलोक जल में दिखाई देता है वैसे ही आत्मा में और बुद्धि के प्रतिबिम्ब की यहां कल्पना की गई है।[1]

धारणा - 110

मन सहित सभी इन्द्रियों को एवं उनके विषयों को एवं सभी सुख दुःखों को साथ लेकर जो साधक उन पर विजय प्राप्त कर लेता है इतीन्द्रिय हो जाता है वही सुखस्थ आत्मा में बरतता हुआ आत्माराम कहलाता है।[2]

---

1. न मे बन्धो न मोक्षो मे भीतस्यैता विभीषिका: ।
   प्रतिबिम्बमिदं बुद्धेर्जलेष्विव विवस्वत: ।। - वि०भै० - 132
2. इन्द्रिय द्वारकं सर्व सुख दुःखादि सङ्.गमम् ।
   इतीन्द्रियाणि संत्यज्य स्वस्थ: स्वात्मनि वर्तते ।।-वही- 133

धारणा - 111

बाह्य व भूत सभी को प्रकाशित एवं बतलाने वाला ज्ञान है और आत्मा उन सब ज्ञानादि विषयों का भी प्रकाशक है । इस प्रकार एक ही है और इस एकत्व स्वभाव वाला होने से ज्ञान आत्मा से जुड़ा होने के कारण ज्ञेय को जान लेता है विशेष रूप से भावना से ओत प्रोत हो जाता है ।[1]

धारणा - 112

हे प्रिये : मन = संकल्प विकल्पात्मक, चेतना = अध्यवसायात्मिका बुद्धि शक्ति = विकारकार प्राणरूपा आत्मा = इनसे तीनों से आवेष्टित आत्मा जब ये चारों प्रमाता का भिन्न - भिन्न होते हुये भी आत्मा में विलीन होकर एकाकार हो जाते हैं तथा सभी अच्छी तरह से शिथिल क्षीण हो जाते हैं तब साधक का शरीर सामान्य न रहकर भैरवात्मक शरीर हो जाता है । कठोपनिषद में इसका वर्णन इस प्रकार मिलता है कि जब मन सहित पांचों इन्द्रियां एवं बुद्धि भी काम करना बन्द कर जाती हैं तब इस स्थिति को परम गति माना जाता है ।[2]

---

1. ज्ञानप्रकाशकं सर्वं सर्वेणात्मा प्रकाशकः ।
एकमेकस्वभावत्वाज्ज्ञानं ज्ञेयं प्रकाश्यते ।। -वि0भै0 - 134

2. मानसं चेतना शक्तिरात्मा चेति चतुष्टयम् ।
यदा प्रिये परिक्षीणं तदा तद्भैरवं वपुः ।। - वही - 135
यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ।। - कठोपनिषद् 2/3/10

षष्ठ अध्याय

विज्ञान भैरव का काश्मीर शैवदर्शन में स्थान

विज्ञान भैरव का काश्मीर शैव दर्शन में स्थान

विज्ञान भैरव एक आगम ग्रन्थ है जिसका प्रादुर्भाव के विषय में मत है कि इसका प्रादुर्भाव रूद्रयामल तन्त्र से हुआ है जबकि इसका प्रथमोल्लेख शिवपुराण की कैलाश संहिता के 19 अध्याय के 44वें श्लोक में भी हुआ है जबकि रूद्रयामल तन्त्र के विषय में से उत्पन्न होने के विषय में इसी शास्त्र के प्रथम श्लोकों से ही पुष्टि हो जाती है । स्वयं भगवान के मुख अर्थात् भैरव के मुख से उपदिष्ट होने के परिणाम स्वरूप इसकी महत्ता सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है । इस ग्रन्थ का विषय यद्यपि गम्भीर है तथापि श्लोक रचना शैली बहुत सरल एवं सुबोधगम्य है और वैज्ञानिक दृष्टि से महत्वपूर्ण भी है । यह ग्रन्थ शिवसूत्रों के समान ही अद्वयवाद का प्रतिनिधित्व करता है इस आगम शास्त्र में प्रतिपादित एक सौ बारह धारणाओं में सम्पूर्ण काश्मीर शैव दर्शन सम्प्रदायों के विषयों की झलक मिलती है, जिसके परिणाम स्वरूप भी यह आगम शास्त्र अपने पश्चाद्वर्तित्त सभी काश्मीर शैव दार्शनिकों का प्रतिनिधित्व भी करता है, जैसे इसके विषय में कुछेक निम्नलिखित विशेष मत हैं । जिन्हें पांच भागों में विभक्त किया गया है -

1. विज्ञान भैरव का आविर्भाव - परम सत्ता
2. उपजीव्य - काश्मीर शैव दार्शनिकों के लिए उत्कृष्ट उदाहरण रहा है
3. ग्रन्थ की विशेषता - सुबोध, सरल, भाषा शैली
4. सकल जनमुक्ति प्रदायक - सामान्य से विशिष्ट योगियों एवं गृहस्थियों के लिए ग्राह्य विषय
5. सर्वधर्म समभाव - किसी को भी शत्रु एवं मित्र न मानना इसका महत्वपूर्ण विषय है ।

1. विज्ञान भैरव का आविर्भाव – परमसत्ता

जैसे कि किरण संहिता के मत को प्रस्तुत कर तन्त्रालोक में अभिनव गुप्त जी
लिखते हैं कि सर्वमान्य मत वही होता है,जो किसी सिद्ध पुरूष द्वारा आत्मज्ञान
से प्रसूत है या शास्त्र {आप्त वाक्य} सम्मत हो अथवा गुरू ज्ञान से प्राप्त हो ।
ऐसे ही ठीक इसी प्रकार से हम देखते हैं कि इस आगम शास्त्र {विज्ञान भैरव}
का भी आविर्भाव स्वयं परमसत्ता {भैरव} से ही हुआ है , इसके आविष्कारक
स्वयं भैरव हैं जिन्होंने भैरवि के संशय के निवारणार्थ प्रश्नोत्तर {सम्वाद} रूप
में इसे उपदिष्ट किया हुआ है । जबकि इस शास्त्र के अध्ययन से भी पता चलता है
कि यह एक ऐसे लुप्तागम रूद्रयामल तन्त्र का सार है,जो कि आज अनुपलब्ध है ।
इसी प्रकार से हम देखते हैं कि इन आगमों का एक विशेष कारण रहा है । जैसे
एक समय ऐसा आया कि काश्मीर की पवित्र धरती द्वैतवाद के रोग से बुरी तरह
ग्रस्त हो गई थी, जिसके परिणाम स्वरूप अपने भगवान शिव जी ने अद्वैतवादी
भक्तों पर अनुग्रह कर उन भक्तों में सर्वश्रेष्ठ परमप्रिय भक्त सिद्ध पुरूष वसुगुप्त जी
को स्वप्न में आकर उन पर कृपा करते हुये शिव सूत्रों का रहस्य बताया और उस
स्थान का भी संकेत दिया कि अमुक स्थान पर अमुक शिला पर शिवसूत्र लिखे
हैं , जिसे स्वप्न में चलकर सिद्ध महापुरूष वसुगुप्त जी ने प्राप्त किया और
अद्वैतवाद के प्रचार प्रसार में अपने श्री भट्टकल्लटादि शिष्यों को उपदेश किया था।
जिसके परिणाम स्वरूप आज भी यह लगभग अपने उसी रूप में स्थित है । इसी
प्रकार से इस ग्रन्थ का भी आविर्भाव उसी परम सत्ता से हुआ माना जाता है
जिस परमसत्ता से शिवसूत्रों का आविर्भाव हुआ है । जैसे गीता के विषय में

कहा जाता है कि उसका पठन, पाठन, श्रवण, मनन इसलिए भी सर्वमान्य है कि, क्योंकि वह स्वयं भगवान श्री कृष्ण के मुखारबिन्द से आविर्भावित हुआ है । इसी प्रकार विज्ञान भैरव के ज्ञान की पवित्रता, नित्यता एवं सर्वमान्यता निःसंदिग्ध है, क्योंकि यह स्वयं भगवान भैरव से जगत् कल्याणार्थ भगवती भैरवि के माध्यम रूप में प्रादुर्भूत हुआ है ।

2. उपजीव्य

यह आगम शास्त्र उपजीव्य आगम शास्त्र है, ऐसा इसलिये जैसे महकवि कालिदासादि के लिए पुराण रामायण एवं महाभारतादि अपनी कृतियों (रचनाओं) के लिए उपजीव्य ग्रन्थ माने जाते हैं। वैसे ही यह भी सर्वागम सार स्वरूप अपने परवर्तित्त काश्मीर शैव दार्शनिकों के लिए एक स्रोत रहा, जिसका उदाहरण हमें काश्मीर शैव दार्शिकों की कृतियां ही बताती हैं, जिनमें प्रमुख हैं-श्री क्षेमराज कृत शिव सूत्र विमर्शिनी एवं अभिनव गुप्त रचित तन्त्रालोक प्रमुख माने जाते हैं । इन दोनों में ही इस शास्त्र से अनेक श्लोकों को उदहारण स्वरूप प्रस्तुत किया गया है ।

---

1. रूद्रयामलतन्त्रस्य सारमद्यावधारितम् ।। -वि0भै0, श्लो0 - 160
श्रीमहादेवगिरौ महामहेश्वरः श्रीमान् वसुगुप्तनामा गुरूरभवत् । कदाचिद् असौ द्वैत दर्शनाधिवासितप्राये जीवलोके रहस्य सम्प्रदायो मा विच्छेदि "इत्याशयतः परमशिवेन स्वप्ने अनुगृह्य उन्मिषित प्रतिभः कृतः यथा "अत्रमहीभृति महती शिलातले रहस्यमस्ति तद् अधिगम्य अनुग्रह योग्येषु प्रकाशय" इति । प्रबुद्धश्चासौ अन्विष्यन् तां महतीं शिलांकरस्पर्शमात्रपरिवर्तनतः संवादीकृतस्वप्नां प्रत्यक्षीकृत्य, इमानि शिवोपनिषत् संग्रहरूपाणि शिवसूत्राणि ततः समाससाद ।। ......भट्टकल्लटादिषु सच्छिष्येषु प्रकाशितवान् ।। -शिवसूत्रविमर्शिनि, पृ0 - 4-5

गीता सुगीता कर्तव्याकिमन्य शास्त्र विस्तरैः । या स्वयंव ......विनिःसृतम ।।
-गीतायां भूमिकायाम्

उसके उदाहरणों को ग्रहण करने में भी एक विशेष वैज्ञानिक तत्व रहा वह था, इस शास्त्र की भाषा शैली । इस शास्त्र की भाषा शैली सरल है । जो सर्वजनोपयोगी सी लगती है ।[1]

3. ग्रन्थ की विशेषता

विज्ञान भैरव जैसा कि आगम शास्त्र है, परन्तु इसकी श्लोक रचना बहुत ही सरल एवं बोधगम्य है जिसे साधारण सा संस्कृत का ज्ञान रखने वाला संस्कृतज्ञ या दार्शनिक भी समझ सकता है । यहाँ तक कि शुद्ध हिन्दी भाषी भी पढ़कर अर्थ निकालने में सक्षम लगता है। जैसे उदाहरण स्वरूप - यहाँ यहाँ भी बाह्य एवं आभ्यन्तर मन जाता है वहीं-वहीं शिव ही शिव है ऐसे दृढ धारणा रखने वाला साधक भैरव स्वरूप हो जाता है अर्थात् परमशान्ति को प्राप्त होता है । इसी प्रकार ऐसे अनेक सरल श्लोकों का पाठ मिलता है ।[2]

4. सकलजन मुक्तिप्रदायक

इस आगम शास्त्र की विशेषता केवल इसकी भाषा शैली का सरल होना ही नहीं है, अपितु इससे भी बड़ी विशेषता जो इसके अध्ययन एवं चिन्तन से सामने आती है, वह है, सम्पूर्ण विश्व रूपी कुल को मुक्ति देना । ऐसा इसलिए इस शास्त्र को सभी तरह के साधक प्रिय हैं और उन साधकों के लिए किसी प्रकार का कोई प्रतिबन्ध नहीं है , केवल मात्र साधक को इतना ही ज्ञान होना चाहिये कि

---

1. चिद्धर्मा..............भावजिज्जनः ।। - शिवसू०पा०-1, सू० - 1
   ग्राह्य.......................सावधानता ।।-त०आ० 10, श्लो०-204 पृ० - 2024
2. यत्र.....................यास्यति ।। -वि०भै० , श्लो० - 113

"मुझमें एवं इस सम्पूर्ण विश्व में शिव ही शिव निवास कर रहे हैं, शिव से परे कुछ भी नहीं है[1] मात्र इतनी धारणा से मनोबल को सशक्त बनाये और[2] सर्वत्र राग द्वेष से निर्लिप्त[3] " जो भी प्रिय लगे "खाये-पिये"[4] "नाचे गाये[5]" चाहे "मौज़[6]" मनाये कोई दोष नहीं है "[11] सभी सुख के साधनों के दाता एवं प्रतिगृहीता शिव ही शिव है अर्थात् परमसत्ता है[7]। जबकि हम देखते हैं कि कुछेक शास्त्रों में नियमों के पालन पर आवश्यक बल दिया गया है[8] जिससे सभी प्रकार के साधकों के लिए उनपर चलना कुछ असम्भव हो जाता है। जैसे उदाहरणार्थ पातंजल योग सूत्र के यम में अहिंसादि व्रत हैं या शौचादि नियम सामाजिक दृष्टि से क्लिष्ट हैं। परन्तु गुड़ की तरह न होकर नाम की तरह हैं, गले के सदृश हैं। परन्तु योगी की अपेक्षा समाज के लिए पूर्णतया अमान्य एवं कठिन से लगते हैं, वहीं वि ज्ञान भैरव की धारणायें इन सबसे परे सर्वप्रकार के आनन्द में यहां तक कि "स्त्री भोग[9]" विशेष भी परमसत्ता के द्वारा किया हुआ मानता है , जो आज के एक सामान्य से गृहस्थी के लिए भी ग्राह्य है । यही कारण है कि यह आगम शास्त्र हर प्रकार के शिवभक्त अर्थात् परम सत्ता में विश्वास रखने वालों को मुक्ति प्रदान करता है । इससे भी बड़ी विशेषता है कि यह किसी प्रकार का भी बन्धन अस्वीकार करते हुये,[10] साधक का सदा सदा मनोबल ऊंचा करते हुये विश्वोत्तीर्ण रूपी परम सत्ता को प्राप्त करते हुए जीवन्मुक्ति को प्रदान करते हैं[11]।

---

1. किञ्चिज्ज्ञातं .... भूत् ।। - वि०भै० , श्लो० - 84
2. यस्य.................... प्रकाशते ।। - वही - , श्लो० - 87
3. नद्वेषं .... प्रसर्पति ।। - वही - , श्लो० - 123
4. जग्धिपान.................. भवेत् ।। - वही - , श्लो० - 71
5. गीतादिविषया................ स्तदात्मता ।। - वही - ,श्लो० - 72
6. लेहनमन्थककोटैः .... संप्लवः ।। - वही - , श्लो० - 69
7. यत्र .... संप्रवर्तते ।। - वही - , श्लो० - 73
8. जातिदेश.................. महाव्रतम् ।।-पा०यो०सू०, पा०-2, सू०-31
9. शक्तिसंगम.................. स्वात्मरूपमुच्यते ।। वि०भै०, श्लो० -68
10. न द्वे .... विवस्वतः ।। - वही , श्लो० 132
11. जीवन्मुक्तादि .... क्षिप्यते ।। - वही - श्लो० - 139

5. सर्वधर्म समभावप्रकाशक

काश्मीर के अद्वैतवाद सम्प्रदाय की अपनी एक पृथक् सी पहचान है, जिसके कारण स्वरूप ही इस सम्प्रदाय के लोग आज लगभग पूर्ण विश्व में निवास कर रहे हैं। इस सम्प्रदाय से जुड़ा हुआ अधिकतर बुद्धि जीवि वर्ग है, जिन्हें कश्मीरी पण्डित विशेष कहा जाता है। ये पण्डित लगभग सम्पूर्ण पूर्वोत्तर भारत की साल भर यात्रा भी करते हैं और इनमें सबसे बड़ी विशेषता देखने में यदि कोई है, तो वह निर्वैरता एवं जाति पाति के बंधनों से पृथक् रहना है, अर्थात् यह सम्प्रदाय जाति पाति के किसी भी प्रकार के बन्धनों से रहित सा लगता है, जिसकी झलक हमें इसी आगम शास्त्रमें भी देखने को मिलती है। इन पर विशेष प्रभाव शैवागमों का ही रहा है। जैसे धारणा संख्या 19 में कहा गया है कि अद्वैतमतावलम्बि साधक का न तो कोई मित्र ही होता है, न कोई शत्रु ही माना गया है, ऐसा साधक मान अपमान से सदा सर्वथा रहित रहते हुये ब्रह्म ज्ञान से सम्पन्न अर्थात् परिपूर्ण होकर सदा सदा सुखी रहता है। वह सर्वत्र भैरव को ही देखता हुआ विचरता है, उसे कहीं भी किसी में भी भैरव से भिन्न सत्ता दिखाई नहीं देती है, इसी भावना या धारणा के परिणाम स्वरूप वह अद्वयगति को प्राप्त करता है अर्थात् शिव में समाहित होकर शिवमय हो जाता है। यह आज के युग के लिए सबसे बड़ी देन है। आज हम कहीं न कहीं साम्प्रदायिक दंगे होते देख रहे हैं, जिनके लिए भी इस आगम शास्त्र की शिक्षा होना महत्वपूर्ण बन जाती है।

इसका अन्य समभाव की विशेषता यह है कि यह सम्पूर्ण त्रिक दर्शन का प्रतिनिधित्व करता हुआ ईश्वर के विश्वोत्तीर्ण स्वरूप को मानता है, जिसकी झलक भैरवि द्वारा पूछे गये परम सत्ता विषयक आठों प्रश्नों के उत्तर स्वरूप में मिलती है। इन आठों स्वरूपों को कल्पनात्मक दर्शाते हुये सिद्ध करते हुये भैरव ने भैरवि को भगवान के निष्कल स्वरूप को वस्तुतः प्रस्तुत किया है, जिसके परिणाम स्वरूप भी इसने उन सम्प्रदायों पर आक्षेप भी नहीं किया है। यही कारण है, जिनके कारण प्रस्तुत आगम शास्त्र उच्च कोटि का भी माना गया है।[1]

---

1. समः शत्रौ च मित्रे च समो मानावमानयोः ।
   ब्रह्मणः परिपूर्णत्वादिति ज्ञात्वा सुखी भवेत् ।। -वि०भै०, श्लो० -122
   सर्वत्र भैरवो भावः सामान्येष्वपि गोचरः ।
   न च तद्व्यतिरेकेणपरोऽस्तीत्यद्वया गतिः ।। - वही - श्लो० - 121
   श्रुतं देव मया सर्वं रुद्रयामलसम्भवम् ।
   त्रिकभेदमशेषेण सारात्सारविभागशः ।। - वही -, श्लो० - 1
   किं रूपं तत्वतो देव शब्दराशिकलामयम् ।।
   किं वा नवात्मभेदेन भैरवे भैरवाकृतौ । त्रिशिरो भेद भिन्नम् वा किं वा
   शक्ति त्रयात्मकम् ।। नादबिन्दुमयं वाऽपि किं चन्द्रार्धनिरोधिका
   चक्रारूढ मनच्कं वा किं वा शक्ति स्वरूपकम् ।।-वि०भै०, श्लो० - 2-4
   साधु साधुत्वया पृष्टं तन्त्रसारमिदं प्रिये ।। -वही , श्लो० - 7
   गूहनीयतमं ....प्रकीर्तितम् ।।-वही-, श्लो० - 8
   तदसारतया देवि..............भ्रमम् ।। -वही - , श्लो० - 9
   तत्वतो च नवात्माऽसौ शब्दराशिर्न भैरवः ।। - वही-, श्लो० - 10
   न वासौ त्रिशिरादेवो न च शक्तित्रयात्मकः ।। - वही- , श्लो० -11
   ....शक्तिस्वरूपकः ।। -वही-, श्लो० - 12
   नाद........................भैरवात्मनः ।। -वही- , श्लो० - 15
   अन्तः.......................खिलाधिपः ।। - वही- ,श्लो० - 129
   तद्वपुः......................

पातंजल योग सूत्र एवं विज्ञान भैरव

का तुलनात्मक अध्ययन

पातंजल योग सूत्र एवं विज्ञान भैरव का तुलनात्मक अध्ययन

विज्ञान भैरव में प्रतिपादित काश्मीर शैव दर्शन एवं पातंजलयोग सूत्र में पातंजल योग दर्शन दोनों ही भारतीय दर्शन में विशिष्ट महत्ता रखते हैं। मानव मात्र के कायिक, वाचिक, मानसिक एवं बौद्धिक स्तर का विकास करने वाले हैं। दोनों का सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्ष अपने आप में महनीय हैं। इनमें ऐसी विशेषतायें है, जिनके कारण देश विदेश में शाश्वत काल से इनका उपयोग किसी न किसी रूप में प्रचलित रहा है अथवा होता रहा है।

दोनों दर्शनों में कुछ बातें ऐसी है जो समान रूप से एक ध्येय (लक्ष्य) की ओर परिलक्षित होती दिखाई देती है एवं कुछ तथ्य भी ऐसे हैं, जो इन दर्शनों में विशिष्टता दर्शाते हैं -

इन दोनों दर्शनों का आविर्भाव परम्परा से हुआ माना जाता है। यद्यपि विज्ञान भैरव अथवा काश्मीर शैव दर्शन का आविर्भाव भैरवि - भैरवि से स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है, क्योंकि काश्मीर शैव दर्शन के सभी आगम शास्त्र जिनमें विज्ञान भैरव भी प्रमुख है, भैरव-भैरवि के संवाद रूप में ही उपदिष्ट हुये बताये जाते हैं। जिसका स्पष्ट प्रमाण इन शास्त्रों के आरम्भ में ही मिलता है।

दूसरी ओर पातंजल योग सूत्र अथवा पातंजल योग दर्शन यद्यपि श्रुति-स्मृतियों एवं पुराणों आदि में बिखरे पड़े योग के विविध विधानों का सम्बद्ध एवं सुक्रम रूप से संक्षिप्त संकलन है। स्मृति - पुराण इत्यादि के ज्ञान का मूलाधार श्रुति

...ा है और ... [illegible] स्वयं ब्रह्म माना जाता है , इसलिए अन्ततोगत्वा सांख्ययोग दर्शन का मूल स्रोत भी ब्रह्म ही सिद्ध होता है ।

दोनों का ध्येय (लक्ष्य) एक ही है ।

सांख्य और योग में जीव के बन्धन का कारण अज्ञान माना गया है और यह अज्ञान प्रकृति एवं पुरुष के पृथक न समझ करके एक जानने में है अर्थात् प्रकृति एक स्वतन्त्र जड़ तत्व है, जो सत्व, रज एवं तम इन तीनों गुणों की साम्यावस्था है । यह प्रसवधर्मिणी है और पुरुष के साथ संयोग के कारण इसी के परिणाम रूप में बुद्धि से पृथिवी पर्यन्त तत्वों का विकास होता है । दूसरी ओर पुरुष भी एक स्वतन्त्र तत्व है जो चेतन एवं निर्गुण है , परन्तु प्रकृति एवं पुरुष के मेल से पुरुष उसके गुणों को अपने गुण मान कर सुखी, दुखी एवं मोहित होता है । प्रकृति भी जड़ होते हुये भी चेतन के साथ मेल के कारण चेतनशील जैसी परिलक्षित होती है । इस प्रकार जड़ प्रकृति का चेतनत्व को प्राप्त होना और निर्गुण पुरुष का सगुण होना ही वास्तव में अज्ञान है । जो बन्धन (संसार चक्र) का मुख्य कारण बनता है । पातंजल योग दर्शन इसी अज्ञान को निवृत्त करने के लिए समाधि के रूप में माध्यम प्रस्तुत करता है, जिससे प्रकृति पुरुष विवेक ज्ञान होता है ।[1] इस प्रकार पुरुष अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है , जिसको कैवल्य कहा गया है ।

---

1. तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।। - पा०यो०सू०पा० -1, सू० - 3

विज्ञान भैरव में भी जीव के बन्धन के कारण को अज्ञान ही माना जाता है । वास्तव में जीव मूलतः शिव का ही स्वरूप है और जब शिव स्वेच्छा से जगत्-लीला का प्रसरण करते हैं तो अपने मूल स्वरूप को भुला सा देते हैं । जिसको परतंत्र मान लेने से स्वरूप का एवं शक्तियों का संकोच होता है । शिव की अपनी ही स्वतन्त्र शक्ति की अवान्तर रूपा माया शक्ति, शिव और जीव के अभेद रूप में भेद का आभास पैदा करती है , जिससे वह कला, विद्या, राग, काल एवं नियति रूप कंचुकों (पाशों) से बन्ध जाता है । इस प्रकार पूर्ण एवं स्वतन्त्र होता हुआ भी अपूर्ण एवं परतन्त्र सा लगता है । शुभाशुभ कर्मों के वासना पाश में फंसकर भव चक्र में फंसा रहता है । इस प्रकार आणव मल, मायीय मल एवं कार्ममल उसके शिवत्व में जीव का आरोप पैदा कर देते हैं । जबकि वास्तव में शिव ही जीव है और जीव ही शिव है । परन्तु यह अभेद ज्ञान न होने के कारण जीव अज्ञानान्धकार में डूबा रहता है, यही उसका बन्धन है । विज्ञान भैरव जीव की इस पशुदशा को उबारने के लिए 112 धारणाओं के रूप में विविध उपाय प्रस्तुत करता है, जिनके अनुसरण से अज्ञानान्धकार की काली छाया से मुक्ति मिलती है[1] तथा जीव शिवत्व को प्राप्त होता है अर्थात् बन्धन मुक्त , मोक्ष को प्राप्त करता है ।[2]

---

1. सर्वत्र भैरवो भावः सामान्येष्वपि गोचरः ।
   न च तद्व्यतिरेकेण परोऽस्तीत्यद्वया गतिः ।। - वि० भै०, श्लो० - 121
2. जीवन्नपि भवे .... लिप्यते ।। - वही - , श्लो० - 139

पातंजल योग दर्शन, जीव का परम लक्ष्य कैवल्य (मोक्ष) को मानता है। यह कैवल्य ज्ञान से होता है और यह ज्ञान प्रकृति-पुरूष का विवेक है। जिसको विवेक ख्याति कहते हैं। इसकी उपलब्धि श्रद्धा से होती है[1] गीता में भी कहा है, जिससे वीर्य (तेज) बढ़ता है।[2] श्रुति भी बल हीन को आत्मा उपलब्धि असम्भव बताती है।[3] उसके फलस्वरूप शुद्ध एवं स्वच्छ स्मृति की प्राप्ति होती है। इस समाधि के प्राप्त होने पर ही प्रज्ञोदय (विवेक का उदय) होता है, जिससे वस्तु का यथार्थ ज्ञान होता है इसको ऋतम्भरा प्रज्ञा भी कहते हैं।[4] इस प्रज्ञा के द्वारा ही आत्म स्वरूप का साक्षात्कार होना है। जैसा कि बृहदारण्यकोपनिषद् में भी कहा गया है।[5] अतः आत्म स्वरूप की उपलब्धि अथवा कैवल्य की प्राप्ति ज्ञान (विवेक) से होता है।

इसी प्रकार से विज्ञान भैरव (काश्मीर शैव दर्शन) के मतानुसार जीव का परम लक्ष्य मोक्ष माना गया है। सिद्ध गुरू अथवा साक्षात् शिवानुग्रह से अनुपाय शाम्भवोपाय, शाक्तोपाय अथवा आणवोपाय इत्यादि के माध्यम से जीव पञ्च कञ्चुक एवं माया के बन्धन से मुक्त हो जाता है। उसको अपने वास्तविक एवं

---

1. श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं, तत्परः संयतेन्द्रियः ।। - गी० 4/39
2. "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः ।। -मु०उप० 3/2/4
3. स्मृति परिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ।(समाधिः)
पा०यो०सू० - 1/43
4. ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ।। - पा०यो०सू०, 1/48
5. आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यास रसेन च ।
त्रिधा प्रकल्पयन्प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ।। - बृ०उ० 2/4/5

असीमित शंकाओं का ज्ञान हो जाता है, जिसके फलस्वरूप परिपूर्ण आत्म परमेश्वर का पहचान हो जाता है । जब तक यह ज्ञान नहीं होता है, तब तक वह भवचक्र में भटकता रहता है । अतः एव भैरव भैरवि से सकल जन कल्याणार्थ आत्मपरमेश्वर का पहचान का उपदेश देते हैं । अतः स्पष्ट है कि समस्त आगमों के अग्रगण्य विज्ञान भैरव ज्ञान से ही शिवत्व अथवा मोक्ष की प्राप्ति का उद्घोषा करता है ।

पातंजल योग समाधि लाभ के लिए अर्थात् कैवल्य की प्राप्ति एवं समस्त दुःखों की निवृत्ति के लिए अन्य योग साधनों के अतिरिक्त ईश्वर प्रणिधान (ईश्वर-भक्ति) को भी सर्वोत्तम उपाय मानते हैं । इससे एक ओर तो कष्ट साध्य योग साधनों के करने से होने वाली यन्त्रणा से बचा जाता है तथा दूसरी ओर सभी प्रकार विघ्नों बाधाओं एवं चिन्ता कलेशों से भी मुक्ति मिलती है । अतएव इस दर्शन के अनुसार आत्म लाभ के लिए ईश्वर भक्ति सरल एवं सहज उपाय है ।

इसी प्रकार विज्ञान भैरव में ईश्वर भक्ति सर्वोत्कृष्ट उपाय मानी गई है, जिसके फलस्वरूप अनायास आत्म -महेश्वर का साक्षात्कार होता है एवं दैविक, दैहिक भौतिक तापों का नाश भी होता है । भगवान भैरव भैरवि से जहाँ तक कहते हैं कि इस शास्त्रमें कहा गया गुह्यज्ञान अभक्त को अर्थात् जो शास्त्र, गुरु एवं ईश्वर में श्रद्धा एवं विश्वास नहीं करता है, उसको कदापि इसका रहस्य प्रकटित नहीं करना चाहिये । क्योंकि उसमें श्रद्धा एवं विश्वास का अभाव होता है और इनके बिना एक योगी भी अपने अन्तस्थ ईश्वर को नहीं देख सकता है ।

---

1. ईश्वर प्रणिधानाद्वा ।। -पा०यो०सू०, 1/23
2. ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ।। - वही - 1/29

... जो भक्त ... उसे ... कृतार्थ एवं कृतकृत्य ... है । जो निर्विकल्प बुद्धि से युक्त ... हो और जिनका मानसिक स्तर ऊंचा हो अर्थात् राग द्वेष, मोह, ममता एवं अनात्म अभिमान से परे हो , ऐसे भक्तों को ही बिना किसी शंका के गुरुदेव को उपदेश करना चाहिये । अतः निःसंशयतया इस दर्शन में भी अन्योपायों के अतिरिक्त भक्ति को श्रेष्ठता प्रदान की गई है । इसी तरह श्वेताश्वतरोपनिषदादि भी कहती है ।

योगमत में जिन उपायों का उल्लेख मिलता है , उनमें यद्यपि "चित्त वृत्तियों का निरोध " सर्वप्रथम उल्लिखित हुआ है, जिससे यह प्रतीत होता है ... अन्तःकरण से मानव मात्र के कल्याण के लिए सर्वोत्तम मानते थे । क्योंकि इसके आचरण से न केवल ... उन्नति होती है, अपितु मानसिक एवं कायिक स्वस्थता भी उपलब्ध होती है । एक स्वच्छ हृष्ट-पुष्ट शरीर में ही एक स्वच्छ बुद्धि का विकास होता है । इसके अतिरिक्त ईश्वर भक्ति को भी सरल उपाय बतलाया गया है । परन्तु सभी जीवों का एक जैसा मानसिक स्तर नहीं होता इस बात को योगमत में रखते हुये उन्होंने अन्य उपायों का भी उल्लेख किया है मैत्री, करुणा, मुदित से चित्त प्रसाधन, प्राणायाम विषयवती प्रवृत्ति को

---

1. इत्येतत् कथितं देव परमामृत मुत्तमम् ।
एतच्च नैव कस्यापि प्रकाश्यं तु कदाचन ।।-वि0भै0, श्लो0 -955
पराशिष्ये खले क्रूरे चाभक्ते गुरुपादयोः ।

2. निर्विकल्पमतीनां तु वीराणामुन्नतात्मनाम् ।। 156
भक्तानां गुरुवर्गस्य दातव्यं निर्विशङ्कया ।। - 157

3. यस्य देवे परा भक्ति यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ।। -श्वेताश्वतर0उप0 6/23

उत्पन्न करना, विशोका, ज्योतिष्मती प्रकृति को उत्पन्न करना, चित्त को वीतराग विषय बनाना, स्वप्न निद्रा एवं ज्ञान का आलम्बन करना, अविभाज्य अणु से महत्तम तत्व को वशीकृत करना अथवा यथाभिमत ध्यान करना अर्थात् जो भी मन को रुचिकर विषय हो उसका एकाग्रचित्त से चिन्तन करने से योग की प्राप्ति होती है।

इसी प्रकार से विज्ञान भैरव में सम्भवतया मानव प्रकृति को ध्यान में रखते हुये ही भगवान भैरव ने भगवति भैरवि के माध्यम से सकल जगत् कल्याणार्थ एक सौ बारह (112) योग धारणाओं का सुन्दर वर्णन किया है, जिनको अनुपाय, शाम्भवोपाय, शाक्तोपाय एवं आणवोपाय के अन्तर्गत देखा जा सकता है। अन्ततः इसमें भी कहा गया है कि जहाँ-जहाँ मन सन्तुष्ट हो सकता है, उस- उस वस्तु में चित्त को एकाग्रता से लगाना चाहिये, उस - उस वस्तु में भी शिवभावना से परानन्द स्वरूप की अभिव्यक्ति हो जाती है। अतः इस दर्शन में किसी एक उपाय विशेष पर बल नहीं दिया गया है जिसको जो रुचिकर है वह उसका अभ्यास करता है। सभी उपाय एक ही लक्ष्य तक पहुंचाते हैं।

Sound Mind in a Sound Body - by the Gurudeva

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।। - पा०यो०सू०, 1/2

यथाभिमतध्यानाद्वा ।। - वही - 1/41

यत्र यत्र मनस्तुष्टिर्मनस्तत्रैव धारयेत् ।

तत्र-तत्र परानन्दस्वरूपं संप्रवर्तते ।। - वि०भै०, श्लोक - 73

उपर्युक्त कुछ समान तथ्यों के अतिरिक्त विज्ञान भैरव में एवं पातंजल योग दर्शन में कुछ ऐसी विशिष्टतायें भी हैं जो विशेष महत्व की है । सम्भवतया इन्हीं विशिष्टताओं के कारण दोनों दर्शनों का परस्पर वैशिष्ट्य भी सुस्पष्ट झलकता है -

चित्तनिग्रह - पातञ्जल योग में जहाँ चित्त वृत्तियों - प्रमाण विपर्यय विकल्प स्मृति एवं निद्रा के निरोध मात्र पर बल दिया गया है ।[1] जिससे योग अथवा समाधि की प्राप्ति मानी गई है, काश्मीर शैव दर्शन में इसके अतिरिक्त चित्त निग्रह उसको माना गया है जिसमें सभी भूतों के प्रति चित्त समान भाव रखता है, यही अवस्था समाधान कही गई है इसकी अपेक्षा चित्त निग्रह केवल लोक दिखावा मात्र होता है ।[2]

विज्ञान भैरव में इस तथ्य का स्पष्टतया उल्लेख मिलता है । सर्वत्र साधक को आत्म भैरव रूप की भावना करना चाहिये । कोई भी शत्रु या मित्र नहीं है जो भी है वह भैरव ही भैरव स्वरूप दृष्टिगोचर है इसी से शनैः शनैः चित्त प्रसाधन करना चाहिये । इससे इसकी पातंजल योग से विशिष्टता भी प्रतिपादित होती है ।

---

1. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।।-पा०यो०सू०, 1/2
प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः पञ्चतय्यः ।।-पा०यो०सू० - ।

2. समं सर्वेषु भूतेषु आधानं चित्त निग्रहः ।
समाधान मिति प्रोक्तमन्यथा लोक दाम्भिकम् ।।-ने०तं० अधिकार 8/17

3. सर्वत्रभैरवोभावः सामान्येष्वपिगोचरः ।
न च तद्व्यतिरेकेण परोऽस्तीत्यद्वयागतः ।।-वि०भै०स्तो० -121
न च तद्व्यतिरेकेण परोऽस्तीत्यद्वयागतः । (see line below)
समः शत्रौ च मित्रे च समो मानावमानयोः ।
ब्रह्मणः परिपूर्णत्वादिति ज्ञात्वा सुखी भवेत ।। - वही - 122

इसी प्रकार से इन दोनों में कुछेक अन्तर भी दिखाई देता है जो इस प्रकार से है -

. वैज्ञानिक , दार्शनिक , क्रमाक्रम , विकासात्मक, सामाजिक, सामुदायिक, व्यावहारिक, यथार्थिक , विधिविधायक, सिद्धि विषयक, दैहिक, दैविक, भौतिक, बंधुत्व एवं पारमार्थिक ।

वैज्ञानिक - दोनों ही ग्रन्थ वैज्ञानिक दृष्टि से महान् है परन्तु दोनों में विशेष अन्तर है वह इस प्रकार से है जैसे कि पातंजलयोग दर्शन सूत्र शैली में लिपिबद्ध है जिसमें वैज्ञानिकता छिपि हुई है सूत्रों के विषय में जैसे कि मान्यता रही है कि सूत्र विषय का सारभूत होते हैं । थोड़े ही शब्दों में बहुत बड़े विषय को अपने समाहित रखते हैं और विशाल भाव प्रकटित करते हैं । जैसे घाघर में सागर जैसा कहा भी है -

अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद् विश्वतोमुखम् ।
अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्र विदोविदुः ।।

इन्हीं सूत्रों के अध्ययन से पता चलता है कि प्राणायाम किसे कहते हैं और उसे करना चाहिये । परन्तु इससे होने वाले अनुभव जन्य तकनीकि निर्देश नहीं मिलते हैं , जबकि विज्ञान भैरव में प्राणायाम से उत्पन्न अनुभव को प्रकटित किया गया है अर्थात् पातंजल योग सूत्र गुप्त रहस्यात्मक विज्ञान है जबकि विज्ञान भैरव पद्यात्मक उद्घाटित रहस्यात्मक विज्ञान स्वरूप शास्त्र है । अर्थात् एक के पास घर बनाने की सामग्री उपलब्ध है और दूसरे का घर निर्मित है उसे उसमें केवल प्रवेश की आवश्यकता है । वैज्ञानिक-महानता की दृष्टि में दोनों उत्तम हैं,

परन्तु बनाने वाले का अनुभव महान् है, क्योंकि निष्काम कर्मयोग की महानता का परिचय वेदान्त एवं गीता दोनों में मिलता है। अतः वैज्ञानिक पक्ष में देखने से पातंजल योग सूत्र ज्यादा गम्भीर है ।

दार्शनिक - दार्शनिक महत्ता की दृष्टि में दोनों महान तो हैं परन्तु दोनों में प्रतिपादकत्व की दृष्टि में असमानता है । जैसे पातंजलयोग सूत्र एक सम्पूर्ण दार्शनिक विचारधारा से युक्त है और इसी से पातंजलयोग दर्शन भी विश्व प्रसिद्ध हैं जो कि अपने आप में प्रसिद्ध है इसमें दर्शनशास्त्रके नियमानुसार सभी तथ्य पाये गये हैं जैसे प्रमाणवाद, आचार मीमांसा अर्थात् प्रत्यक्षानुमान एवं शब्द प्रमाण[1] तथा अष्टांगयोग[2] जैसी आचार मीमांसा इत्यादि का स्पष्ट उल्लेख मिलता है । जबकि विज्ञान भैरव में कहीं भी ऐसा स्पष्ट उल्लेख नहीं हुआ है । इन सबके अतिरिक्त विज्ञान भैरव भावना प्रधान है[3] और पातंजल योग सूत्रकर्म-प्रधान दर्शन शास्त्र है । जबकि विषय के प्रतिपादन में दोनों लगभग दोनों समान हैं ।

सामाजिक - पातंजल योग सूत्र सामाजिक जगत् के लिए एक महान उपलब्धि है । इसका समाज स्वच्छ, स्वाध्यायशील, अर्थात् विद्वत् समाज है । जबकि सबसे महान् और अद्भुत सामाजिक संरचना में इसकी महान देन है इसका समाज अहिंसक, यथार्थ-सत्यप्रतिष्ठ, अस्तेय प्रधान, ब्रह्मचर्य प्रधान अर्थात् सीमित हर प्रकार से स्वच्छ -

---

1. प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ।। -पा०यो०सू० पा० - 1, सू० - 7
2. क) योगांगानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ।।-वही - 2/28
   ख) यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ।। 2/29
3. यत्र यत्र मनोयाति तत्तत् तेनैव तत्क्षणम् ।
   परित्यज्यानवस्थित्या निस्तरङ्गततो भवेत् ।।-वि०भै० , श्लो० - 26
   विश्वमेतन्महादेवि शून्यभूतं विचिन्तयेत् ।
   तत्रैव च मनो लीनं ततस्तल्लय भाजनम् ।। - वही - , 57

स्वच्छ नगर, स्वच्छ वातावरण एवं इसमें रहने वाले प्राणी भी बाह्याभ्यन्तर से स्वच्छ ही रहा है। यहाँ स्वच्छता है, वहाँ सुस्वास्थ्य भी रहता है और एक स्वच्छ एवं सुस्वस्थ मनुष्य में ही सुस्वस्थ बुद्धि की कल्पना में बल मिलता हुआ प्रतीत भी होता है।[1] इन सबके अतिरिक्त इस दर्शन का समाज अपरिग्रही है अर्थात् निर्लिप्त है और प्रगतिशीलता के साथ ही साथ दुष्टों की उपेक्षा एवं मित्रों की प्रसन्नता एवं वृद्धि तथा दीन दुःखियों पर दयालुता रखने वाले भावों से संयुक्त समदर्शी भी लगता है।[2] यद्यपि इस प्रकार से तकनीकि दृष्टि से विज्ञान भैरव के समाज में कमी अनुभव सा लगता है, परन्तु ऐसा नहीं है कि उसका समाज बुरा है। विज्ञान भैरव का समाज विशाल है, असीमित है। वह किसी में शत्रु एवं मित्रता अर्थात् गुण अवगुणों को नहीं कुरेदता है। वह केवल मुक्त होना चाहता है और अपने धर्म पर अटल है, उसी पर चलते हुये मन में शिवमय संकल्प से युक्त होकर अपने को बन्धन हीन सा मानता है और हर आनन्द में चाहे वो लौकिक दिखाई देता है या अलौकिक उसे परम शिव एवं परासत्ता का मानता हुआ भोगता है। इसी प्रकार विज्ञान भैरव का सामाजिक जगत् भी बन्धनहीन सा प्रतीत होता है।[3] उसमें न तो सामाजिक कुरीतियों को मिटाने का पातंजल योग दर्शन की तरह स्पष्ट निर्देश ही है और न ही ऐसी विचारधारा केवल अनुमान के आधार पर कहा

---

1. क) अहिंसासत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा: यमा: ।-पा०यो०सू० पा०-2, सू०-30
   ख) जातिदेशकालसमयानवच्छिन्ना महाव्रतम् । - वही- 2/31
   ग) शौचसन्तोषतप: स्वाध्याय-ईश्वरप्रणिधानानि नियमा: ।।-वही- 2/32
   मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां - पा०यो० सू० 1/33
2. क) शक्तिसंगमसंक्षुब्ध शक्त्यावेशावसानिकम् ।
   यत्सुखं ब्रह्मतत्त्वस्य तत्सुखं स्वाक्यमुच्यते ।। -वि०भै० - 68
   ख) लेहनामन्थनाकोटै: स्त्रीसुखस्य भरात् स्मृते: ।
   शक्त्यभावेऽपि देवेशि भवेदानन्दसंप्लव: ।। - वही - 69

जा सकता है कि जो योगी होगा उसे संसार से अर्थात् स्वार्थ से कोई प्रयोजन नहीं होता है। वह स्वतः निर्वैर सा होता है, परन्तु इस अवस्था के पहुचने के बाद ऐसा बनता है। जबकि पातंजल योग का समाज आजन्म शैशवकाल से आचार मीमांसा से बंधा हुआ है। जिस समाज में पातंजल योगदर्शन जैसे नियमों का पालन होगा, वहां के प्राकृतिक पर्यावरण के सन्तुलन में न तो विकार आ सकता है और न ही सामाजिक उथल पुथल ही हो सकती है। तदनन्तर हिंसा एवं चोरी तो दूर की बात है, जबकि इसके समाज की शिक्षा सब देशों के लिए एवं विदेश की जनता के लिए है। ऐसा इसलिए कि इसका समाज अविवाहित समाज है जो आज की बढ़ती हुई जनसंख्या की वृद्धि को एकदम रोकने में सक्षम है। जबकि विज्ञान भैरव का समाज सभी प्रकार के भोगों में डुबकी लगाते हुये परमानन्द ब्रह्मानन्द प्राप्त कर रहा है और विवाहित भी है।

विवाहित समाज एवं अविवाहित समाज में सबसे बड़ा अन्तर इस प्रकार है - विवाहित समाज में अधिकतर किसी न किसी प्रकार का स्वार्थ निहित होता है चाहे कोटि कोटि प्रयास भी क्यों न किये जायें जबकि इसके अनुसार अविवाहित निःस्वार्थ है और देश की प्रगति में महत्वपूर्ण भी है।

विकासात्मक - पातंजल योग सूत्र शास्त्र का विकास का क्रम गुप्त रहा है इस शास्त्र के सूत्रों के भावों को रचना के बहुत समय बाद उद्घाटित किया गया जिसका श्रेय प्रथमतः व्यास को जाता है जिसके नाम से ही पातंजल योग सूत्र का भाष्य प्रसिद्धि को प्राप्त है जबकि इसके अनन्तर भोजराज ने भी वार्तिकें लिखीं लेकिन प्रथम भाष्य जगत में आधार स्तम्भ व्यासभाष्य ही रहा है। इसी से इसके विकास के

युग का सूत्रपात हुआ सा लगता है । जबकि विज्ञान भैरव के विषय में विकास की दृष्टि से इतना ज्यादा कार्य नहीं हुआ है, इसका मुख्य कारण यह शास्त्र अधिकतर गुरुमुख परम्परा में ही पनपता रहा होगा, ऐसा प्रतीत होता है। जबकि आज जो स्वरूप इस शास्त्र का पढ़ने को मिलता है वह खण्ड- खण्ड बिखरे हुये शास्त्रों से पद्यों को चुन कर गुंथित किया गया एक पद्यात्मक ग्रन्थ है । जबकि विकास के क्षेत्र में भी बहुत पीछे रह गया । इसके श्लोकों को तो अभिनव गुप्त आदि महान् विद्वानों सन्त महात्माओं ने ग्रहण किया और अपनी रचनाओं को सुन्दर रूप दिया परन्तु इस पर अपेक्षित कार्य न हो पाया जो थोड़ा बहुत हुआ वह विकास की दृष्टि से क्षेमराज ने किया और विशेष योगदान शिवोपाध्याय का रहा जबकि आज के युग में महामहिम पं० गोपीनाथ कविराज जी को ही जाता है, जिनके अथक प्रयास से यह लुप्तागम शास्त्र पुनः अपने स्वरूप को पासका है ।

साम्प्रदायिक

पातंजल योग सूत्र में किसी भी दार्शनिक समुदाय का उल्लेख नहीं है , न तो किसी के पक्ष में कोई बात कही है और न किसी के विपक्ष में यह इसकी सबसे बड़ी विशेषता है, जिसके कारण स्वरूप इसे सर्वाधिक दार्शनिक जगत् पुरातन दर्शन अर्थात् प्रथम दर्शन स्वीकृत किया गया है । जबकि विज्ञान भैरव में शब्द राशी आदि अनच्क पर्यन्त आठ समुदायों का उल्लेख है और उन सभी का खण्डन कर स्वपक्ष का मण्डन अर्थात् समर्थन भी करता है ।

भौगोलिक

भौगोलिक दृष्टि से भी देखा जाये तो दोनों विभिन्न विचार धारायें रखते है । एक एकान्तवासी एवं क्रमबद्ध विधि का प्रतिपालक है अर्थात् जप, तप पूजा पाठ आदि में भी विश्वास रखता है अर्थात् कर्मकाण्डीय विधि में भी विश्वास रखता है और प्रभु प्राप्ति स्वरूप आत्म लाभ के लिए इनसे परे भी कैवल्य प्राप्त करता है। जबकि विज्ञान भैरव में इस उपरि वर्णित कर्मकाण्ड को बिल्कुल निम्न कोटि में स्थापित किया है[2] । इससे भी समाज के मन को थोड़ी सी ठेस (चोट) सी लगती हुई प्रतीत होती है । जबकि साधना मार्ग के लिए कोई भी देश पर्याप्त है, उसके लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के सुखमय आसनों का भी निर्देश है। परन्तु पातंजल योग सूत्र में तो लगता है कि पृथिवी ही एक मात्र आसन है, उसके आसन पद्मासनादि ही हैं* ।

नोट -

1. पातंजल योग का अपना कोई विशेष समाज नहीं रहा है इसमें कोई भी प्रवेश ले सकता है केवल उसमें इसमें बताये धर्मों के पालन के लिए कटिबद्ध होना पड़ेगा ।

2. विज्ञान भैरव में मनोभाव को ऊंचा करना बताया गया है उसमें समाज विशेष की कल्पना नहीं है केवल आपन्मुक्ति चाहता है । जबकि पा० यो० दर्शन सामाजिक सुव्यवस्था का भी प्रतिनिधित्व करता है ।

3 -* कैवल्य के संग - संग

व्यावहारिक

पातंजलयोग दर्शन के योगी की व्यावहारिकता भी बड़ी ही विचित्र है। वह किसी के पास न तो अधिक काल तक बैठ ही सकता है और न ही अपनी प्रशंसा ही सुनना चाहता है। इन दोनों प्रकार के व्यवहारों का उसे कटिबद्ध होकर पालन करने को कहा गया है। उसमें कहीं ऐसा नहीं कहा गया है कि आप अपनी प्रशंसा के श्रवण में भगवान को ही देखें। जबकि विज्ञान भैरव के साधक की व्यावहारिकता में ऐसा नहीं है, हाँ इसमें इतना मात्र अवश्य कहा गया है कि मानापमान समान जाने। परन्तु गूढ़ता से देखें तो पातंजल योग का योगी न तो मान और न ही अपमान से संलिप्त है जिससे उसे इनमें समत्व की भी अवश्यकता नहीं पड़ती है।

याथार्थिक

पातंजल योग दर्शन से संलग्न योगी का सम्पूर्ण जीवन याथार्थिक है, एक कार्मिक है वह अपने यथार्थवादी कर्मों से अपने पूर्व जन्मों के दुष्ट संस्कारों को नष्ट करके, इस जन्म में रहते ही जीवन के लिए नूतन संस्कारों से संयुक्त नव जीवन का निर्माण करता हुआ देखा जा सकता है। जन्मत: ऐसे योगी की शिक्षा भी तप: पूत है जिससे उसके जीवन का वह प्रत्येक क्षण अर्थात् जीवन का प्रत्येक क्रिया कलाप अहिंसक एवं सत्यानिष्ठ निष्काम भाव से युक्त है। शापाभिशाप से बचा हुआ है।

---

1. स्थान्युपनिमन्त्रणे संगस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसंगात् ॥ - पा० यो० द० 3/51
2. सम: शत्रौ च मित्रे च समो मानापमानयो: ।
ब्रह्मणा परिपूर्णत्वादिति ज्ञात्वा सुखी भवेत् ॥ - वि० भै० 122

किसी के लिए भी अनुचित वाणी का प्रयोग दिखाई नहीं देता है, जबकि विज्ञान भैरव के साधक ने जो विशेषता दिखाई उसमें धारणाओं के अन्त में सफलता के बाद सहसा दुर्वासा का रूप धारण करते हुये कहा है कि भैरवाकार हुआ ‖भैरव सिद्धि प्राप्त‖ साधक की वाणी अभिशाप एवं वरदान दायक हो जाती है जबकि पतंजलि किसी को भी अभिशाप एवं वरदान का पात्र नहीं समझते हैं उनके मत में कर्म करो सुख पाओ की झलक ही मिलती है ।

विधि विधायक , आचार विधायक ‖

पातंजल योग दर्शन एक सम्पूर्णांगीय प्रतिभा सम्पन्न दर्शन है इसकी दर्शन जगत् के समान ही विधि है ‖ क्रम है ‖ । अर्थात् प्रमाण[2] एवं आचार मीमांसा है कार्य को कैसे अपनाया जाये तपस्वी बनने के क्या लाभ है प्रकृति क्या है ? पुरूष क्या है ? और क्रम से आगे कैसे बढ़ना है, इन सब बातों का परिचय इसी शास्त्र में सान्निहित है जैसे प्रथम सूत्र में ही योगानुशासन कह कर तदनन्तर कहा गया कि इसकी आवश्यकता चित्त को स्थिर करने से है और चित्त की स्थिरता से ही साधक या प्राणी अपने स्वरूप के दर्शन करके मोक्ष को प्राप्त कर सकता है और उसके बाद वह सारी परम्परा जो कि मोक्षदायिनी है; उसका क्रमशः उल्लेख है । जीवन यात्रा अर्थात् साधनामार्ग में आने वाले विघ्न एवं ईश्वर द्वारा उनका नाश

---

1. नोट - सभी यम नियमान्तर्गत वाक्यों का समुदाय से ऊपर उठकर यथार्थ सत्यादि पालन करने का आदेश देता है । सारे समाज की उन्नति होना निश्चित है ।
2. प्रत्यक्षानुमानागमः प्रमाणानि ।। - पा०यो०सू०पा० । सू० - 7

यमादि अष्टांग मार्ग[1] सबका सब मोक्ष रूपी समुद्र में ही गिर (पतित) हो रहा है उसी में निमज्जित होता हुआ दिखाई देता है, जबकि विज्ञान भैरव[5] के विधि क्रम में खुलापन है। यह शास्त्र एक सिद्ध शास्त्र है और इसमें किसी प्रकार का भी बन्धन नहीं है। इसकी मान्यता कुछ इस प्रकार से प्रतीत होती है जैसे चिदाकाश भी महाकाश के समान ही है जिसके लिए यह कहना कि इस का मुख कहां है और पाद कहां असम्भव है अतः मोक्ष में निष्कल की निराश्रित स्वरूप की प्राप्ति भी निर्विकल्पात्मक भाव से ही प्राप्त की जा सकती है इसी महा शून्य अग्नि में ही विषयों सहित सीधे-सीधे दग्ध की बात कही है।[2] इसकी दृष्टि में पूर्व पर जन्म का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता है। जैसे पातंजल योग में जन्म कथन्ता सम्बोध है[3]। इसी से पता चलता है कि यह मोक्ष चाहने वाले प्राणी मात्र के लिए बहुत ही उपयोगी सिद्ध हो सकता है। इसमें पाप पुण्य कुछ भी नहीं है। जबकि पातंजल योग दर्शन में इन सब बातों का गुप्त एवं प्रकटित स्वरूप मिलता है जैसे व्याधि आदि का उल्लेख पापों के कारण स्वरूप ही है तथा तपः का उल्लेख भी दोष नाशार्थ ही किया है[4]। इस प्रकार से दोनों की विधि में अन्तर सा दिखाई देता है।

---

1. योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ।। -पा0यो0सू0 पा0 -2, सू0 - 28
2. महाशून्यालये वह्नौ भूताक्षविषयादिकम् ।
   हूयते मनसा सार्धं स होमश्चेतना स्रुचा ।। - वि0भै0 श्लो0 - 146
3. अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्ता सम्बोधः । - पा0यो0सू0 - 2/39
4. कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः । - वही - 2/43

सिद्धि

सिद्धियों के विषय में दोनों समान हैं। दोनों में सिद्धियों के नामों में किञ्चिद् मात्र अन्तर है वह इस प्रकार से है। पातंजल योग दर्शन की सिद्धियां अणिमा, लघिमा प्राप्ति कम्या महिमा, प्राप्ति, प्रकाम्य, वशित्व ईशित्व यत्र का भाव सायित्व है।[1] तो विज्ञान भैरव की सिद्धियां इन्हीं के साथ साथ सिद्ध योगिनियों के स्वामी नाम से भी विख्यात हो जाता है।[2] परन्तु दोनों के सिद्ध प्रधान शास्त्र हैं। विज्ञान भैरव का योगी शाप एवं वरदान की योग्यता को अपनाये रखा हुआ प्रतीत होता है। जबकि पातंजल योग का योगी इन्हें लौकिक लौकिक शाप एवं वरदान से बचा रहता हुआ प्रतीत होता है। यह केवल अपना साधना के लिए ही इन्हें अधिकतर प्रयोग में लाता हुआ दिखाई देता है। जिससे समय समय पर कैवल्य से पर्व तक काल पर विजय पाने के लिए प्रयोग में लाता है। इसीलिए कहा भी है कि यह व्यावहारिक जगत् में प्रतिष्ठा के लिए जरूर है परन्तु समाधि में साक्षात् विघ्नकारिणी है।[3] इन्हें प्राप्त कर मनुष्य महान् से महानतम् एवं सबसे लघु अविभाज्य अणु का रूप धारण कर सकता है।[4] इन्हीं में भुवन ज्ञानादि सूर्य, तारा, चन्द्र, कूर्म नाडी श्रवणादि शक्ति आकाश गमनादि का भी समावेश देखें तो समाहित होता हुआ दिखाई देता है।

1. ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च ।।-पा०यो०द० -3/45 सू० - 31
2. अत्र चैकतमे...................गुहकारकाः ।। - वि०भै०, श्लो०-137 ....सर्वमिलापकाधिपः ।।" - वही - 138 अजरामरतामेति ....
3. ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ।।-पा०यो०सू०, पा०-3, सू० - 37
4. परमाणु परममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ।। - वही - 3/40

दैहिक

शारीरिक सौन्दर्य की दृष्टि से दोनों ही महान् हैं, दोनों रूप लावण्य से युक्त हैं। इन दोनों में अन्तरभेद है— जैसे पातंजल योग दर्शन का योगी तपस्वी है[1] और अपने उदर को यम-नियमों से बाँधे हुए है,[2] जबकि विज्ञान भैरव का योगी जग्धपान कृतोल्लास रसानन्द विजृम्भणात् इस उक्ति से भक्ष्याभक्ष्य के विचार से रहित सा प्रतीत होता है।[3] इसी प्रकार से अध्ययन से पता चलता है कि विज्ञान भैरव का योगी भोगी भी है।[4] चाहे उसमें वह शिव - शक्ति भाव से ही कर रहा है। परन्तु पातंजल योग दर्शन की इस ओर किञ्चिद् मात्र भी विचार धारा की प्रतीति नहीं होती है। इस विचारधारा से अनुप्रेरित योगी नैष्ठिक ब्रह्मचारी है। अपने आनन्देन्द्रिय पर उसका पूर्ण अधिकार है।[5]

---

1. कायेन्द्रिय सिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ।। - पा० यो० सू० पा०-2, सू०-43
2. क) अहिंसासत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः । - वही - , सू० - 30
   ख) अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्ता ।। - वही - 2/39
   ग) सन्तोषादनुत्तमं सुखलाभः ।। - वही - 2/42
3. जग्धपानकृतोल्लास रसानन्दविजृम्भणात् ।
   भावयेद् भरितावस्थां महानन्दस्ततो भवेत् ।। - वि० भै०, श्लो० - 71
4. क) शक्ति संगम..............स्वाक्यमुच्यते ।।- वही-, श्लो० - 68
   ख) लेहनामन्थनाकोटैः ....सम्प्लवः ।। - वही-, श्लो० - 69
   ग) आनन्दे ....तल्लयस्तन्मना भवेत् ।।- वही-, श्लो० -70
5. ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ।। - पा० यो० सू०, पा०-2

दीपक

देह को सुन्दर बनाये रखने एवं वैदिक मान्यताओं के अनुसार कहें या यजुर्वेद के अनुसार कहें पातंजल योग सूत्र की देव विषयक विचारधारा को बल मिलता है। जिसका सुन्दर उल्लेख चरक संहिता में भी महर्षि पतञ्जली जी ने किया है। देवों को प्रसन्न करने एवं इनके अभिशापों के दोषों से मुक्त होने के लिए देव पूजन अत्यावश्यक कहा गया है और इन्हीं के साथ ही साथ आत्मलाभ का मार्ग भी प्रशस्त होता है। ऐसा भी है कि साधना मार्ग में पड़ने वाले विघ्नों के नाशार्थ ही श्री गणेश वन्दना का महत्व शास्त्रकारों का प्रधानता से अंगिकृत ही नहीं शिरोधार्य है[1]। जबकि विज्ञान भैरव का मात्र उद्देश्य जीवन्मुक्ति के लिए "एकेश्वरवाद वह भी निर्विकल्प निराधार, निराकार निराश्रित महाशून्य एवं नित्य, विभु, निष्कल स्वरूप ईश्वर का भजन है शेष को पाखण्ड (आडम्बर) कहा गया है।[2]

---

1. मन्त्रौषधिमणिमङ्गलबल्युपहारहोमनियम प्रायश्चित्तोपवासस्वस्त्यय
न प्रणिपात गमनादि ।। - च०सं० सू० अ० - ।।
विष्णुं सहस्र मूर्धानं चराचरपतिं विभुम् ।
स्तुवन् नामसहस्रेण ज्वरान् सर्वान्व्यपोहति ।।- च०सं०चि०अ०-3(विमर्श, पृ०-35)

2. यत्किञ्चित् सकलं रूपं भैरवस्य प्रकीर्तितम् ।।
तदसारतया देव विज्ञेयं शक्रजालवत्
मायास्वप्नोपमं चैव गन्धर्वनगर भ्रमम् ।।
ध्यानार्थं भ्रान्त बुद्धीनां क्रियाडम्बर वर्तिनाम् ।
केवलं वर्णितं पुंसां विकल्पनिहतात्मनाम् ।। -वि०भै० - 8 - 10
तद्वपुस्तत्त्वतो ज्ञेयं विमलं विश्वपूरणम् ।
एवं विधे परे तत्त्वे कः पूज्यः कश्च तृप्यति ।।-वही - 16
पूजा नाम न पुष्पाद्यैर्या मतिः क्रियते दृढा ।
निर्विकल्पे परे व्योम्नि सा पूजा ह्यादराल्लयः ।। - वही - 144

भौतिक

पातंजल योग दर्शन की भौतिकता विज्ञान भैरव से थोड़ी भिन्न है इसमें "मैत्री करुणा मुदितोपेक्षाणां सुख दुःख पुण्य विषयाणां भावनातश्चित्त प्रसादनम्"[1] से कुछ अच्छे बुरे की विचारधारा को बल मिलता है, किस से बचना है, किससे मिलना है, ऐसा इसलिए कि इसका योगी शैशवावस्था में है, जबकि विज्ञान भैरव के योगी का न तो किसी से राग द्वेष[2] है और न कोई शत्रु, मित्र ही है।[3] इन सबके अनुसार विज्ञान भैरव का योगी गुरु कृपा का पात्र सा प्रतीत होता है। जैसे -

परशिष्ये खले क्रूरे चाभक्ते गुरुपादयोः ।
निर्विकल्पमतीनां तु वीराणामुन्नतात्मनाम् ।।

भक्तानां गुरुवर्यस्य दातव्यं निर्विशङ्कया ।
ग्रामं राज्यं पुरं देशं पुत्रदार कुटुम्बकम् ।।[4]

इन दोनों श्लोकों से गुरुकृपा का प्रभाव भक्तों पर पातंजल योग सूत्र की अपेक्षा कहीं अधिक प्रतीत होता है। अतः हो सकता है कि सभी देवताओं के रूप में उन्होंने गुरु की ही आराधना की हो एवं उन्हीं के आशीर्वाद से निर्विकल्प को प्राप्त किया हो अन्यथा थोड़ा कठिन जान पड़ता है, परन्तु असम्भव नहीं कह सकते। जबकि पातंजल योग में गुरु शब्द का कहीं भी उल्लेख नहीं हुआ है वहां ईश्वर ही गुरु है और कर्म ही प्राणी का धर्म सा प्रतीत होता है।

---

1. पा० यो० सू० पा० - 1, सू० - 33
2. न द्वेषो ....प्रसर्पति ।। - वि०भै०
3. समः शत्रौ च मित्रे च समो मानापमानयोः ।।- वही- श्लोक - 228
4. वि०भै०, श्लो० - 156-157

विश्वबन्धुत्व

दोनों ही सार्वभौम धर्म के प्रतिपादक हैं एवं असीमित क्षेत्र वाले हैं इनमें कहीं भी जाति देश काल समुदाय से विशेष नहीं बाँधा गया है, अपितु इन सभी पाशों को काटकर योगदर्शन के यम नियमों के पालन की आज्ञा का पालन एवं विज्ञान भैरव की धारणायें सबको आपस में जोड़ती हुई दिखाई देती हैं।[1] दोनों का धर्म भटके हुये प्राणी के जन्म जन्मान्तर के दुःख पाशों को काटकर जीवन्मुक्त प्रदान करना रहा है। अहिंसक होने से योग दर्शन के कारण स्वरूप जगत् में निर्वैरता को अधिक बल मिलता है[2]। केवल अहिंसा ही नहीं, अपितु ये जो अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य अपरिग्रह आदि पाँच सिद्धान्त है। यदि इनका जगत् में रहने वाले प्राणी यथार्थ पालन करें तो कहीं भी आज हो रही मारकाट छीना झपटी से बचा जा सकता है। इन दोनों दर्शनों में अन्तर इतना ही है कि एक में पा० यो० ने मोक्ष के साथ - साथ सिद्धान्तों पर अधिक बल दिया तो विज्ञान भैरव ने केवल मुक्ति को ही ग्रहण किया है। जबकि मुक्ति दिलाने वाली धारणाओं में ही कहा गया है कि न तो मेरा कोई शत्रु है, न मित्र है, सभी सम है।[2]

---

1. क) जातिदेशकाल समयानवच्छिन्नाः सार्वभौमाः महाव्रतम् ।।-पा०यो०सू० पा०-2सू०-31

2 - क) अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैर त्यागः ।। - 2/35

2. समः शत्रौ च मित्रे च समो मानावमानयोः ।
ब्रह्मणः परिपूर्णत्वात् इति ज्ञात्वा सुखी भवेत् ।।-वि०भै०, श्लो० - 122, धारणा - 99

व्यावहारिक पारमार्थिक

मोक्ष का दोनों को प्रिय रहा है, विज्ञान भैरव सीधे एक ही पथ पर स्वयं जीवन्मुक्ति के लक्ष्य का भेदन कर रहा हुआ प्रतीत होता है तो पातंजल योग दर्शन स्वयं के साथ- साथ आचार्यत्व को भी अपना कर समाज को शिक्षा देते हुये मुक्ति का भागी बनना चाहता है। पातंजल योग दर्शन से जो कुछ अध्ययन से प्रतीत होता है वह कुछ इस प्रकार से है।[1]

इस के अनुसार समाज का सुस्वस्थ होना परमावश्यक है, जिसके लिए स्वच्छता अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान रखती है। इसी स्वच्छता एवं प्राकृतिक छटा के कारण अनेक नगर काश्मीर, चंडीगढ़ या विदेशी नगर प्रसिद्ध हैं, जिन्हें देखने के लिए विश्व भर से लोग यात्रा करते हैं। अतः शौच (स्वच्छता) गुण न होकर सर्वाधिक सुन्दर अलंकार है। जिसे सभी मानसिक पटल पर धारण कर स्वयं भी सुन्दर बनना चाहते हैं।

इसी के अनुसार जो अपरिग्रह एवं सन्तोष का पाठ मिलता है उससे देश की अर्थव्यवस्था सुदृढ़ होती हुई देखी जा सकती है काला बाज़ारी के नाश से। इसका प्रतिपालन विशेषकर आज के भ्रष्टाचारी युग की समाप्ति के लिए अत्यधिक कारगर सिद्ध हो सकता है।

---

1. क) जीवन्नपि विमुक्तोऽसौ कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ -वि०भै० - 139
   ख) सत्व पुरुषयोशुद्धि साम्ये कैवल्यमिति ॥ -पा०यो०सू० पा० -3, सू० -55

'नित्याभ्यास'[1] की शैली दर्शाती है कि निष्काम भाव से कर्म करते हुये स्वयं एवं देश या विश्व की उन्नति में भागीदार बनो। इसी में साम्यवाद की झलक भी मिलती है समत्वयोग के परिणाम स्वरूप।

ब्रह्मचर्य के पालन से बलात्कारादि घटनाओं एवं भोग विलास निवृत्ति एवं शारीरिक विकारों से बचने का पाठ भी मिलता है। इसका सम्यक् उपयोग करने वाला समाज बलशाली होता है जिससे उस पर आक्रमण करना शत्रु के लिए टेढ़ी खीर बन जाता है स्वाध्याय एवं विद्वान् बढ़ानें एवं पढ़ने लिखने की प्रेरणा देता है केवल मुक्ति ही नहीं अर्थात् इसकी मुक्ति भी बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न लगती है किसी भी प्रकार से इसमें त्रुटि रही हो कहना असम्भव सा लगता है। इस प्रकार से दोनों के अनुशीलन से यही शिक्षा मिलती है कि मनुष्य को समत्व भाव रखते हुये मुक्ति के साथ ही साथ सामाजिक उन्नति के लिए भी प्रयास करना चाहिये। तभी साधक निर्भीक होकर घूम फिर सकता है एवं समाज के प्राणी परमशान्ति को प्राप्त हो सकते हैं।

xxxxx
xxx
x

---

1. तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥ - पा०यो०सू० पा० -1, सू० - 13

सप्तम अध्याय

उपसंहार

उपसंहार

आज के इस अशान्तिमय वातावरण में, घोर अन्धकारमय नगरी में, जन मानस दुःख के सागर में डूबा हुआ है । यह दुःख का सागर भी बड़ा अद्भुत है । सबको मोतीचूरे के मोदक की तरह अपनी ओर ही आकर्षित कर रहा है । तदनन्तर का विनाशकारी मधुमेह जैसे रोगों से ग्रसित करता है, कुछ तो इससे समय रहते बच निकलते हैं और कुछ विनाश के प्राप्त हो जाते हैं ।

मनुष्य की बुद्धि और उसकी सोच (विचारशक्ति) बहुत ही संकुचित आदि सीमित है और विशेषकर आज इस भौतिकवादी जीवन में इतस्ततः चारों ओर भटक रहा है, किन्तु शान्ति कहीं भी नहीं पाता हुआ दिखाई देता है और इस शान्ति के लिए जो मार्ग हमारे महर्षियों ब्रह्मर्षियों ने प्रशस्त किए हैं, उनसे कोसों दूर चला गया है । अपनी पहचान, सभ्यता और अपने धार्मिक संस्कार सब कुछ भूल चुका है । जिस मानव जगत ने अपने पूर्वजों को भुलाया अर्थात् अपने इतिहास को भुलाया वह कभी प्रगति नहीं कर सकता, प्रगति का अर्थ केवल धन के संसाधन जुटाना ही नहीं होता बल्कि मानसिक शान्ति को बनाए रखने के लिए, स्थिरता, संतोष विशेष विधि (आचार-विचार) और इन सबके अतिरिक्त ईश्वर भजन एवं निष्काम कर्मयोग की शिक्षा की आवश्यकता, परमावश्यक आवश्यकता होती है । जिसके लिए ही हमारा देश सोने की चिड़िया कहा जा रहा है । यह देश और इसकी सभ्यता शाश्वत है, शाश्वत का अर्थ है कभी न समाप्त होने वाला एवं सदा-सदा हरा-भरा रखने वाला धर्म, एक ऐसा धर्म, एक ऐसी संस्कृति जो अनालोचनात्मक, गंगा की धारा के सदृश सतत प्रवाहमान है एवं होता रहेगा इसीलिए इसे सनातन ही

कहा जाता है । सबसे प्रेम करना अतिथियों का सत्कार करना, घर आए शत्रुओं को भी क्षमा करना और शरणागत की अपने प्राण देकर भी रक्षा करना इसका परम धर्म रहा है "अहिंसा परमो धर्म " इसके अन्तर्गत शेष जितने भी नैतिक मूल्य हैं, सभी समाहित होते देखे जा सकते हैं । अहिंसा का अर्थ पुण्य है और हिंसा का अर्थ पाप । असत्य बोलना, लालच करना और अपने धातु को मारना [illegible] मन में बुरे विचारों को लाना, असन्तोष में डूबे रहना और [illegible] को पढ़ना और संकल्प को तोड़ना, तपस्विन बनना एवं [illegible], स्वयं को पापपूर्ण माना गया है और [illegible] सिद्धान्तों को [illegible] में स्वीकार देखें तो हमें एक अच्छा सर्वोत्कृष्ट सिद्धान्तों पर चलने के लिए पातंजल योग सूत्रकी अष्टांग शिक्षा अनिवार्य है । [illegible] योग सूत्र एक ऐसा योग सूत्र है जो न तो किसी को, किसी सम्प्रदाय विशेष की निन्दा करता है और न ही किसी का मण्डन करता है । जिसके सिद्धान्तों को बुद्ध ने भी सहृदय अंगीकार किया धारणानुस्वरूप हो। इस योग सूत्र के सिद्धान्तों को बुद्ध ने भी सहृदय अंगीकार किया [illegible] कि योग का [illegible] । [illegible] । बुद्ध दर्शन में [illegible] और इसमें भी इनके लिए यम को ही विशेष जैन दर्शन का भी आधार [illegible] है और इसमें भी इनके लिए यम को ही विशेष [illegible] का उल्लेख मिलता है । ऐसा प्रतीत होता है कि जैनियों का [illegible] में समाहित हो जाता है । जबकि तार्किक [illegible] एवं असम्प्रज्ञात [illegible] । अन्तर केवल इतना ही है की यह योग सूत्र दृष्टि से दोनों का अर्थ आत्मलाभ है । अन्तर केवल इतना ही है की यह योग सूत्र ईश्वर को मानता है एक ऐसे ईश्वर को जो अजन्मा है, अनादि है, सर्वज्ञ है

ो का ... े जो ... निराश्रित है । जबकि ऊपर दोनों समुदाय, ईश्वर के आलोचक हैं एवं अपने दार्शनिकों तक ही सीमित हैं जो की केवल एक ही समुदाय विशेष के बन के रह गए हैं । पातंजल योग का ईश्वर एक ऐसा ईश्वर है जिसके विषय में श्रुतिस्मृति एवं पुराणों में नेति नेति कहकर स्तुति की गई है । यह अगम अगोचर है –

... मिराई ... सम्मेजहं ।

... योग शास्त्र ... आलोचकों से ... रहा, परन्तु इसकी ... एवं ... क्लिष्ट होने से यह समाज के बहुत बड़े भाग से दूर होता ... हुआ और शनैः शनैः आज पुनः अपने चरमोत्कृष्ट स्थान को छू चुका है ।

आज हम जिस योग से आध्यात्मिक एवं शारीरिक सुखों की प्राप्ति का साधन मान रहे हैं, वह वास्तव में पातंजल योग सूत्र के ही निर्देश हैं परन्तु यहाँ ... त्रुटि देखी जा सकती है और वह इस प्रकार से है –

1. आज इसे केवल रोग शान्त्यर्थ अपनाया जा रहा है ।

2. ... के रूप में लिया जा रहा है ।

3. ... सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य अपरिग्रह एवं शौच सन्तोष तप स्वाध्याय ईश्वर प्रणिधान की ... की ओर किञ्चिद मात्र भी ध्यान नहीं दिया जा रहा है ।

4. प्राणायाम ... शारीरिक सुखार्थ बनकर रह गया है एवं आसनों को शारीरिक ... एवं ... से मुक्त्यर्थ अपनाया जाता है । ... हुई मैल का नाश कर परमाणु कर ... प्राप्त रहा है ।

... का ...

[illegible] और [illegible] शनैः शनैः पातंजल योग सूत्र से जोड़ी जा रही हैं। इसी योग सूत्र के सूत्रों को ग्रहण कर आज भारतीय योग संस्थान अनेक पुस्तकें प्रकाशित कर रहा है। इस प्रकार से हम देखते हैं कि आज भी पातंजल योग सूत्र अपने चरमोत्कृष्ट स्थान पर विद्यमान है। इसकी विशेषता इस प्रकार से है - यह सर्वप्रथम तर्क वितर्क से ऊपर उठता हुआ चित्त को सन्मार्ग की ओर अग्रसर करने के लिए स्थिर करने का उपदेश देता है जिससे समाधि सुख पाया जा सके। यही समाधि कैवल्य प्रदान करता है।

काश्मीर शैव दर्शन का उपजीव्य ग्रन्थ "विज्ञान भैरव" अध्यात्म प्रसाधन के लिए सर्वोत्कृष्ट माना गया है। स्वयं भगवान भैरव, भैरवि से इसे समस्त शास्त्रों, सम्प्रदायों एवं मतों के रहस्यों का सार तत्व बतलाते हैं। इसमें किसी देश काल अथवा आकार के रूप में कोई भी किसी प्रकार का बन्धन नहीं माना गया है जाति-पाति अथवा स्त्री-पुरुष का भेदभी यहां कोई विशेष महत्व नहीं रखता और इसके द्वारा सभी के लिए समान रूप से खुला है यह एक सार्वभौम धर्म अथवा सिद्धान्तों का उपदेश देता है। मानवमात्र का कल्याण इसका विशेष विषय है। न केवल योग, ऋषि अथवा विद्वान् पुरुष ही इसका अनुसरण कर सकते है। अपितु साधारणजन भी इसमें प्रतिपादित योग विधियों के पात्र हैं। समत्व की दृष्टि से देखा जाये तो विज्ञान भैरव अद्वितीय आगम शास्त्र है। यह शत्रु मित्र, देव-राक्षस, स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी जड़ चेतन सबमें एकात्म परमेश्वर की सत्ता [illegible] इसलिए एक [illegible] परमार्थ सत्य का उपदेश [illegible] है। [illegible] और [illegible] एवं आतंकवादी युग में इसकी शिक्षा परम [illegible] है। आज के [illegible]

[illegible] है । जिसके अनुसरण से परस्पर वैर-विरोध, भेदभाव एवं अपने पराये की भावना दूर हो जाती है अतः विश्व शान्ति का अमोघ साधन है । देखा जाये तो संसार में अभाव अथवा हीन भावना ही समस्त क्लेशों का कारण बनती है । यह दर्शन उन हीन भावनाओं एवं अभावों को पूर्णतया दूर करने वाला है अतः शान्ति के साथ-साथ शारीरिक एवं भौतिक विकास की दृष्टि से श्लाघनीय है । निष्कर्षतः इन दोनों दर्शनों का अपना वैशिष्ट्य होते हुये भी लक्ष्य की दृष्टि से समानता [illegible] प्रायः [illegible] है ।

पातंजल योग दर्शन में योगी को अनेक बन्धनों में बांध दिया गया है । इसमें कुछेक ऐसे बन्धन भी हैं जिनके प्रतिपालन से समाज तो क्या कोई विरला ही योगी प्रतिपालन करता हुआ दृष्टिगोचर होता है । इसमें अनेक बन्धन हैं जैसे अहिंसा सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह एवं नियमान्तर्गत शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय ईश्वर प्रणिधानादि एवं इनके भी आगे अनेक प्रकार बन जाते हैं जिनका पालन कर पाना थोड़ा कठिन है परन्तु असम्भव नहीं है ।

इसी के साथ ही साथ विज्ञान भैरव का विषय बहुत सरल है जो आज के युग में भी लगभग सब दार्शनिक एवं भौतिक महत्ता रखने वाले लोगों के लिए भी यथासम्भव है । क्योंकि यहां भोग में भी मोक्ष की प्राप्ति दिखलाई गई है ।

पातंजल योग दर्शन प्रमुख रूप से द्वैत सिद्धान्त मतावलम्बि है । वह ईश्वर और जीव को भिन्न-भिन्न मानता है । दूसरी ओर विज्ञान भैरव में प्रतिपादित [illegible] दर्शन [illegible] सिद्धान्त पर आधारित है इसमें शिव और जीव में [illegible] । भेद केवल संसारी दशा में होता है जब वह [illegible] अपने स्वरूप एवं शक्तियों को भूल कर पशु बन जाता है । विकसित विकास की दशा में वह पुनः शिवत्व को प्राप्त कर लेता है ।

सन्दर्भ ग्रन्थ - सूची

सन्दर्भ ग्रन्थ - सूची

क्रमांक	ग्रन्थ	लेखक या सम्पादक	प्रकाशक	सन्
1.	अत्रि स्मृति	महर्षि अत्रि (सम्पादक आचार्य श्रीराम शर्मा)	संस्कृति संस्थान, बरेली	1966
2.	आपस्तम्भ स्मृति	महर्षि आपस्तम्भ (पं० राम शर्मा आचार्य)	- वही -	1966
3.	अभिज्ञान शाकुन्तलम्	कालिदास	चौखम्बा अमर भारती, वाराणसी	2040 (वि०सं०)
4.	अमर कोषः	अमरसिंह	चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी	1970
5.	ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विवृत्ति	अभिनवगुप्त	काश्मीर संस्कृत सीरिज़, श्रीनगर	1918
6.	ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी विवृत्ति	अभिनवगुप्त	- वही -	1920
7.	ईशावास्योपनिषद्	निगम	गीता प्रेस, गोरखपुर (यू०पी०)	सम्वत् 2051
8.	ऋग्वेद	- वही -	वैदिक पुस्तकालय, अजमेर	सम्वत् 2019
9.	कठोपनिषद्	- वही-	गीता प्रेस, गोरखपुर	2051
10.	कण्ठचरितम्	समुद्रगुप्त	चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला, वाराणसी	1982
11.	कह्या स्तोत्र			
12.	काश्मीर शैविज्म्	जे०सी० चैटर्जी	काश्मीर संस्कृत सीरिज़	1962
13.	किरातार्जुनीयम्	भारवि	चौखम्बा संस्कृत सीरिज़, वाराणसी -1	1968

14.	कूर्मपुराण	महर्षि व्यास (पं० राम शर्मा आचार्य)	राष्ट्रीय प्रेस, मथुरा	1969
15.	कुमारसम्भव	कालिदास	चौखम्बा संस्कृत सीरिज़, वाराणसी-1	1972
16.	केनोपनिषद्	निगम	गीता प्रेस, गोरखपुर	2051
17.	गीता	-वही-	- वही -	2049
18.	गरूड़ पुराण	महर्षि व्यास (पं० रामशर्मा आचार्य)	राष्ट्रीय प्रेस, मथुरा	1969
19.	चरक संहिता	महर्षि पतंजली	चौखम्बा भारती अकादमी, वाराणसी-1	1994
20.	छान्दोग्योपनिषद्	निगम	गीता प्रेस, गोरखपुर	1949
21.	ज्योतिष तत्व चिन्तामणि	रमण कुमार शर्मा	राज प्रकाशन, कठुआ	1999
22.	तन्त्रालोक	अभिनवगुप्त	मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली	1987
23.	दक्षस्मृति	सं-पं० श्रीराम शर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान, बरेली	1969
24.	दुर्गा सप्तशती	निगम	गीता प्रेस, गोरखपुर	2051
25.	निर्णय सिन्धु	ज्वाला प्रसाद	खेम राज कृष्णदास, बम्बई	1989
26.	नित्याषोडशिकार्णव	आगम	आनन्दाश्रम, पूणा	1908
27	नेत्र तन्त्र	आचार्य क्षेमराज	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली	1926
28.	पञ्चदशी	स्वामी विद्यारण्य	संस्कृत संस्थान, ख्वाजा कुतुबुद्दीन, वेदनगर, बरेली	1978
29.	परमार्थ सार	अभिनवगुप्त (योगराज विवृत्ति)	काश्मीर संस्कृत ग्रंथावली,	1916
30.	परात्रिंशिका विवृत्ति	- वही -	- वही -	1918

31.	पाणिनीय अष्टाध्यायी (भाषावृत्ति)	सं-स्वामी द्वारका दास शास्त्री	रत्ना पब्लिकेशन्स वाराणसी-1	1971
32.	पातंजल योग दर्शन	महर्षि पञ्जली (विद्यारण्य)	मोती लाल बनारसी दास, दिल्ली	1980
33.	पातंजल योग सूत्र भोज वृत्ति, व्यास एवं भोज वृत्ति सहित	स्वामी विज्ञाश्रमी	श्री मदन लाल, लक्ष्मी निवास चण्डक, कचहरी रोड, अजमेर	1961
34.	पातंजल योग दर्शन - एक समालोचनात्मक अध्ययन	डा० पवन कुमारी गुप्ता	ईस्टर्न बुक्स लिंकर्स, दिल्ली	1979
35.	प्रत्यभिज्ञादर्शन	माधवाचार्य	चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी	1978
36.	प्रत्यभिज्ञाहृदयम्	आचार्य क्षेमराज	चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी	1970
37.	प्रभु-विद्या-प्रतिष्ठार्णव	पं० श्री दौलत राम गौड़	ठाकुरदास एण्ड सन्स, राजा दरवाजा, वाराणसी	1987
38.	प्रश्नोपनिषद् वाल्मीकि रामायण	निगम महर्षि बाल्मीकि	गीताप्रेस गोरखपुर गीता प्रेस, गोरखपुर	2051 1989
39.	बृहत्पाराशर होरा शास्त्रम्	महर्षि पाराशर	देहाती पुस्तक भण्डार दिल्ली	2029
40.	बृहदारण्यकोपनिषद	निगम	वाणी विलास ग्रन्थमाला काशी	1955
41.	बृहस्पति शतकम्	रमण शास्त्री	राज प्रकाशन, कठुआ (जम्मू)	1999
42.	बोधायन स्मृति	सं० पं० राम शर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान, बरेली	1966

43.	भागवत् महापुराण	व्यास	गीता प्रेस, गोरखपुर	2050
44.	भारतीय दर्शन	बलदेव उपाध्याय	चौखम्बा ओरियेण्टल वाराणसी	1979
45	भारतीय दर्शन	डा० कुवर लाल व्यास शिष्य	इतिहास विद्या प्रकाशन दिल्ली	1980
46.	भारतीय दर्शन का इतिहास	डॉ० एस०एन०दास गुप्त	राजस्थान हिन्दी ग्रन्थमाला	1962
47.	मनुस्मृति	सं० -केशवप्रसाद द्विवेदी	खेमराज कृष्णदास मुम्बई	1960
48.	महार्थ मञ्जरी	महेश्वरानन्द	काश्मीर संस्कृत ग्रंथावली	1918
49.	महाभारत	व्यास	गीता प्रकस गोरखपुर	1955
50.	महाभाष्य	पतंजली	एज्युकेशन सोसाइटी, पुणे डेक्कन	1965
51.	महिम्न स्तोत्र	पुष्पदन्त	चौखम्बा संस्कृत सीरिज वाराणसी	1964
52.	माण्डूक्योपनिषद्	निगम्	गीता प्रेस, गोरखपुर	2051
53.	मानसागरी	मानसागर(ज्योतिष)	ठाकुर प्रसाद-पुस्तक भण्डार, कचौड़ी गली, वाराणसी	1982
54.	मालिनी विजय वार्त्तिक	अभिनवगुप्त	काश्मीर संस्कृत ग्रंथावली श्रीनगर	1922
55.	मुण्डकोपनिषद्	निगम	गीता प्रेस, गोरखपुर	2051
56.	याज्ञवल्क्य स्मृति	महर्षि याज्ञवल्क्य	चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी - 1	1967
57.	योगवृत्ति	भोजराज(स्वामी विज्ञानाश्रमी जी)	मदन लाल लक्ष्मी निवास चण्डकर(कचहरी रोड, अजमेर)	1968
58.	योगवशिष्ठ वाल्मीकि रामायण		मोती लाल बनारसीदास दिल्ली	1983

59.	योग वशिष्ठ (हिन्दी)	नन्द लाल दशोरा	रणधीर प्रकाशन हरिद्वार	1994
60.	योगिनी हृदय दीपिका	अमृतानन्द	चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी	1963
61.	रघुवंश महाकाव्यम्	कालिदास	चौखम्बा संस्कृत सीरिज़	1983
62.	रूद्राष्टाध्यायी	निगम	विशाल प्रकाशन, मथुरा	1983
63.	लघु सिद्धान्त कौमुदी	मुनि वरदराज	श्री सरस्वती विद्यालय खन्ना (पंजाब)	2020
64.	लिंग पुराण	महर्षि व्यास (पं० राम शर्मा आचार्य)	राष्ट्रीय प्रेस, मथुरा	1969
65.	वाक्यपदीयम्	भर्तृहरि	चौखम्बा संस्कृति संस्थान, वाराणसी	1980
66.	वाचस्पत्यम्	श्री तारानाथ झा	चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थ माला, वाराणसी -1	1962
67.	वायुपुराण	महर्षि व्यास (पं० श्री राम शर्मा आचार्य)	राष्ट्रीय प्रेस, मथुरा	1969
68.	विज्ञानभैरव	आगम (सं०-व्रजवल्लभ द्विवेदी)	मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली	1978-84
69.	विज्ञान भैरव विवृत्ति	आचार्य क्षेमराज	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली श्रीनगर	1918
70.	विष्णुपुराण	महर्षि व्यास (पं० राम शर्मा)	राष्ट्री प्रेस, मथुरा	1969
71.	वैष्णव पंचाग	ज्योतिषाज बिहारी लाल वशिष्ठ	रघुनाथ पुरा, निकट रघुनाथ मन्दिर, जम्मू	2042
72.	शंखस्मृति	सं०-पं० श्रीराम शर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान, बरेली	1966
73.	श्वेताश्वतरोपनिषद्	निगम	गीता प्रेस, गोरखपुर	2051

74.	शिवपुराण	महर्षि व्यास	गीता प्रेस, गोरखपुर	2020
75.	शिवदृष्टि	सोमानन्द	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थमाला, श्रीनगर	1920
76.	शिवसूत्र	आगम (सं० जयदेवसिंह)	मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली	1979
77.	शिवस्तोत्रावली	उत्पलदेव	काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली,	1964
78.	शुक्ल यजुर्वेद	निगम (सातवलेकर)	वसन्त श्रीपाद सातवलेकर स्वाध्याय मण्डल, पारडी (जि० बलसाड़)	1985
79.	सर्वदर्शन संग्रह	माधवाचार्य	चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी	1984
80.	सन्ध्या का विवेचनात्मक समग्र अध्ययन		राज प्रकाशन, कठुआ (जम्मू)	1999
81.	स्तव चिन्तामणि	आचार्य क्षेमराज	काश्मीर संस्कृत ग्रंथमाला	1918
82.	सामवेद	निगम	आर्य प्रतिनिधि सभा, जालन्धर	1966
83.	हारीत स्मृति	सं०-श्रीराम शर्मा आचार्य	संस्कृति संस्थान, बरेली	1966
84.	हितोपदेश	विश्वनाथ शर्मा	मोती लाल बनारसी दास दिल्ली	1964
85.	होरारत्नम्	श्री मदबल भद्र	- वही -	1979

xxxxxx

xxxx

xxxx